आर्योदय

हिन्दी साप्ताहिक नई दिल्ली

•

सत्यार्थप्रकाश विशेषांक

•

मूल्य ३)

विषयानुक्रम

सत्यार्थ-प्रकाश !

डा० हरिशंकर शर्मा डी० लिट्०

प्राणों से भी बढ़कर प्यारा-
है 'सत्यार्थ-प्रकाश' हमारा।

मोह महातम हरने वाला;
ज्ञान-उजाला करने वाला,
भव्य भावना भरने वाला,
दिव्य ज्योति का स्रोत-सितारा-
है 'सत्यार्थ-प्रकाश' हमारा।१

वैदिक पाठ पढ़ाने वाला;
गत गुण-गौरव गाने वाला,
फिर से सत् युग लाने वाला;
दयानन्द ऋषि का चखतारा-
है 'सत्यार्थप्रकाश' हमारा।२

शुभ सन्मार्ग सुझाया इसने;
बुद्धिवाद उमगाया इसने,
'गुरुडम' का गढ़ ढाया इसने,
जग में निर्भय भाव प्रचारा-
है 'सत्यार्थ-प्रकाश' हमारा।३

सोता देश जगाया जिसने;
प्रेम-प्रवाह बहाया जिसने,
स्वावलम्ब सिखलाया जिसने,
जिसने सत्य धर्म-विस्तारा-
है 'सत्यार्थप्रकाश' हमारा।४

कोटि-कोटि जनता का जीवन;
अर्पित है इस पर समोद मन,
त्यागी, सुधी, साधुओं का धन,
'मानवता' का सबल सहारा-
है 'सत्यार्थ-प्रकाश' हमारा।५

यदि इस पर संकट आएँगे,
रक्षा-हित हम डट जाएंगे,
मर जाएँगे कट जाएंगे,
मिटा न आगे मिटने हारा-
है 'सत्यार्थ-प्रकाश' हमारा।६

वैदिक धर्म-ध्वजा फहराएँ,
बलि-वेदी पर सीस चढ़ाएँ,
मरते-मरते गाते जाएँ,
अजर-अमर अक्षय ध्रुव-धारा-
है 'सत्यार्थ-प्रकाश' हमारा।७

दीपमाला संवत् २०२०

*

१५ नवम्बर १९६३

*

*

*

संचालक

हरिप्रकाश

—सभामन्त्री

सह—

भारतेन्द्रनाथ

*

वार्षिक मूल्य ८)

*

एक प्रति का

२० नए पैसे

* * *

इस अंक का

६० नए पैसे

*

आर्य प्रतिनिधि सभा

पंजाब का मुख पत्र

* *

कार्यालय

१५ हनुमान रोड

नई दिल्ली

धन दीजिए !

ओ३म् अग्ने त्वन्नो ऽ अन्तम ऽ उत
त्राता शिवो भवा वरूथ्यः।
वसुरग्निर्वसुश्रवा ऽ अच्छा
नक्षि द्युमत्तम ७ रयिन्दाः ॥

यजु० ३-२५

हे सब की रक्षा करने वाले जगदीश्वर ! जो आप सब को सुनने के लिए श्रेष्ठ कानों को देने, सब प्राणी जिसमें वास करते हैं वा सब प्राणियों के बीच वसने हारे और विज्ञान प्रकाश युक्त सब जगह व्याप्त अथवा रहने वाले हैं, सो आप हम लोगों के अन्तर्यामी वा जीवन के हेतु रक्षा करने वाले श्रेष्ठ गुण कर्म और स्वभाव में होने तथा मंगलमय मंगल करने वाले हूजिए। और भी हम लोगों के लिए उत्तम प्रकाशों से युक्त विद्या चक्रवर्ती आदि धनों को अच्छी प्रकार दीजिए।

—महर्षि दयानन्द

सब के रक्षक जगदीश्वर हे !
सब की सुनने वाले !
प्राण-प्राण के वासी दाता
मंगल करने वाले !
ज्ञान प्रभा आलोक दीजिए,
धरती को सरसाएं !
विद्या धन प्रकाश से जगमग
अन्तर दीप जलाएं !!

सच्ची श्रद्धांजलि

दीपमाला का पर्व प्राचीन इतिहास की दृष्टि से तो अत्यन्त महत्व-पूर्ण था ही, किन्तु इसी दिन महर्षि दयानन्द का देहावसान होने से प्रत्येक वैदिक धर्मी के लिए यह और भी अधिक प्रेरणा का स्मृति-दिवस बन गया है।

महर्षि के कार्यों का मूल्यांकन लेखनी के बस की बात नहीं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने मानवता का मार्ग-दर्शन किया। वे सुधारक भी थे और राजनीतिज्ञ भी। नेता भी थे और वेद-भाष्यकार भी, दार्शनिक भी और वैयाकरण भी। उन्होंने मोक्ष का मार्ग भी दिखाया और गृहस्थ धर्म भी बताया।

वे किसी देश-वर्ग या जाति विशेष के नहीं अपितु समस्त मानव-जाति के उद्धारक थे। एक पंक्ति में कहना हो तो यूँ कहेंगे कि वे अपनी उपमा आप ही थे।

उनका जीवन, उनके ग्रन्थ, आज भी सभी को राह दिखा रहे हैं। वस्तुतः उनकी बताई राह इतनी तर्क-युक्ति और आदर्शों से पूर्ण है कि कोई भी यदि पक्षपात की दृष्टि छोड़कर विचारे तो उस पर चले बिना न रहे।

युद्ध-अशांति और घृणा से भरे वर्तमान युग को शांति-प्राप्ति के लिए महर्षि की बतायी राह अपनानी ही होगी। वह जितना शीघ्र अपनाए उतना ही कल्याण है, किन्तु यह इस बात पर निर्भर करता है कि महर्षि के अनुयायी उनके संदेश प्रसार के लिए कितना तप-त्याग और बलिदान कर सकते हैं।

आज ऋषि-बलिदान के ऐतिहासिक दिन सभी अपना अंतर टटोलें और सोचें कि हम क्या कर रहे हैं उनके लक्ष्य की पूर्ति के लिए।

ऋषि की लक्ष्य-पूर्ति का प्रण ही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि है।

—हरिप्रकाश

ज्ञान-दीप जलाएं !

अपनी बात

दीपमाला-दीप पंक्तियों का उल्लासमय पर्व, जब सारा देश राम के राज्याभिषेक की स्मृति में हर्ष मनाता है—हमारा राष्ट्रीय पर्व है। किन्तु इसके साथ ही प्रतिवर्ष यह स्मृति दिलाता है उस क्षण की, जब युग प्रवर्तक देव दयानन्द का देहावसान हुआ था।

कैसा था वह समय जब महर्षि ने भारत में कार्यारम्भ किया। अंधकार, अज्ञान, निराशा और परतन्त्रता की जंजीरों से जकड़ा देश-पाखण्डों की रीति-नीति से जर्जर देश कराह रहा था कि देवदूत दयानन्द ने अपनी गम्भीर वाणी के उद्घोष से सभी को जगाना आरम्भ किया। कितनी विचित्र स्थिति थी, स्मरण कर भी रोमांच आता है—तैंतीस करोड़ व्यक्ति—साधन सम्पन्न एक ओर और एक कोपीनधारी संन्यासी एक ओर।

सभी ने पूरी शक्ति से दयानन्द को कुचलना चाहा। साम, दाम, दण्ड, भेद से उसकी दिव्य वाणी को दबाना चाहा पर आज तक क्या कभी सत्य झुका है—हारा है या रुका है—वह अजेय था और इसी से कोई भी प्रभु के मार्ग पर चलते ऋषि को झुका नहीं सका।

ऋषि के गुण गान करने की सामर्थ्य हममें कहाँ, उनकी महत्ता, शक्ति, दीप्ति और तेजस्विता ने संसार को एक नया मोड़ दिया, एक नए युग का आरम्भ हुआ और मानवता को नए नेत्र मिले। संसार के इतिहास में महर्षि दयानन्द एक मात्र ऐसे सुधारक थे जिन्होंने मनुष्य-मनुष्य के मध्य बनी सभी दीवारों को समाप्त करना चाहा।

ऐसे युग पुरुष के देहावसान का दिन, उनके अन्तिम समय की स्मृति, सभी उनके अनुयायियों को उनका लक्ष्य पूरा करने की प्रेरणा करती है। हम आज भी एक चौराहे पर खड़े हैं। मृत्यु के मार्ग पर दौड़ी जा रही मानव जाति हमें चुनौती दे रही है।

जीवन का मार्ग हमें बता कर महर्षि विदा हुए। किन्तु क्या हम उनके उत्तराधिकारी उनका काम पूरा कर रहे हैं? आर्यजन! सोचो, क्या दीप

सच्ची श्रद्धांजलि

दीपमाला का पर्व प्राचीन इतिहास की दृष्टि से तो अत्यन्त महत्व-पूर्ण था ही, किन्तु इसी दिन महर्षि दयानन्द का देहावसान होने से प्रत्येक वैदिक धर्मी के लिए यह और भी अधिक प्रेरणा का स्मृति-दिवस बन गया है।

महर्षि के कार्यों का मूल्यांकन लेखनी के बस की बात नहीं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने मानवता का मार्ग-दर्शन किया। वे सुधारक भी थे और राजनीतिज्ञ भी। नेता भी थे और वेद-भाष्यकार भी, दार्शनिक भी और वैयाकरण भी। उन्होंने मोक्ष का मार्ग भी दिखाया और गृहस्थ धर्म भी बताया।

वे किसी देश-वर्ग या जाति विशेष के नहीं अपितु समस्त मानव-जाति के उद्धारक थे। एक पंक्ति में कहना हो तो यूँ कहेंगे कि वे अपनी उपमा आप ही थे।

उनका जीवन, उनके ग्रन्थ, आज भी सभी को राह दिखा रहे हैं। वस्तुतः उनकी बताई राह इतनी तर्क-युक्ति और आदर्शों से पूर्ण है कि कोई भी यदि पक्षपात की दृष्टि छोड़कर विचारे तो उस पर चले बिना न रहे।

युद्ध-अशांति और घृणा से भरे वर्तमान युग को शांति-प्राप्ति के लिए महर्षि की बतायी राह अपनानी ही होगी। वह जितना शीघ्र अपनाए उतना ही कल्याण है, किन्तु यह इस बात पर निर्भर करता है कि महर्षि के अनुयायी उनके संदेश प्रसार के लिए कितना तप-त्याग और बलिदान कर सकते हैं।

आज ऋषि-बलिदान के ऐतिहासिक दिन सभी अपना अंतर टटोलें और सोचें कि हम क्या कर रहे हैं उनके लक्ष्य की पूर्ति के लिए।

ऋषि की लक्ष्य-पूर्ति का प्रण ही उनके प्रति
सच्ची श्रद्धांजलि है।

—हरिप्रकाश

ज्ञान-दीप जलाएं !

दीपमाला-दीप पंक्तियों का उल्लासमय पर्व, जब सारा देश राम के राज्याभिषेक की स्मृति में हर्ष मनाता है—हमारा राष्ट्रीय पर्व है। किन्तु इसके साथ ही प्रतिवर्ष यह स्मृति दिलाता है उस क्षण की, जब युग प्रवर्त्तक देव दयानन्द का देहावसान हुआ था।

कैसा था वह समय जब महर्षि ने भारत में कार्यारम्भ किया। अंधकार, अज्ञान, निराशा और परतन्त्रता की जंजीरों से जकड़ा देश-पाखण्डों की रीति-नीति से जर्जर देश कराह रहा था कि देवदूत दयानन्द ने अपनी गम्भीर वाणी के उद्घोष से सभी को जगाना आरम्भ किया। कितनी विचित्र स्थिति थी, स्मरण कर भी रोमांच आता है—तैंतीस करोड़ व्यक्ति—साधन सम्पन्न एक ओर और एक कोपीनधारी सन्यासी एक ओर।

सभी ने पूरी शक्ति से दयानन्द को कुचलना चाहा। साम, दाम, दण्ड, भेद से उसकी दिव्य वाणी को दबाना चाहा पर आज तक क्या कभी सत्य झुका है—हारा है या रुका है—वह अजेय था और इसी से कोई भी प्रभु के मार्ग पर चलते ऋषि को झुका नहीं सका।

ऋषि के गुण गान करने की सामर्थ्य हममें कहाँ, उनकी महत्ता, शक्ति, दीप्ति और तेजस्विता ने संसार को एक नया मोड़ दिया, एक नए युग का आरम्भ हुआ और मानवता को नए नेत्र मिले। संसार के इतिहास में महर्षि दयानन्द एक मात्र ऐसे सुधारक थे जिन्होंने मनुष्य-मनुष्य के मध्य बनी सभी दीवारों को समाप्त करना चाहा।

ऐसे युग पुरुष के देहावसान का दिन, उनके अन्तिम समय की स्मृति, सभी उनके अनुयायियों को उनका लक्ष्य पूरा करने की प्रेरणा करती है। हम आज भी एक चौराहे पर खड़े हैं। मृत्यु के मार्ग पर दौड़ी जा रही मानव जाति हमें चुनौती दे रही है।

जीवन का मार्ग हमें बता कर महर्षि विदा हुए। किन्तु क्या हम उनके उत्तराधिकारी उनका काम अधूरा रहने देंगे? आर्यजन! सोचो, क्या दीप

पंक्तियों से जगमग यह अमा की रात "सत्य" प्रकाश के बिना ज्योतित हो पाएगी ? अन्तर के दीप बुझा कर कब किसने प्रकाश पाया है ?

आओ सभी दीपमाला मनाएँ, हृदय की शुद्धता के पश्चात्—स्नेह ज्ञान का पावन दीप जलाएँ ! धरती से पाप-ताप, कष्ट-क्लेश का तम-अज्ञान मिटाने का संकल्प लेकर महर्षि के मार्ग पर चलने का—सभी को चलाने का व्रत लें, तभी हम महर्षि की स्मृति में यह दिन मनाने के अधिकारी होंगे ।

यह सत्यार्थ प्रकाश अंक !

हमने सोचा कि ऋषि ने अपने लक्ष्य-प्रसार की भावना से लिखा है अपना अमर ग्रन्थ "सत्यार्थ प्रकाश" अत: उनकी स्मृति में इस बार इसी के कुछ भाव श्रद्धांजलि रूप में पाठकों की भेंट किए जाएँ । वस्तुत: 'सत्यार्थप्रकाश' संसार का एक मात्र ऐसा धार्मिक ग्रन्थ है जिसमें तर्क-युक्ति-प्रमाण और बुद्धि पूर्वक अपने मंतव्यों का प्रतिपादन किया गया है । अतः इस अनुपम ज्ञान भंडार की कुछ झलक पाठकों की सेवा में हम इस भावना से प्रस्तुत कर रहे हैं कि पाठक इसे पढ़ 'सत्यार्थ प्रकाश' के उसकी भावनाओं के प्रसार में यत्न-शील होंगे ।

क्षमा प्रार्थना ! धन्यवाद !

बहुत चाहने पर भी जिस ढंग से हम इसे प्रकाशित करना चाहते थे, न कर सके, फिर भी जैसा है आप के हाथ में है । आर्य जगत् के उच्च कोटि के विद्वानों के १३ लेख इस अंक की शोभा बढ़ा रहे हैं । सभी लेखों में विद्वान् लेखकों ने ऋषि के मंतव्य को सरल और प्रभावशाली प्रकार से प्रस्तुत किया है । इस के लिए मान्य विद्वानों के हम हृदय से आभारी हैं ।

अनेक आर्य समाजों व आर्य विद्वानों के आग्रह से 'सत्यार्थप्रकाश' का उत्त-रार्धअंतिम ४ समुल्लासों को इस अंक में नहीं दिया जा रहा । उनका पक्ष यह था कि अति संक्षेप में लेख का भाव स्पष्ट न हो सकेगा और खंडन पक्ष की आज अत्यधिक आवश्यकता है । अतः पिछले ४ समुल्लासों को तो बहुत विस्तार पूर्वक छापना चाहिए । इस आग्रह को स्वीकार इसलिए भी करना पड़ा कि १० समुल्लासों में ही घोषित पृष्ठ पूरे हो गये और विद्वानों के यत्न पूर्वक लिखे लेखों को छोटा करना हमने उचित नहीं समझा ।

अत: यह निश्चय किया गया है कि शिवरात्रि के अवसर पर हम इसी रूप-रेखा का एक अंक 'अवैदिक मत खण्डन" विशेषांक के नाम से और प्रकाशित करें, पाठक शिवरात्रि तक प्रतीक्षा करें ।

हम माननीय पं० मदनमोहन विद्यासागर, पं० अमरसिंह आर्य पथिक, श्री

पं० शिवपूजन जी बी. ए. व पं० हरिदेव सिद्धान्त भूषण, पं० ओम्प्रकाश शास्त्री से क्षमा प्रार्थी हैं, जिन्होंने अत्यन्त यत्न पूर्वक पिछले समुल्लासों पर लेख भेजे थे। यह सभी लेख "अवैदिक—मत—खंडन" अंक में प्रकाशित होंगे।

यह अंक ७ हजार छापा, जब कि आज तक हमें दस हजार के आदेश प्राप्त हो चुके हैं। देर से आने के कारण जिन के आदेश पूरे न हो सकें उनसे हम क्षमा चाहते हैं।

आर्य जनता ने जिस उत्साह से हमें सहयोग दिया है उसके लिए हम कृतज्ञ हैं, विश्वास है कि यह स्नेह सदा बना रहेगा।

अंक की त्रुटियों के लिए भी हम क्षमा चाहते हैं।

एक प्रार्थना

भारत की राजधानी से प्रकाशित आप का "आर्योदय" आपके हाथ में है। यदि वस्तुतः आर्य समाज के संदेश का प्रसार आप चाहते हैं तो आज ही ८) भेजकर इसके सदस्य बनिए। आपका यह सहयोग आर्य समाज की भारी कमी पूरी करेगा। समर्थ आर्य समाज अपने नगर में एजेंसी लेकर भी सहयोग दे सकते हैं।

—भारतेन्द्रनाथ

अगला अंक दीपमाला के अवकाश के कारण बन्द रहेगा।

अगला आर्योदय २४ नवम्बर को प्रकाशित होगा।

चार आना निधि!

पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा से संबंधित प्रत्येक आय समाज के सभासद से प्रार्थना है कि वे अपने परिवार के प्रत्येक व्यक्ति के हिसाब से चार आना।) प्रति व्यक्ति अपनी समाज के मंत्री के पास वेद प्रचार के लिए जमा कराएँ।

दीवाली के अवसर पर जहाँ हम और अनेक व्यय करते हैं वहाँ आप इस अल्प राशि को अवश्य निकाल महर्षि के लक्ष्य को आगे बढाने में हाथ बटाएं।

जगदेवसिंह सिद्धान्ती	हरिप्रकाश	मुनीश्वरदेव
प्रधान	मंत्री	अधिष्ठाता

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब

होश्यारपुर रोड जालन्धर

ध्वजा न झुकने देंगे !

प्राणों का अभिनव अभिनन्दन, सत्य ज्ञान का मधु संगीत,
ऋषि ने दिया धरा को जीवन, जीवन को मंगलमय प्रीत !
'प्राण' सजा कर ही पा सकता, मानव अपना लक्ष्य महान्,
जीव ब्रह्म से मिलने का ही, ठौर अरे यह विश्व ललाम ।।

बंधन काटे अन्धकार के, किया मोक्ष का मार्ग प्रशस्त,
शांति सुखों की वर्षा बरसे, रहें न प्रभु के प्राणी त्रस्त ।
नव युग का निर्माण लक्ष्य था, सारी धरती से था प्यार,
दयानन्द ही तो था ऐसा, जिसका था सारा संसार ।।

धरती का आंचल मैला था, मानवता अज्ञान ग्रस्त थी,
सत्य मार्ग सब भूल चुके थे, जीवन तंत्री रुद्ध अस्त थी ।
शस्य श्यामला देव भूमि यह, पाखंडों से भरी पड़ी थी,
स्नेह नहीं था, ऐक्य नहीं था, रुदन कष्ट की लगी झड़ी थी ।।

ऐसे में ही ऋषिवर ने था, सबको 'सत्यार्थप्रकाश' दिखाया,
वेद ज्ञान की ज्योति प्रबल से, जग का तम-अज्ञान हटाया ।
ज्ञान प्रभा आलोक प्राण से, जन-जन मन में दीप जलाये,
क्षुब्ध सुप्त अंतर मानव के, दीप्ति पुंज से पुनः जगाये ।।

जाग उठे हम, अब न कहीं पर पाखंडों को रहने देंगे,
प्राणों की हवि दे दे कर भी, ऋषि की ध्वजा न झुकने देंगे ।
बाधायें कितनी भी आयें, गति ज्ञान नहीं रुकने देंगे,
विजय वरण हित चरण बढ़े, तो अन्याय नहीं चलने देंगे ।।

—राकेश रानी

भूमिका के आधार पर

सत्यार्थ प्रकाश क्यों ?

श्री रघुवीरसिंह शास्त्री 'वेदवाचस्पति'

● ● ●

किसी ग्रन्थ की भूमिका में ही रचयिता के ग्रन्थ सम्बन्धी ध्येय, सिद्धान्त तथा अभिप्राय का दिग्दर्शन मिलता है। महान् ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश की इस छोटी-सी भूमिका में भी कर्ता तथा ग्रन्थ दोनों का आशय समाहित है।

भाषा

सबसे पहले महर्षि ने ग्रन्थ की भाषा की चर्चा की है। वह लिखते हैं—

"जिस समय मैंने यह ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' बनाया था, उस समय और उससे पूर्व संस्कृतभाषण करने, पठन-पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था, इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है। इसलिये इस ग्रन्थ को भाषाव्याकरणानुसार शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया है।"

इन वाक्यों से कई बातों पर प्रकाश पड़ता है। एक तो यह है कि भारत की तत्काल में प्रचलित भाषाओं में से महर्षि केवल गुजराती जानते थे, क्योंकि वह उनकी जन्भूमि की भाषा थी। परन्तु पीछे उनका गुजराती भाषी जनता से बहुत ही थोड़ा सम्पर्क रहा, अतः सम्भवतः कदाचित् ही गुजराती के प्रयोग का अवसर आया हो। वे न केवल पठन-पाठन ही, अपितु अन्य भी सब कार्य-व्यवहार तथा सम्भाषणादि संस्कृत में ही किया करते थे, जिसका अर्थ है कि संस्कृत भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार ,था और वही उनके व्यवहार की भाषा थी।

परन्तु उन्हें अनुभव हुआ कि अपने भाव तथा सन्देश जनता तक पहुँचाने के लिये यह आवश्यक है कि जनभाषा में ही उनका प्रतिपादन किया जाय। यथार्थ धर्म का रूप अनेकविध आडम्बरों, पाखण्डों, सम्प्रदाय परम्पराओं तथा अन्धविश्वासों के गाढ़े परतों के नीचे दबा हुआ था। जनभाषा में धर्मसम्बन्धी उत्कृष्ट साहित्य का सर्वथा अभाव था। संस्कृत भाषा भी तत्कालीन धर्मधुरन्धरों की संकीर्णता के कारण कुछ उन थोड़े से लोगों में बची हुई थी, जो स्वयं अर्वाचीन पंडितों के शब्दजाल एवं कल्पना प्रवाद से बाहर न झांक सकते थे। प्राचीन वैदिक साहित्य से इन नवीन संस्कृतज्ञों का सम्बन्ध सर्वथा विच्छिन्न हो चुका था, जब कि वैदिक दार्शनिक धर्म का निधि तो उस प्राचीन वैदिक साहित्य के गर्भ में ही विद्यमान था और अर्वाचीन संस्कृत साहित्य का प्रवाह उससे बिलकुल विपरीत दिशा में बह रहा था। इन शाब्दिक पंडितों का अहम्भाव बड़ी तत्परता से इसी दिशा में व्यापृत एवं सन्तुष्ट था। साथ ही उनका यह भी यत्न रहा कि संस्कृत भाषा से कम-से-कम लोगों का सम्पर्क बनने दिया जाय ताकि धर्म सम्बन्धी तत्त्वों से जनता अपरिचित एवं असम्पृक्त ही रहे। इस स्थिति का उन्हें यह लाभ प्रतीत हो रहा था कि धर्म के वे एकमात्र प्रवक्ता बने हुए थे, अज्ञानग्रस्त जनता धर्म के नाम पर प्रचलित परम्पराओं की वास्तविकता को न भाँप सकती थी।

महात्मा बुद्ध के विचार भी जनता में अधिक ग्राह्यता इसीलिये प्राप्त कर सके कि वे जनभाषा के माध्यम से प्रसारित किये गये थे। संस्कृत भाषा के परमोपासक तथा निष्णात होते हुये भी महर्षि दयानन्द ने व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया और जनभाषा में यह कृति लिखने का संकल्प किया।

अब उनके सामने यह प्रश्न था कि भारत की प्रचलित भाषाओं में जनभाषा या राष्ट्रभाषा किसे माना जाय? साहित्यिक भाषा के रूप में उन दिनों हिन्दी का मानो प्रभातकाल ही था, खड़ी बोली का तो तब तक भी लेखन-क्षेत्र में बहुत कम प्रवेश हो पाया था। परन्तु क्रान्तदर्शी महर्षि ने हिन्दी के भविष्य को भांपा और उसे ही अपने इस महान् ग्रंथ का माध्यम बनाया। उसी आधार पर प्रायः हिन्दी साहित्य के इतिहास में हिन्दी के प्रवर्तकों में उनका नाम अग्रणी रूप में अंकित रहता है। इस प्रकार हिन्दी को देश की

जनभाषा बनाकर उसे राष्ट्रभाषा के ऊँचे आसन पर बैठाने का महर्षि का स्पष्ट मनोरथ था जिसका सुफल आज प्रत्यक्ष हो रहा है।

विशेषता यह है कि इसी निमित्त महर्षि ने हिन्दी सीखी। जब उन्होंने पहले-पहल इस ग्रन्थ की रचना की तो उनका हिन्दी ज्ञान परिनिष्ठित न हो पाया था, अतः पहले संस्करण में अशुद्धियों का रह जाना स्वाभाविक था। मुद्रण के पश्चात् उनका ध्यान इन अशुद्धियों की ओर गया और उन्होंने पुनः हिन्दी का अपना ज्ञान सम्पुष्ट और परिष्कृत किया, तदनन्तर यह ग्रन्थ दो बारा मुद्रित कराया।

प्रामाणिक संस्करण

यह स्पष्ट है कि वह दूसरा संस्करण ही प्रामाणिक है जिसे ऋषि ने पुनः देख शोधकर मुद्रित कराया। पहला संस्करण प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। उन्होंने भूमिका में यही लिखा है कि छपने की भूलें भी निकाल शोधकर ठीक कर दी गई हैं। पहला संस्करण यों भी अधूरा ही था, क्योंकि उसमें अन्तिम दो समुल्लास तथा स्वसिद्धान्त किसी कारण न छप सके थे। दूसरे संस्करण में ये भी जोड़ दिये गये, अतः यही संस्करण पूर्ण भी है।

विषय-विभाजन

इस ग्रन्थ के विषय विभाजन की दृष्टि से १४ भाग किये गये हैं। इनका नाम समुल्लास रखा गया है। पहले दो भाग किये गये हैं–पूर्वार्ध और उत्तरार्ध। पूर्वार्ध मण्डन प्रधान है जिसमें वैदिक सिद्धान्तों का सच्चा एवं विश्कलित रूप बहुत ही तर्क पूर्ण किन्तु सरल शैली में प्रस्तुत किया गया है। उत्तरार्ध खण्डन प्रधान है जिसमें सभी वेद-विरुद्ध मत-मतान्तरों की तर्कप्रमाण पुरस्सर समीक्षा की गई है और उनके अयुक्त मन्तव्यों का निष्पक्ष खण्डन किया गया है। पूर्वार्ध में वैदिक दार्शनिक मन्तव्यों से परिचित व्यक्ति ही तदनन्तर इन अवैदिक मन्तव्यों की वास्तविकता समझने के लिये अपेक्षित योग्यता से सम्पन्न हो सकता है और तभी उसमें सत्यासत्य के निर्णय के विवेक की क्षमता पैदा हो सकती है। अपने अन्तर में झांककर ही मनुष्य दूसरे के अन्तर को देखने की प्रवृत्ति अपनाये तो ठीक मन्थन कर सकता है।

पूर्वार्ध के दश समुल्लास

पूर्वार्ध के दशों समुल्लासों का विषय विभाजन बहुत ही क्रमसंगत है और प्राय: सारे ही विषयों का उनमें यथावत् समावेश हो गया है।

पहले समुल्लास में परमेश्वर के ओंकारादि १०० नामों की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इससे जहाँ आरम्भ में ही ईश्वर के नामों का वर्णन होने से मंगलाचरण की भी पूर्ति होती है वहाँ साथ ही ईश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन हो जाने से ग्रन्थका राजमार्ग प्रशस्त हो जाता है। क्योंकि धर्मरूपी प्रासाद की आधारभित्ति ईश्वर ही है और ईश्वर सम्बन्धी भ्रामक धारणाओं एवं मन्तव्यों में ही सारी अन्धपरम्परा पलती है। अत: परम आस्तिक महर्षि ने सर्वप्रथम समुल्लास परमपिता परमात्मा के लिये ही अर्पण किया है।

द्वितीय समुल्लास में सन्तानों की शिक्षा; तृतीय में ब्रह्मचर्य, पठन-पाठन-व्यवस्था और सत्यासत्य ग्रन्थों के नाम; चतुर्थ में विवाह एवं गृहाश्रम का व्यवहार; पञ्चम में वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम की विधि।

इस प्रकार इन चारों समुल्लासों में शिक्षा-दीक्षा तथा वर्णाश्रम-व्यवस्था का ऐसा विवेचन किया गया है जो अन्यत्र दुर्लभ है। व्यक्ति तथा समाज दोनों ही दृष्टियों से ये समुल्लास पूर्ण एवं उपयोगी विवेचनाओं से भरे पड़े हैं।

षष्ठ में राजधर्म का वर्णन है जिसका प्रधान स्रोत मनुस्मृति है।

सप्तम, अष्टम तथा नवम ये तीन समुल्लास दर्शन प्रधान हैं। सप्तम में वेद-ईश्वर विषय, अष्टम में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय; नवम में विद्या, अविद्या, बन्ध और मोक्ष की व्याख्या है।

दशम में आचार, अनाचार और भक्ष्याभक्ष्य का विषय है।

उत्तरार्ध

उत्तरार्ध में चार समुल्लास हैं। इनमें भी पहले अर्थात् ग्यारहवें में सबसे पहले आर्यावर्तीय मतमतान्तरों का खण्डन-मण्डन किया गया है। महर्षि दयानन्द इस देश का प्राचीन एवं आदि नाम आर्यावर्त मानते हैं और उन्होंने जीवनभर जहाँ कहीं भी प्रसंग आया आर्यावर्त शब्द का ही प्रयोग बार-बार पत्रव्यवहारादि तक में भी किया है। खण्डन का विषय उपक्रान्त होने पर भी उन्होंने पहले आर्यावर्तीय मतों को ही लिया, क्योंकि इनका किसी न किसी रूप में आस्तिकता से सम्बन्ध था। ऋषि ने ग्रन्थ के उत्तरार्ध के आरम्भ में ग्यारहवें समुल्लास से

पहले लिखी अनुभूमिका में स्पष्ट लिखा है कि "चार मत अर्थात् जो वेद विरुद्ध पुराणी, जैनी, किरानी और कुरानी सब मतों के मूल हैं, वे क्रम से एक के पीछे दूसरा, तीसरा, चौथा चला है।"......इनमें से जो पुराणादि ग्रन्थों से शाखा शाखान्तर रूप मत आर्यावर्त देश में चले हैं उनका संक्षेप में गुण-दोष इस ग्यारहवें समुल्लास में दिखाया जाता है इस प्रकार ग्यारहवें समुल्लास में आस्तिक माने जाने वाले पुराणपन्थी मतों का विवेचन किया। फिर बारहवें समुल्लास में चार्वाक, जैन तथा बौद्ध आदि उन मतों का खण्डन किया जो नास्तिक हैं, ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं रखते। अन्तिम दो समुल्लासों में विदेशीय मतों की समीक्षा है। तेरहवें में ईसाई मत तथा चौदहवें में मुसलमानों के मत का विवेचन किया गया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि चौदह समुल्लासों में इस ग्रन्थ का विभाग बहुत क्रमबद्ध तथा संगत रीति से किया गया है।

सबसे अन्त में 'स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' नामक प्रकरण में आर्यों ने सनातन वेदविहित मत की विशेषत: व्याख्या लिखी है जिसके सम्बन्ध में ग्रन्थकर्ता ने घोषणा की है "जिसको मैं भी यथावत् मानता हूँ।"

म तथा प्रयोजन

इस ग्रन्थ का नाम ही इसके प्रयोजन का विज्ञापक है। सत्य-अर्थ का प्रकाश। इसी का ग्रन्थकर्ता के भूमिकास्थ निम्न शब्द कितना सुन्दर निर्देश करते हैं—"मेरा इस ग्रन्थ के बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य अर्थ का प्रकाश करना है। अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना, सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है।';

इससे आगे और भी प्रबल शब्दों में कहते हैं—"जो मनुष्य पक्षपाती होता है, वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत वाले के सत्य को असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है, इसलिये वह सत्य मत को प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिये विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दें, पश्चात् वे स्वयं अपना हिताहित समझकर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द में रहें।"

"मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है। तथापि अपने प्रयोजन

की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक
जाता है। परन्तु इस ग्रन्थ में ऐसी बात नहीं रखी है और न किसी का मन दुखाना वा किसी की हानि पर तात्पर्य है। किन्तु जिससे मनुष्य जाति की उन्नति और उपकार हो, सत्यासत्य को मनुष्य लोग जान कर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें, क्योंकि सत्योपदेश के बिना अन्य कोई भी मनुष्य जाति की उन्नति का कारण नहीं है।"

इन शब्दों में ऋषि की सत्यचिख्यासा कितनी उग्रता के साथ प्रकट हो रही है। वे सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग को ही आनन्द का स्रोत तथा मानव जाति की उन्नति का एकमात्र कारण मानते हैं। वे यह भी कहते हैं कि यद्यपि मनुष्य सत्यासत्य को जानता होता है, तथापि स्वार्थसिद्धि, हठ, दुराग्रह एवं अविद्यादि दोषों के कारण असत्य की ओर झुक जाता है।

वे यह भी लिखते हैं कि सत्यासत्य के विवेचन के समय उन्होंने ध्यान रखा और इस ग्रन्थ में कोई ऐसी बात नहीं रखी जिससे किसी का मन दुःखित हो या किसी की हानि हो।

सत्यान्वेषण तथा नम्रता का आदर्श

इससे आगे की पंक्तियां हैं—

"इस ग्रन्थ में जो कहीं-कहीं भूलचूक से अथवा शोधने तथा छापने में भूलचूक रह जाय उसको जानने जनाने पर जैसा वह सत्य होगा वैसा ही कर दिया जायगा।............................जो......मनुष्यमात्र का हितैषी होकर कुछ जनावेगा उसको सत्य-सत्य समझने पर उसका मत संगृहीत होगा।"

प्राय: अनेक शतियों से विश्व के क्षितिज पर उदित होने वाले व्यक्तियों की यह प्रवृत्ति बनी हुई थी कि वे स्वयं अथवा उनके अनुयायी उन्हें परमेश्वर का दूत अथवा प्रतिनिधि अवतार मानते थे। ऐसे धर्माचार्यों में भूल-चूक की आशंका करना भी बड़ा अनर्थ अथवा अवाञ्छनीय माना जाता था। परन्तु महर्षि दयानन्द को ऐसा अहम्भाव छू भी न पाया था। उन्होंने उपर्युक्त शब्दों में घोषणा की कि यदि कोई निष्पक्ष व्यक्ति उनकी भूल चूक को जनावेगा तो वे उसका स्वागत करेंगे।

महर्षि विद्वानों के विरोध पर बहुत खिन्न थे और इसी को मनुष्यजाति के अनेकविध दुःखों का कारण मानते थे।

जिन-जिन मतों का उन्होंने खण्डन किया है, उनमें भी जो सत्य बातें हैं, उनके स्वीकार करने पर बल दिया है। इस प्रकार वे चाहते हैं कि "सबसे सबका विचार होकर परस्पर प्रेमी होके एक-सत्यमतस्थ होवें।" ऋषि के इन शब्दों का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि इन मत-मतान्तरों के खण्डन के पीछे भी उनकी यही भावना है कि सत्य की प्रतिष्ठा बढ़े जिससे सब मनुष्यों का अविद्या-एवं नानाविचार जन्य पारस्परिक विरोध कम होकर सब एक ही सत्य मत में स्थिर हो जायें। मनुष्य जाति की एकता के लिए वे विचारों की एकता को आवश्यक मानते हैं और विचारों की एकता का एक मात्र आधार सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करने की प्रवृत्ति है।

देश-विदेश के आग्रह से ऊपर

ऋषि धर्म-प्रचार तथा सत्यासत्य के विवेचन में इतने निष्पक्ष थे कि इसके लिये उनका अपना या पराया देश जैसा कोई विचार तक न था। उनके ये शब्द कितने मार्मिक हैं—

"यद्यपि मैं आर्यावर्त देश में उत्पन्न हुआ और वसता हूँ तथापि जैसे इस देश के मत-मतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर यथातथ्य प्रकाश करता हूं वैसे ही दूसरे देशस्थ वा मतोन्नति वालों के साथ भी वर्तता हूँ। जैसा स्वदेश वालों के साथ मनुष्योन्नति के विषय में वर्तता हूँ, वैसा विदेशियों के साथ भी, तथा सब सज्जनों को वर्तना योग्य है।

क्योंकि मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता तो जैसे आजकल के स्वमत की स्तुति, खण्डन तथा प्रचार करते हैं और दूसरे मत की निन्दा, हानि और बन्द करने में तत्पर होते हैं, वैसे मैं भी होता। परन्तु ऐसी बातें मनुष्य-पन से बाहर हैं।"

स्पष्ट है कि महर्षि स्वमतसम्बन्धी पक्षपात की भावना को अमानुषिक मानते हैं। यहाँ उपर्युक्त पंक्तियों में महर्षि ने यह भी संकेत किया है कि उन्होंने अपना कोई नया मत या सम्प्रदाय प्रवृत्त नहीं किया। आडम्बर, पाखण्ड तथा

अन्ध विश्वास आदि का निराकरण करके सत्य सनातन वैदिक धर्म की ही पुन: प्रतिष्ठा की है। इसीलिए उनके ऊपर पक्षपात या दुराग्रह की सम्भावना का आरोप नहीं लग सकता।

उपसंहार

भूमिका के अन्त में महर्षि पुन: अपनी उसी स्थापना को दोहराते हुए कहते हैं—

"जैसा मैं पुराण, जैनियों के ग्रन्थ, बायबल और कुरान को प्रथम ही बुरी दृष्टि से न देखकर उनमें से गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग तथा अन्य मनुष्यजाति की उन्नति के लिये प्रयत्न करता हूँ, वैसा सबको करना योग्य है......

इसी प्रकार पक्षपात न करके सत्यार्थ का प्रकाश करना मेरा वा सब महाशयों का मुख्य कर्त्तव्य काम है।"

इस प्रकार भूमिका में महर्षि ने अपने मन्तव्य तथा प्रयोजनादि का स्पष्टीकरण करते हुए बार-बार इसी बात पर जोर दिया है कि यदि विद्वान् लोग पक्षपात तथा आग्रह छोड़कर सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग की भावना से काम करें तो संसार में मतमतान्तर सम्बन्धी सब विवाद समाप्त होकर मानव समाज को सुख एवं आनन्द का अनुभव हो सकता है।

ऋषि दयानन्द हिन्दुस्तान के आधुनिक ऋषियों में, सुधारकों में श्रेष्ठ पुरुषों में एक थे।

उनके जीवन का प्रभाव हिन्दुस्तान पर बहुत अधिक पड़ा है।

—महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गांधी

ईश्वर के अनेक नाम

अर्थ-विवेचन और व्याख्या

●

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास
के आधार पर

●

श्री प० हरिशरण जी 'सिद्धान्तालंकार'

●

● ● ●

महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में अखिल ब्रह्माण्ड के रचयिता परमात्मा के १०८ नामों का वर्णन किया है। ऋषि का मंतव्य है जो पदार्थ सत्य है उस के गुण कर्म स्वभाव भी सत्य होते हैं, इसलिए मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर की ही स्तुति, प्रार्थना और उपासना करें उससे भिन्न की कभी न करें।

जो सभी का उपास्य देव है उसके विभिन्न नाम किस प्रकार उसकी विभिन्न शक्तियों को प्रकट करते हैं, किस प्रकार उन नामों का व्याकरण के अनुसार परमात्मा-परक अर्थ होता है, इत्यादि इस समुल्लास का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

विद्वान् लेखक ने अपने विस्तृत अध्ययन के बल पर प्रभु के नामों की क्रमबद्ध व्याख्या प्रेरक रूप में प्रस्तुत की है। —*सम्पादक*

● ● ●

एक

अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश का प्रथम समुल्लास वस्तुतः ग्रन्थ का मंगलाचरण है। यही कारण है कि प्रत्येक समुल्लास के प्रारम्भ में जहाँ ऊपर शीर्षक में विषय का संकेत हुआ है, वहाँ प्रथम समुल्लास में इस प्रकार का कोई शीर्षक नहीं है। इसलिए सत्यार्थप्रकाश का प्रारम्भ द्वितीय समुल्लास से ही समझना चाहिए। प्रथम समुल्लास में तो आचार्य ने अपने ग्रन्थ को प्रारम्भ करने के लिये प्रभु का स्मरण किया है। वैदिक संस्कृति में प्रत्येक कार्य का प्रारम्भ प्रभु-स्मरण के साथ करने की परिपाटी है। आचार्य भी इस परिपाटी का पालन करते हुए प्रथम समुल्लास में प्रभु का स्मरण करते हैं। यही मंगलाचरण है, जिसके लिये पतञ्जलि प्रसंग वश लिखते हैं कि 'मंगलादीनि मंगलमध्यानि मंगलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते' अर्थात् जिन शास्त्रों का प्रारम्भ, मध्य व अन्त मंगल से होता है वे शास्त्र संसार में विस्तृत होते हैं।

ओ३म् God व अल्लाह

प्राचीन ऋषि मुनि 'ओ३म्' वा 'अथ' शब्द से अपने ग्रन्थों का प्रारम्भ किया करते थे। 'ओ३म्' के अनेक अर्थ होते हुए भी मुख्य प्रचलित अर्थ 'रक्षक' ही है। 'अव रक्षणे' धातु से इस शब्द को बनाया जाता है। 'गुड रक्षणे' भी धातु है, उससे यह God शब्द बन गया है। 'अलं' वारण=रोकने का वाचक है, 'ला' का अर्थ प्राप्त कराना है (आदान)। विघ्नों के निवारण की शक्ति का आदान किए हुए वे प्रभु 'अल्लाह' हैं। इस प्रकार मूल में ये सब शब्द समानार्थक हैं। 'ओ३म्' की मूल धातु 'अव' उन्नीस अर्थों वाली है। एवं ओ३म् का अर्थ अधिक व्यापक हो जाता है। माण्डूक्योपनिषद् में 'अ उ म्'

इस प्रकार तीन मात्राओं को भिन्न-भिन्न धातुओं से बना हुवा प्रतिपादित करके

'अ' से विराट्-अग्नि-व विश्व आदि नामों का, 'उ' से हिरण्यगर्भ वायु व तैजस आदि का तथा 'म' से ईश्वर आदित्य व प्राज्ञादि नामों का ग्रहण किया है। एवं 'ओ३म्' का अर्थ बड़ा व्यापक हो जाता है। सिद्धान्ततः, यह सारे वेदों का सारभूत है। सारे वेदों को एक शब्द में कहना हो तो यही कहेंगे कि 'ओ३म्'। इस बात का ध्यान करते हुए आचार्य ने 'ओ३म्' को प्रभु का सर्वोत्कृष्ट नाम माना है। इस नाम के अतिरिक्त निन्यानवें अन्य नामों का व्याख्यान करके आचार्य ने अपने मंगलाचरण को पूरा किया है। संयोगवश कुरान में भी 'अल्लाह' के अतिरिक्त प्रभु के निन्यानवें और नाम आये हैं और इस प्रकार वहाँ भी प्रभु के सौ ही नाम प्रसिद्ध हुए हैं। 'अथ' शब्द का अर्थ भी है 'प्रभु के रक्षण में' (अ=प्रभु, थ=Protection=रक्षण)।

अग्नि वायु इन्द्र

'ओ३म्' के अतिरिक्त प्रभु को 'अग्नि वायु इन्द्र' आदि नामों से आचार्य ने स्मरण किया है। यह ठीक है कि ये नाम आग-हवा व सूर्य आदि प्राकृतिक पदार्थों के भी हैं; साथ ही ये नाम प्रभु के भी हैं। जहाँ भी स्तुति, प्रार्थना, उपासना का प्रसंग हो और सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध सनातन आदि विशेषण दीखें; वहाँ इन नामों से प्रभु का ही ग्रहण करना चाहिये। परन्तु जहाँ उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय का प्रकरण हो और जड़ व दृश्य आदि विशेषण हों, वहाँ प्रभु का ग्रहण न करके इन नामों से लौकिक वस्तुओं का ग्रहण ही उचित है। एक 'ओ३म्' नाम ऐसा है जो किसी प्राकृतिक वस्तु का नहीं। यह केवल परमेश्वर का ही नाम है। सो यह परमेश्वर का निज नाम है। इसलिए भी यह नाम सर्वोत्कृष्ट है। उस प्रभु का निर्देश 'ओ३म् तत् सत्' इस प्रकार किया जाता है। इस प्रसिद्ध निर्देश में भी 'ओ३म्' को प्रथम स्थान दिया गया है। यह रक्षक प्रभु (ओ३म्) सर्वव्यापक है (तत्) और सदा निर्विकार रूपेण रहने वाले हैं (सत्)।

हरि ओ३म्

अग्नि आदि नामों की तरह 'हरि' नाम भी दुःखों के हरण करने वाले प्रभु का ही है तथा यह शब्द घोड़े आदि का भी प्रतिपादन करता है। यह नाम

प्रभु का वाचक अवश्य है परन्तु जब 'ओ३म्' नाम की सर्वश्रेष्ठता सर्वमान्य है तो ओ३म् नाम से पूर्व किसी और नाम को स्थान देना उतना ठीक नहीं है। 'ओ३म् तत् सत्' इस निर्देश की तरह 'ओ३म् हरि' यह निर्देश ही अधिक उपयुक्त है। मध्यकाल में जबकि अनेक सम्प्रदाय आविर्भूत हो गये, उस समय वैष्णव सम्प्रदाय में 'हरि' विष्णु का नाम होने से अधिक समादृत हो गया और 'हरि ओ३म्' बोलना उन्हें ठीक लगा। प्राचीन पद्धति का ध्यान करते हुए और साम्प्रदायिक आग्रह से ऊपर उठते हुए हमें 'ओ३म् हरि' इस रूप में ही प्रभु का स्मरण करना चाहिये।

समुद्र में बिन्दुवत्

इस प्रकार 'ओ३म्' के अतिरिक्त प्रभु के अनन्त नाम हैं। प्रभु के अनन्त गुण कर्म स्वभाव हैं। प्रत्येक गुण कर्म स्वभाव का एक-एक नाम है। यहाँ आचार्य ने सौ नामों का व्याख्यान किया है। ये सौ नाम तो नाम-सागर के कुछ बिन्दु मात्र ही हैं। यह समझ लेना कि सौ ही नाम हैं यह तो भ्रम ही होगा।

मित्र

प्रभु के नामों में 'मित्र' यह भी नाम है। इसी प्रकार 'दयालु और न्यायकारी' आदि नाम हैं। ये नाम जीवों के लिए भी प्रयुक्त होते हैं। परन्तु जीवों में यदि कोई किसी का मित्र है, तो किसी दूसरे का कुछ विरोधी भी होता है। इसके विपरीत प्रभु सबके मित्र ही हैं। वे सब पर दया करने वाले हैं। वे कभी अन्याय नहीं करते। जीव कहीं दया करता है, तो कहीं वह दया को नहीं भी करता। अल्पज्ञता के कारण जीव से कुछ अन्याय हो जाने की सदा आशंका है। प्रभु सर्वज्ञ हैं और सर्वशक्तिमान् हैं, सो वे कभी अन्याय व निर्दयता करने वाले नहीं होते। इस प्रकार 'मित्र दयालु व न्यायकारी' आदि नाम ठीक-ठीक तो प्रभु के ही हो सकते हैं। जीव तो अंशतः ही मित्र दयालु व न्यायकारी हो पाता है।

दयालु व न्यायकारी

लोक में 'दया' शब्द की भावना कुछ इस प्रकार से समझी जाती है कि अपराधी को दण्ड न देकर उसे क्षमा कर देना। परन्तु यदि यह भाव दया का

समझा जाय और प्रभु की दया का यही स्वरूप हो तो न्यायकारित्व तो नष्ट ही हो जाय। साथ ही अपराध क्षमा होने का सम्भव होने पर पाप करने में भय भी जाता रहेगा। इसलिये प्रभु की दया आचार्य के शब्दों में यही है कि प्रभु किसी का अहित नहीं चाहते और उन्नति पथ पर बढ़ने के लिए सब साधनों को समुचित रूपेण प्राप्त कराते हैं। इस दया के साथ न्यायकारित्व का किसी प्रकार से विरोध नहीं। प्रभु न्यायपूर्वक कर्मानुसार जीव को उस-उस स्थिति में प्राप्त कराते हैं। प्रभु का दिया हुआ दण्ड उस जीव के लिए इस प्रकार होता है जैसे कि रोगी को दी जाने वाली औषध। यह कड़वी होती है, पर रोग-निवारण के लिए आवश्यक होती है। इसी प्रकार प्रभु से दिया गया दण्ड पाप-प्रवृत्ति को दूर करने के लिए होता है। एवं प्रभु दयालु भी हैं, न्यायकारी भी।

सगुण व निर्गुण

जैसे 'दयालु व न्यायकारी' इन नामों में विरोध-सा प्रतीत होता था, इसी प्रकार सगुण व निर्गुण नाम भी परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं। गुणों से युक्त 'स-गुण' है और गुणों से रहित 'निर् गुण'। लोक में तो साकार को सगुण व निराकार को निर्गुण कहने की भी परिपाटी है। परन्तु सगुण का शब्दार्थ साकार करना तो ठीक है ही नहीं। प्रभु स-गुण इसलिये हैं कि वे ज्ञान, शक्ति दया व न्याय आदि गुणों के सदा साथ होते हैं और जड़ता आदि से रहित होने से वे निर्गुण हैं। प्रकृति के सत्त्व रज व तम इन गुणों से ऊपर उठे होने के कारण वे प्रभु निर्गुण हैं। इन गुणों का रक्षण करते हुए भी वे इनसे लिप्त नहीं हैं। 'निर्गुण, गुणभोक्तृच'।

ब्रह्मा-विष्णु-महेश

ये निर्गुण होते हुए भी गुणों के भोक्ता (पालक) प्रभु अत्यन्त सूक्ष्म होने से (अणोरणीयान्) प्रकृति को ग्रहण करके उस प्रकृति से इस विकृति रूप संसार का निर्माण करते हैं। इस संसार का वर्धन करने के कारण वे प्रभु 'ब्रह्मा' हैं—(बृहि वृद्धौ)। उनके ज्ञान में किसी प्रकार की कमी नहीं। इसी से उनके बनाये हुए इस संसार में भी किसी प्रकार की कमी नहीं (पूर्णमदः, पूर्णमिवम्) प्रकृति से इस संसार के निर्माण में वे किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं करते। सर्वशक्तिमान् होते हुए स्वयं ही इसकी रचना करने में

वे समर्थ हैं। इस प्रकार वे प्रभु ज्ञान व शक्ति के पुञ्ज हैं। सर्वज्ञ हैं—सर्व-

शक्तिमान् हैं, ज्ञान के पति हैं। सरस्वती मानो उनकी पत्नी ही हो—पत्नी ही क्या, वे तो स्वयं 'सरस्वती' हैं। इसी प्रकार वे शक्ति के पुञ्ज हैं—'शक्ति' ही हैं।

इस संसार का निर्माण करके, सबके अन्दर व्याप्त होकर, इन सब पिण्डों का वे धारण कर रहे हैं। इस व्याप्ति के कारण ही वे 'विष्णु' हैं (विष् व्याप्तौ)। जीवों को भी जीवन धारण के लिए आवश्यक धनों का वे प्रदान करने वाले हैं। सब धनों के स्वामी वे ही हैं—लक्ष्मीपति हैं—'लक्ष्मी' ही हैं। अन्य व्यक्ति तो कुछ समय के लिए कुछ स्थान के स्वामी होते हैं। पर ये प्रभु सदा के लिए सब के स्वामी हैं। इसी से 'महेश' कहलाते हैं—प्रभु ही 'ईश' या ईश्वर हैं—'परमेश्वर' हैं 'विश्वेश्वर' हैं। प्रभु के रचे हुए अग्नि आदि पदार्थ 'देव' हैं तो प्रभु महादेव हैं। इन सब अग्नि आदि को देवत्व के वे ही प्रदान करने वाले हैं (तेन देवा देवतामग्र आयन्)। इस सृष्टि के निर्माता प्रभु ही, दिन की समाप्ति पर जैसे रात्रि आती है, उसी प्रकार; सृष्टि के समय की समाप्ति पर प्रलय करते हैं। सारे संसार की समाप्ति करने के कारण वे 'काल' कहलाते हैं। स्वयं तो वे 'अकाल पुरुष' हैं। इस प्रलय के कारण ही वे उग्र रूप वाले प्रभु 'रुद्र' कहलाते हैं। इस रुद्र की शक्ति को ही 'रुद्राणी' कहा जाता है। यही शक्ति 'भवानी' व 'पार्वती' भी कहलाती है। सारे संसार को अपने में समा लेने से—रख लेने से यह भवानी है, सबका अपने में पूरण कर लेने से पार्वती है (पूर्व पूरणे)। इस पार्वती के पति वे 'महादेव' ही हैं। इस प्रलय के समय सारा संसार उस प्रभु में ही शयन करता है। 'शेते यस्मिन्' इस व्युत्पत्ति से वे प्रभु इस समय 'शिव' कहलात हैं। प्रभु प्रलय भी जीवों के हित के लिए ही करते हैं। जितना महत्त्व रात्रि का है, वही महत्त्व बड़े परिमाण में प्रलय का है। जीवन के लिए रात्रि भी अत्यन्त आवश्यक है, इसी प्रकार प्रलय भी। जीव अपने जीवन का प्रलयानन्तर फिर नये सिरे से निर्माण करने में समर्थ होता है। इस प्रकार प्रलय करने वाले ये प्रभु वस्तुतः 'शिव' हैं—कल्याण करने वाले हैं। शान्ति को प्राप्त कराने वाले ये प्रभु सचमुच 'शंकर' हैं।

बन्धु-पिता-गुरु

अब प्रलय की समाप्ति पर सृष्टि के प्रारम्भ में सबको कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियों में बाँधने वाले ये प्रभु 'बन्धु' हैं। सबको जन्म देने वाले ये प्रभु 'माता' व 'पिता' हैं। पिताओं के भी पिता होने से 'पितामह' व 'प्रपितामह' कहलाते हैं। प्रभु ही ज्ञान देने वाले 'गुरु' हैं। सब विद्याओं के ज्ञाता 'वृद्ध' हैं, और सब विद्याओं का ग्रहण कराने वाले 'आचार्य' हैं। स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'। इस जीवन में हमारे धारण के लिए सब वस्तुओं का निर्माण करने वाले ये 'विधाता' हैं। वेद के द्वारा सब विद्याओं का उपदेश देने वाले 'कवि' हैं। इस महान् कवि का अजरामर महान् काव्य वेद ही तो है 'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'।

अनादि-अनन्त

इस प्रकार ये प्रभु इस सृष्टि-प्रलय के क्रम को चलाते हैं। अनादि काल से यह चक्र चल रहा है, अनन्त काल तक यह चलता चलेगा। इसको चलाने वाले प्रभु भी स्थान व समय दोनों के दृष्टिकोण से 'अनादि' और 'अनन्त' हैं। 'प्रभु को कोई और बनाने वाला हो' ऐसी बात नहीं। वे तो सदा से स्वयं हैं—'स्वयम्भू' हैं—(खुद-आ) खुदा हैं 'नित्य' हैं। सर्वव्यापक होने के नाते वे कभी शरीर में नहीं आते—'अ-ज' हैं सदा 'मुक्त' हैं 'निराकार' हैं। निराकार होने से उन में किसी भी प्राकृतिक वस्तु के लेप का सम्भव नहीं, सो ये 'निरञ्जन' हैं, 'शुद्ध' हैं। अपनी व्याप्ति से सारे स्थान में पूर्ण होने से 'पुरुष' भी कहलाते हैं। सर्वत्र व्याप्त होकर सबका भरण करने वाले ये प्रभु 'विश्वम्भर' हैं। सबके अन्दर प्रविष्ट होकर रहने से ये 'विश्व' हैं। हमारे हृदयों में प्रविष्ट होकर सब कुछ जानते हैं, अन्तः स्थित होते हुए 'अन्तर्यामी' हैं। सबका नियमन करने वाले ये 'यम' हैं।

धर्मराज

पूर्ण धर्म से शोभायमान होते हुए 'धर्मराज' कहलाते हैं। सब युग से (ऐश्वर्य-धर्म-यश-श्री-ज्ञान और वैराग्य) युक्त वे 'भगवान्' हैं। इसीलिए आश्रय करने योग्य होने से 'श्री' हैं, दर्शनीय होने से 'लक्ष्मी' हैं (लक्ष दर्शने)। सब मनुष्यों की अन्तिम शरण ये 'नारायण' ही हैं। सबसे उपासना क योग्य

होने से ये 'यज्ञ' हैं। सबको अपनी व्याप्ति से आच्छादित किये हुए ये 'कुवेर' हैं (कुवति स्वव्याप्त्या आच्छादयति)। सम्पूर्ण जगत् का विस्तार करने वाले 'पृथिवी' हैं। सबके आधार होने से 'भूमि' हैं (भवन्ति भूतानि यस्याम्)।

राहु-केतु

पूर्ण ज्ञान वाले ये प्रभु 'मनु' हैं। इस संसार में ये उपासकों के हृदयों को (केतयति) प्रकाशमय करने से 'केतु' हैं। इस प्रकाश को देकर ये अशुभों से हमें पृथक् करते हैं। अशुभों से छुड़ाने के कारण ही 'राहु' हैं (राहयति त्याजयति)। इस प्रकार हमारे निवासों को उत्तम बनाने वाले प्रभु 'वसु' हैं। हमारे लिए सब आवश्यक वस्तुओं के देने वाले 'होता' हैं (हु दाने)। सदा निर्विकार रूप से स्थित होने वाले ये प्रभु 'कूटस्थ' हैं, 'सत्' हैं। 'चित्' होते हुए हमें चेताने वाले हैं। और इस प्रकार अशुभों से बचा कर हमारे जीवनों को आनन्दित करते हैं, स्वयं तो 'आनन्द' हैं ही।

पंचभूत

सृष्टि के निर्माता प्रभु 'पृथिवी-जल-अग्नि-वायु व आकाश' इन पंचभूतों से इस संसार का निर्माण करते हैं। यह संसार पञ्चभूतात्मक है। हमारा शरीर भी पाँचभौतिक है। इस शरीर में भी 'पञ्चप्राण' 'पंच कर्मेन्द्रियाँ' 'पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ' व 'अन्तःकरणपञ्चक' (हृदय-मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार) सब पांच ही पाँच हैं। सारा संसार ही 'प्र-पञ्च' कहलाता है। इस प्रपञ्च के अधिपति प्रभु इन गणों के ईश होने से 'गणेश व गणपति' हैं। व स्वयं भी 'पृथिवी' हैं, चूँकि वे सम्पूर्ण जगत् का विस्तार करते हैं। इस पृथिवी से उत्पन्न होने वाला अन्न प्राणियों का प्राणाधार बनता है। अन्तिम आधार तो वे प्रभु ही हैं—प्रभु के आधार से प्राणी अन्न को खाता है, सो प्रभु का भी 'अन्न' नाम हो गया है। ये प्रभु 'ज' जन्म से 'ल' लय (मृत्यु) तक प्राणी का आधार होने से 'जल' हैं। हमारी अग्रगति का कारण होने से वे प्रभु 'अग्नि' हैं (अग्रणी)। गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करने के कारण 'वायु' हैं (वा गतिगन्धनयोः)। समन्तात् प्रकाशमय व दीप्त होने के कारण वे 'आ-काश' हैं। निरन्तर गति के कारण ही प्रभु 'आत्मा' हैं (अत सातत्यगमने) और ज्ञान से दीप्त होने के कारण 'सूर्य' हैं। ज्ञानमय होने से ही प्रभु 'मनु' हैं। इस प्रकाशमयता को

स्पष्ट करने के लिए ही 'देवी' शब्द का भी प्रभु के लिए प्रयोग होता है (दिव्-द्युतौ)।

सप्ताह

हमारे जीवन जिन वारों में चलते हैं उनमें अन्तिम वार 'रविवार' कहलाता है। 'रवि' सूर्य का पर्याय है। इससे स्पष्ट है कि हमारे जीवन का लक्ष्य भी यही होना चाहिए कि हम सूर्य की तरह ज्ञानज्योति से चमकें। इसके लिए हम 'सौम्य' बनें, यही सोमवार का पाठ है। उद्धतता हमें ज्ञान से दूर ले जाती है। इस सौम्यता ही में 'मंगल' है। यही हमें बुध-ज्ञानी बनायेगी। ज्ञानियों का ज्ञानी बृहस्पति भी हमें यही बनायेगी। इस ज्ञान से हमारे जीवन पवित्र बनेंगे हम शुक्र (शुचि=पवित्र) होंगे। ऐसा होने पर हम जीवनों में शान्तिपूर्वक (शनैः) बिना किसी व्याकुलता के चलने वाले 'शनैश्चर' होंगे। ये सप्ताह के नाम प्रभु का भी स्मरण कराते हैं। प्रभु 'सोम' हैं—चन्द्र हैं (सोम चन्द्र 'Monday—moon day' चन्द्रवार) 'चदि आह्लादे'—आनन्दमय हैं उपासकों को आनन्दित करते हैं। 'मंगल' हैं 'मगि गतौ'—अपनी सब गतियों से—क्रियाओं से सब का कल्याण करने वाले हैं। 'बुध' ज्ञानी हैं। बृहस्पति हैं–बृहतां पतिः इन महान् आकाशादि लोकों के स्वामी हैं। शुक्र हैं—स्वयं पूर्ण पवित्र होते हुए उपासकों के जीवन को पवित्र करने वाले हैं। शनैश्चर हैं—शान्तभाव से निरन्तर क्रिया को कर रहे हैं। रवि हैं (रु, To break अन्धकार को छिन्न-भिन्न करने वाले हैं।

शान्ति के दाता प्रभु

ये प्रभु 'मित्र' हैं हमें रोगों से बचाने वाले हैं। 'वरुण' हैं (पापान्निवारयति) हृदयस्थ रूपेण प्रेरणा के द्वारा पाप का निवारण करने वाले हैं। 'अर्यमा' हैं— अर्थात् मिमीते' जितेन्द्रियों को मान प्राप्त कराने वाले हैं। 'इन्द्र' हैं (इदि परमैश्वर्ये) परमैश्वर्यशाली हैं अथवा हमारे शत्रुओं का विद्रावण करने वाले हैं। 'बृहस्पतिः' हैं=विशालता के स्वामी हैं, प्रभु में संकोच व अल्पता नहीं है। 'विष्णुः' व्यापक हैं। उरुक्रमः=उरुक्रम हैं—विशाल पराक्रम वाले व महती व्यवस्था वाले। ये प्रभु हमें भी 'मित्रता—निष्पापता--जितेन्द्रियता—कामादि शत्रुओं का विद्रावण—विशालता—व्यापकता व व्यवस्था' का पाठ पढ़ाते हुए शान्ति प्राप्त कराने वाले होते हैं। शान्ति-प्राप्ति के वस्तुतः यही साधन हैं।

अ ३ म्

प्रभु के निज नाम ओ३म् की अ ३ म् इन मात्राओं से विराट् अग्नि विश्व, हिरण्यगर्भ तैजस वायु व ईश्वर आदित्य और प्राज्ञ इन नामों की सूचना मिलती है। सब अक्षरों में 'अ' का विशिष्ट स्थान है। व्यञ्जनों की अपेक्षा स्वर महत्त्वपूर्ण हैं। स्वर 'स्वयं रमन्ते' स्वयं प्रकाशमान हैं। व्यञ्जन तो स्वरों की सहायता से प्रकट होते हैं (व्यज्यन्ते) स्वरों में अ विशेष रूप से चमकता है, 'विराट्' है। प्रभु विराट् हैं प्रकृति व जीव की अपेक्षया विशिष्ट दीप्तिवाले हैं। 'अ' सब व्यञ्जनों में प्रविष्ट है प्रभु भी प्रत्येक पिण्ड में प्रविष्ट हैं 'विश्व' हैं। 'अ' का अक्षरों में प्रथम स्थान है—'अग्नि' है—'अग्रणी'। प्रभु भी 'अग्नि' है। 'उ' रक्षणे उ धातु रक्षण अर्थ वाली है। वायु जीवन का रक्षक है—सो 'उ' है। सर्व महान् रक्षक प्रभु हैं, वे भी 'उ' अर्थात् 'वायु' हैं। 'उ' उकर्ष का वाचक है—सब ज्योतिर्मय पिण्डों को अपने गर्भ में लिए हुए प्रभु सर्वोत्कृष्ट हैं। ज्योतिर्मय पिण्डों को 'हिरण्य' कहते हैं, सो प्रभु हिरण्यगर्भ होते हुए सर्वोत्कृष्ट होने से 'उ' हैं। इस सर्वोत्कर्ष के कारण ही वे 'तैजस' है, वहाँ किसी प्रकार की मलिनता नहीं। सब मलिनतायें वहाँ दग्ध हो जाती हैं। 'म' मात्रा 'मितेः' मापने की सूचना दे रही है। सब पदार्थों के—मापने वाले-जानने वाले—प्रभु 'प्राज्ञ' हैं। मापने का भाव 'बनाना' भी है। इन सब पदार्थों का 'निर्माण' करने वाले प्रभु इन पदार्थों के 'ईश्वर' हैं—मालिक हैं। अन्त में इन्हें अपने अन्दर ले लेने से 'मिनोति ह वा इदं सर्वम्' प्रभु आदित्य हैं। सब का अपने अन्दर आदान कर लेने वाले हैं। इस प्रकार 'अ ३ म्' ये मात्रायें प्रभु के विभिन्न नामों का संकेत करती हैं।

उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय

ये प्रभु स्वयं 'अक्षर' हैं—कभी नष्ट नहीं होते। इस प्रकृति के कण-कण में व्याप्त होने से ये 'आप्त' कहलाते हैं (आप् व्याप्तौ)। उन प्रकृति कणों से ये सृष्टि का निर्माण करते हैं। इस निर्माण के कार्य में इन्हें किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं होती—ये स्वयं देदीप्यमान 'स्व-राट्' है। सृष्टि का निर्माण करके उसका ये उत्तमता से पालन करते हैं 'सुपर्ण' हैं। किसी का भी अमंगल

न करने के कारण ये 'प्रिय' हैं। इस संसार क महान् भार को उठाकर गतिमय होने के कारण 'गरुत्मान्' हैं। आचार्य के शब्दों में 'महान्' (गुरु) स्वरूप वाले हैं। इस अनन्त से ब्रह्माण्ड को अपने अन्दर लिए हुए वे सचमुच कितने महान् हैं। सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में गति करते हुए वे 'मातरिश्वा' हैं। अन्त में वे इस सृष्टि को प्रलय निद्रा में सुलाने वाले 'कालाग्नि' हैं। सबको अपने अन्दर लेकर समाप्त सा करके—स्वयं चे रह जाने से 'शेष' हैं। 'शेष' का पर्याय वेद में 'उच्छिष्ट' भी है। 'ऊर्ध्वं शिष्यते' प्रलय हो जाने पर भी बचे रहते हैं। सब कोई सो गया, तो भी प्रभु जागते हैं 'आनीद् अवातं स्वधया तदेकम्'।

●

इस समुल्लास के सम्बन्ध में श्री पं० विद्यासागर जी शास्त्री वेदालंकार एम० ए० ने हाल ही में 'अष्टोत्तर शतनाम मालिका' नाम से अत्यन्त उपयोगी पुस्तक वर्षों के अनुसन्धान के पश्चात् लिखी है। जो सज्जन इस विषय में रुचि रखते हों वे इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें। पुस्तक का मूल्य ५ रु० और प्राप्ति स्थान है—भारतीय प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान १४/३१२ रामगंज, अजमेर, और ४६४४ रैहगरपुरा गली ५०, करौल बाग नई दिल्ली।

—सम्पादक

सर्व सत्य का प्रचार कर, सबको ऐक्य मत में करा, द्वेष छुड़ा परस्पर में दृढ़ प्रीति युक्त करा के सब से सबको सुख लाभ पहुँचाने का मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है। —*महर्षि दयानन्द*

महर्षि दयानन्द के
शिक्षा सम्बन्धी मौलिक विचार

●

सत्यार्थप्रकाश के
द्वितीय समुल्लास के आधार पर

●

आचार्य श्री पं० प्रियव्रत वेदवाचस्पति

● ● ●

युग प्रवर्तक दयानन्द मानव जाति के मूल स्रोत 'बालक' के निर्माण को भविष्य की आधार-शिला समझते थे। बालक के जन्म से पूर्व माता पिता के संस्कारों की शुद्धि से लेकर जन्मोपरान्त ज्ञान की प्राप्ति और अंध विश्वास तथा अज्ञान के निवारण का महत्व बताते हुए उन्होंने माता पिता तथा गुरु के दायित्वों पर प्रकाश डाला है।

शिक्षा का उद्देश्य और कुशिक्षा-निवारण द्वितीय समुल्लास का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

सत्य, सुशीलता, संयम, उत्साह आदि गुणों का धारण और अज्ञान का विरोध महर्षि शिक्षा का आवश्यक अंग मानते थे।

शिक्षा-क्षेत्र में प्रसिद्ध गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी के प्रसिद्ध विद्वान लेखक ने ऋषि भावनाओं का स्पष्ट निर्देश कर सभा का मार्ग दर्शन किया है।

—सम्पादक

● ● ●

दो

महर्षि दयानन्द के शिक्षा विषयक मौलिक विचार सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय समुल्लास में संकलित हैं। समुल्लास के विषय का निर्देश करते हुए स्वामी जी लिखते हैं—'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामः।' अर्थात् इस समुल्लास में शिक्षा-सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन होगा। स्वामी जी ने इस विषय में अपनी विचार-सम्बन्धी स्पष्टता का प्रशंसनीय परिचय दिया है। उनके विचार उलझे हुए नहीं हैं, सभी मन्तव्य स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किये गए हैं। प्रत्येक मन्तव्य अपने आप में पूर्ण है। स्वामी जी ने इस समुल्लास में शिक्षा के मूलभूत सिद्धान्तों पर ही अपना मत प्रकट किया है। पाठ्यक्रम सम्बन्धी विस्तृत सूचनायें उपस्थित करना उन्हें (द्वितीय समुल्लास में) अभीष्ट नहीं।

स्वामी जी के विचार से ज्ञानवान् बनने के लिए निम्नलिखित तीन उत्तम शिक्षक अपेक्षित होते हैं—माता, पिता और आचार्य। शतपथ ब्राह्मण का निम्नलिखित वचन उनके उक्त विचार का आधार है। 'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद ।।'

अर्थात् वही पुरुष ज्ञानी बनता है जिसे शिक्षक के रूप में प्रशस्त माता, प्रशस्त पिता तथा प्रशस्त आचार्य प्राप्त हों। बालकों की शिक्षा में तीनों में से किस-किस को कितने समय तक अपना कर्त्तव्य निभाना है, इस विषय में स्वामी जी ने स्पष्ट निर्देश दे दिया है—"जन्म से ५वें वर्ष तक बालकों को माता, ६ठे से ८वें वर्ष तक पिता शिक्षा करे और ९वें वर्ष के आरम्भ में द्विज अपने सन्तानों का उपनयन करके विद्याभ्यास के लिए गुरुकुल में भेज दें।"

स्वामी जी ने बालक की शिक्षा में माता का भाग और दायित्व सबसे अधिक बताया है और यह उचित भी है। क्योंकि माता ही बालक को अपने गर्भ में धारण करती है; अतः गर्भकाल में माता के आचार-विचार का बालक पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अभिमन्यु द्वारा गर्भ निवासकाल में माता के सुने चक्र-व्यूह-भेदन का रहस्य सीख जाना महाभारत की प्रसिद्ध कथा है। जन्म-प्राप्त करने के बाद भी काफी समय तक बालक माता के सम्पर्क में ही सबसे अधिक रहता है। स्वामी जी ने इस समय की सीमा ५ वर्ष निर्धारित की है। यह काल बालक के जीवन रूपी वृक्ष का अंकुर काल है। इसमें जो गुण उसके अन्दर पड़ जायेंगे वे बहुत गहरे होंगे। इसलिये माता का श्रेष्ठ होना अत्यन्त आवश्यक है। स्वामी जी लिखते हैं, "वह कुल धन्य। वह सन्तान बड़ा भाग्यवान्। जिसके माता और पिता धार्मिक विद्वान् हों। जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुँचता है उतना किसी से नहीं। जैसे माता सन्तानों पर प्रेम (और) उनका हित करना चाहती है उतना अन्य कोई नहीं करता; इसलिए (मातृमान्) अर्थात् "प्रशस्ता धार्मिकी माता विद्यते यस्य स मातृमान्।" धन्य वह माता है कि जो गर्भाधान से लेकर जब तक विद्या पूरी न हो तब तक सुशीलता का उपदेश करे।"

अनेक महापुरुषों ने अपनी जीवनियों में माता ऋण स्वीकार किया है और अपने समस्त गुणों को माता से प्राप्त हुआ बताया है।

स्वामी जी की विशेषता यह है कि इन्होंने गर्भाधान क पूव मध्य और पश्चात्—तीनों समयों में माता पिता की आचार-विचार सम्बन्धी शुद्धता का विधान किया है। वे लिखते हैं—"कि माता और पिता को अति उचित है कि गर्भाधान के पूर्व, मध्य और पश्चात् मादक द्रव्य, मद्य दुर्गन्ध, रुक्ष, बुद्धिनाशक पदार्थों को छोड़ के जो शान्ति, आरोग्य, बल, बुद्धि, पराक्रम और सुशीलता से सभ्यता को प्राप्त करे वैसे घृत, दुग्ध, मिष्ट, अन्नपान आदि श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन करे कि जिससे रजस् वीर्य भी दोषों से रहित होकर अत्युत्तम गुण युक्त हों।" इस प्रकार शुद्ध वीर्य तथा रजस् के संयोग से उत्पन्न सन्तान भी श्रेष्ठ गुणों वाली होगी। माता और पिता का यह शुद्ध आचार-विचार प्रकारान्तर से गर्भस्थ शिशु की शिक्षा ही है। स्वामी जी आगे लिखते हैं—"बुद्धि, बल, रूप,

आरोग्य, पराक्रम, शान्ति आदि गुणकारक द्रव्यों ही का सेवन स्त्री करती

रहे जब तक सन्तान का जन्म हो।" ऐसा करने से सन्तान भी बुद्धि, बल, रूप, आरोग्य, पराक्रम आदि गुणों को धारण करेगी। यही उसके शिक्षित होने का दूसरा रूप है जिसका दायित्व शुद्ध रूप से माता पर है क्योंकि सन्तान गर्भस्थ दशा में उसी के रक्त-मांस से पुष्ट होती है।

इसके बाद स्वामी जी ने जन्म प्राप्त सन्तान को शिक्षित करने में माता के कर्त्तव्यों का विस्तार से वर्णन किया है। माता के द्वारा दी जाने वाली शिक्षा दो प्रकार की हो। (१) आचार-सम्बन्धी (२) प्रारम्भिक अध्ययन-सम्बन्धी। आचार-सम्बन्धी शिक्षा में माता सन्तान को उससे बड़ों के प्रति किये जाने वाले व्यवहार का उपदेश दे। बड़े, छोटे, माता, पिता, राजा, विद्वान् आदि से कैसे भाषण करना चाहिये, उनके पास किस प्रकार बैठना चाहिये, उनसे किस भाँति बरतना चाहिये आदि बातों का निर्देश देना चाहिये। इससे बालक सर्वत्र प्रतिष्ठा योग्य बनेगा। दूसरे, माता सन्तान को जितेन्द्रिय, विद्याप्रिय तथा सत्संग प्रेमी बनाये जिससे सन्तान व्यर्थ क्रीड़ा, रोदन, हास्य, लड़ाई, हर्ष, शोक, लोलुपता, ईर्ष्या, द्वेषादि दुर्गुणों में न फंसे। माता सन्तान को सत्य-भाषण, शौर्य, धैर्य, प्रसन्नवदन बनने वाले उपदेश दे। तीसरे, गुप्तांगों का स्पर्श आदि कुचेष्टाओं से उसे रोके और उसे सभ्य बनाये। प्रारम्भिक अध्ययन-सम्बन्धी शिक्षा में माता सन्तान को शुद्ध उच्चारण की शिक्षा दे। "माता बालक की जिह्वा जिस प्रकार कोमल होकर स्पष्ट उच्चारण कर सके वैसा उपाय करे कि जो जिस वर्ण का स्थान, प्रयत्न अर्थात् 'प' इसका ओष्ठ स्थान और स्पष्ट प्रयत्न दोनों ओष्ठों को मिलाकर बोलना, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत अक्षरों को ठीक-ठीक बोल सकना। मधुर, गम्भीर, सुन्दर, स्वर, अक्षर, मात्रा, पद, वाक्य, संहिता, अवसान भिन्न-भिन्न श्रवण होवे।" शुद्ध उच्चारण का बहुत महत्व होता है।

महाभाष्य का वचन है, "माता ही सन्तान को शुद्ध उच्चारण की कला सिखा सकती है, क्योंकि शैशव में उसी का सम्पर्क सबसे अधिक होता है।

इसके बाद सन्तान को देवनागरी अक्षरों का तथा अन्य देशीय भाषाओं के अक्षरों का अभ्यास कराये। अक्षराभ्यास कराने के उपरान्त माता सामाजिक

तथा पारिवारिक आचार सिखाने वाले शास्त्रीय वचनों को कण्ठस्थ करावे। इस सबके अतिरिक्त माता सन्तान को भूत, प्रेत, माता, शीतलादेवी, गण्डा, ताबीज आदि अन्धविश्वासपूर्ण, छलभरी तथा धोखाधड़ी की बातों से उसे सचेत करे तथा उस पर उसे विश्वास न करने दे। स्वामी जी ने इन अन्धविश्वास की बातों का विस्तृत तथा रोचक शैली में वर्णन किया है। बाल्यावस्था में अन्धविश्वास-विरोधी संस्कार डाल देने से वे बद्धमूल हो जायेंगे। इसके अतिरिक्त माता का यह भी कर्तव्य है कि बालक को वीर्यरक्षा का महत्व बताये। वीर्यरक्षा का महत्व जिन शब्दों में माता बताये उनका भी स्वामी जी ने निर्देश कर दिया है। हम उन्हें अविकल भाव से उद्‌धृत करना उचित समझते हैं— 'देखो जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है तब उसको आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम, बढ़के बहुत सुख की प्राप्ति होती है। इसके रक्षण में यही रीति है कि विषयों की कथा, विषयी लोगों का संग, विषयों का ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकान्त सेवन, सम्भाषण और स्पर्श आदि कर्म से ब्रह्मचारी लोग पृथक् रहकर उत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त होवें। जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता वह नपुंसक, महा कुलक्षणी और जिसको प्रमेह रोग होता है वह दुर्बल, निस्तेज, निर्बुद्धि, उत्साह, साहस, धैर्य, बल, पराक्रमादि गुणों से रहित होकर नष्ट हो जाता है। जो तुम लोग सुशिक्षा और विद्या के ग्रहण, वीर्य की रक्षा करने में इस समय चूकोगे तो पुनः इस जन्म में तुम को यह अमूल्य समय प्राप्त नहीं हो सकेगा। जब तक हम लोग गृह कर्मों के करने वाले जीते हैं तभी तक तुमको विद्या-ग्रहण और शरीर का बल बढ़ाना चाहिये।"

स्वामी जी ने पिता के दायित्व तथा भाग का स्पष्ट शब्दों में पृथक् उल्लेख नहीं किया परन्तु उनके इस निर्देश से कि ५ से ८ वर्ष तक की आयु तक सन्तान पिता से शिक्षण प्राप्त करे, पिता का कर्तव्य भी स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः अन्धविश्वास-विरोधी संस्कारों का निराकरण तथा ब्रह्मचर्य-महिमा का प्रतिपादन पिता अधिक सुचारु रूप से कर सकता है। अतः स्वामी जी ने अन्त में माता के साथ पिता का भी उल्लेख कर दिया है।

स्वामी जी कहते हैं कि अध्ययन के विषय में लालन का कोई स्थान नहीं, वहाँ ताड़न ही अभीष्ट है। उन्हीं की सन्तान विद्वान्, सभ्य और सुशिक्षित होते हैं जो पढ़ाने में सन्तानों का लाड़न कभी नहीं करते किन्तु ताडना ही करते रहते हैं।" इस प्रकार स्वामी जी Spare the rod and spoil the child के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे। उन्होंने महाभाष्य का प्रमाण भी दिया है—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः॥

अर्थात् गुरुजन अमृतमय हाथों से ताड़ना करते हैं, विषाक्त हाथों से नहीं। भाव यह है कि गुरु की ताड़ना अमृत का प्रभाव करने वाली होती है, न कि विष का। लालन, प्रेम आदि से दुर्गुण पैदा होते हैं और ताड़न से शुभ गुणों की प्रतिष्ठा होती है। ताड़ना का वस्तुतः अपना महत्व होता है। आज कल हम पब्लिक स्कूलों की पढ़ाई को बहुत अच्छा समझते हैं। वहाँ ताड़न निषिद्ध नहीं है। स्वामी जी के इस विचार को अशुद्ध नहीं कहा जा सकता। परन्तु स्वामी जी यह लिखना न भूले कि "माता, पिता तथा अध्यापक लोग, ईर्ष्या, द्वेष से ताड़ना न करें। किन्तु ऊपर से भय प्रदान तथा भीतर से कृपा दृष्टि रखें।" कबीर का निम्नलिखित दोहा इसी तथ्य को स्पष्ट करता है—

गुरु कुम्हार सिष कुम्भ है, गढि गढि काढ़े खोट।
अन्तर हाथ सहार दै, बाहर बाहै चोट॥

इसके बाद स्वामी जी ने लिखा हैं कि आचार्य सत्याचरण की शिक्षा शिष्य को दे। सत्याचरण बहुत व्यापक शब्द है। इस शब्द में समस्त नैतिक तथा सामाजिक व्यवहार की मर्यादायें अन्तर्भूत हो जाती हैं। शिष्य को सच्चे अर्थों में सामाजिक व्यवहार की शिक्षा देने का दायित्व आचार्य पर है। आचार्य ही उसे सामाजिक दृष्टि से उपयोगी बना सकता है। इसके अतिरिक्त शिष्य को गम्भीर ज्ञान की प्राप्ति तो आचार्य करायेगा ही। परा विद्या तथा अपरा विद्या में शिष्य को पारंगत करना उसका कर्तव्य है।

एक और महत्त्वपूर्ण बात की ओर संकेत करते हुए स्वामी जी ने तैत्तिरीय

तथा पारिवारिक आचार सिखाने वाले शास्त्रीय वचनों को कण्ठस्थ करावे। इस सबके अतिरिक्त माता सन्तान को भूत, प्रेत, माता, शीतलादेवी, गण्डा, तावीज आदि अन्धविश्वासपूर्ण, छलभरी तथा धोखाधड़ी की बातों से उसे सचेत करे तथा उस पर उसे विश्वास न करने दे। स्वामी जी ने इन अन्ध-विश्वास की बातों का विस्तृत तथा रोचक शैली में वर्णन किया है। बाल्या-वस्था में अन्धविश्वास-विरोधी संस्कार डाल देने से वे बद्धमूल हो जायेंगे। इसके अतिरिक्त माता का यह भी कर्तव्य है कि बालक को वीर्यरक्षा का महत्व बताये। वीर्यरक्षा का महत्व जिन शब्दों में माता बताये उनका भी स्वामी जी ने निर्देश कर दिया है। हम उन्हें अविकल भाव से उद्धृत करना उचित समझते हैं—"देखो जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है तब उसको आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम, बढ़के बहुत सुख की प्राप्ति होती है। इसके रक्षण में यही रीति है कि विषयों की कथा, विषयी लोगों का संग, विषयों का ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकान्त सेवन, सम्भाषण और स्पर्श आदि कर्म से ब्रह्मचारी लोग पृथक् रहकर उत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त होवें। जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता वह नपुंसक, महा कुलक्षणी और जिसको प्रमेह रोग होता है वह दुर्बल, निस्तेज, निर्बुद्धि, उत्साह, साहस, धैर्य, बल, पराक्रमादि गुणों से रहित होकर नष्ट हो जाता है। जो तुम लोग सुशिक्षा और विद्या के ग्रहण, वीर्य की रक्षा करने में इस समय चूकोगे तो पुनः इस जन्म में तुम को यह अमूल्य समय प्राप्त नहीं हो सकेगा। जब तक हम लोग गृह कर्मों के करने वाले जीते हैं तभी तक तुमको विद्या-ग्रहण और शरीर का बल बढ़ाना चाहिये।"

स्वामी जी ने पिता के दायित्व तथा भाग का स्पष्ट शब्दों में पृथक् उल्लेख नहीं किया परन्तु उनके इस निर्देश से कि ५ से ८ वर्ष तक की आयु तक सन्तान पिता से शिक्षण प्राप्त करे, पिता का कर्तव्य भी स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः अन्धविश्वास-विरोधी संस्कारों का निराकरण तथा ब्रह्मचर्य-महिमा का प्रतिपादन पिता अधिक सुचारु रूप से कर सकता है। अतः स्वामी जी ने अन्त में माता के साथ पिता का भी उल्लेख कर दिया है।

स्वामी जी कहते हैं कि अध्ययन के विषय में लालन का कोई स्थान नहीं, वहाँ ताड़न ही अभीष्ट है। "उन्हीं की सन्तान विद्वान्, सभ्य और सुशिक्षित होते हैं जो पढ़ाने में सन्तानों का लाड़न कभी नहीं करते किन्तु ताडना ही करते रहते हैं।" इस प्रकार स्वामी जी Spare the rod and spoil the child के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे। उन्होंने महाभाष्य का प्रमाण भी दिया है—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः॥

अर्थात् गुरुजन अमृतमय हाथों से ताड़ना करते हैं, विषाक्त हाथों से नहीं। भाव यह है कि गुरु की ताड़ना अमृत का प्रभाव करने वाली होती है, न कि विष का। लालन, प्रेम आदि से दुर्गुण पैदा होते हैं और ताड़न से शुभ गुणों की प्रतिष्ठा होती है। ताड़ना का वस्तुतः अपना महत्व होता है। आज कल हम पब्लिक स्कूलों की पढ़ाई को बहुत अच्छा समझते हैं। वहाँ ताड़न निषिद्ध नहीं है। स्वामी जी के इस विचार को अशुद्ध नहीं कहा जा सकता। परन्तु स्वामी जी यह लिखना न भूले कि "माता, पिता तथा अध्यापक लोग, ईर्ष्या, द्वेष से ताड़ना न करें। किन्तु ऊपर से भय प्रदान तथा भीतर से कृपा दृष्टि रखें।" कबीर का निम्नलिखित दोहा इसी तथ्य को स्पष्ट करता है—

गुरु कुम्हार सिष कुम्भ है, गढि गढि काढ़े खोट।
अन्तर हाथ सहार दै, बाहर बाहै चोट॥

इसके बाद स्वामी जी ने लिखा हैं कि आचार्य सत्याचरण की शिक्षा शिष्य को दे। सत्याचरण बहुत व्यापक शब्द है। इस शब्द में समस्त नैतिक तथा सामाजिक व्यवहार की मर्यादायें अन्तर्भूत हो जाती हैं। शिष्य को सच्चे अर्थों में सामाजिक व्यवहार की शिक्षा देने का दायित्य आचार्य पर है। आचार्य ही उसे सामाजिक दृष्टि से उपयोगी बना सकता है। इसके अतिरिक्त शिष्य को गम्भीर ज्ञान की प्राप्ति तो आचार्य करायेगा ही। परा विद्या तथा अपरा विद्या में शिष्य को पारंगत करना उसका कर्तव्य है।

एक और महत्त्वपूर्ण बात की ओर संकेत करते हुए स्वामी जी ने तैत्तिरीय

उपनिषद् का निम्नलिखित वचन उद्धृत किया है—

'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ।'

अर्थात् शिष्य को उचित है कि वह माता, पिता तथा आचार्य के शुभ कार्यों का अनुकरण करे, अन्यों का नहीं। उक्त तीनों शिक्षक भी उसे यही उपदेश करें। मानव सुलभ त्रुटियाँ सभी में होती हैं। माता, पिता तथा आचार्य भी इसके अपवाद नहीं हो सकते। अतः शिष्य को अपने विकास में उपयोगी सब गुणों को अपने तीनों शिक्षकों से ग्रहण कर लेना चाहिये।

स्वामी जी ने यह भी लिखा है कि सामान्य व्यवहार की छोटी-छोटी बातें भी यह शिक्षकत्रय शिष्य को बतायें। इन छोटी-छोटी बातों का सुन्दर संकलन मनु के निम्नलिखित श्लोक में है—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं, वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद्वाचं, मनःपूतं समाचरेत् ॥

अन्त में स्वामी जी लिखते हैं कि अपनी सन्तान को तन, मन, धन से विद्या, धर्म, सभ्यता और उत्तम शिक्षा-युक्त करना माता पिता का कर्तव्य कर्म, परम धर्म तथा कीर्ति का काम है।

चाणक्य नीति के निम्नलिखित श्लोक में माता-पिता के उक्त दायित्व का इन शब्दों में वर्णन किया गया है—

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥

इस प्रकार सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय समुल्लास में स्वामी जी ने शिक्षा-सम्बन्धी मौलिक बातों पर संक्षेप में प्रकाश डाला है। उनकी स्थापनायें शास्त्रानुमोदित होने के साथ-साथ उपयोगितावादी व्यावहारिक कसौटी पर भी खरी उतरती हैं।

●

इस महान् ग्रन्थ के अध्ययन से मेरी विचार-धारा ही बदल गई। सोई हुई जाति के स्वाभिमान को जागृत करने वाला यह ग्रन्थ अद्वितीय है।

—हरदयाल एम. ए. पी. एच. डी.

अध्ययन और अध्यापन की ऋषि निर्दिष्ट विधि

सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास के आधार पर

स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

बाह्य आवरण रत्नादि से मनुष्य शोभित नहीं होता अपितु "ज्ञान" दीप्ति उसे ज्योतित करती है। "ज्ञान" की प्राप्ति का प्रयत्न ही "अध्ययन" और प्राप्ति के लिए मार्ग-दर्शन "अध्यापन" है।

ऋषि ने सहशिक्षा का विरोध, समान रहन-सहन, अनिवार्य गुरुकुल-शिक्षा, ब्रह्मचर्य-पालन, व आर्ष पाठविधि पर बल देकर वेदोक्त ज्ञान-प्राप्ति पर इस समुल्लास में विस्तार से विवेचन किया है।

गहरी-सूझ के धनी लेखक ने गागर में सागर भरते हुए अपने लेख में ऋषि-आदेश का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत कर सभी को सत्य-ज्ञान-प्राप्ति के लिए उत्साहित किया है।

—सम्पादक

तीन

सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में ऋषि ने इतनी बात कही हैं—

(१) सच्चा आभूषण विद्या है, वे ही सच्चे माता-पिता और आचार्य हैं, जो इन आभूषणों से सन्तान को सजाते हैं।

(२) आठ वर्ष के हों तब ही लड़के-लड़कियों को पाठशाला में भेज देना चाहिए।

(३) द्विज अपने घर में लड़के-लड़कियों का यज्ञोपवीत और कन्याओं का भी यथायोग्य संस्कार करके आचार्य कुल में भेज दें।

(४) लड़के-लड़कियों की पाठशाला एक दूसरे से दूर हो तथा लड़कों की पाठशाला में लड़के अध्यापक हों, लड़कियों की पाठशाला में सब स्त्री अध्यापिका हों, पाठशाला नगर से दूर हो।

(५) सबके तुल्य वस्त्र, खान-पान, आसन हों।

(६) सन्तान माता-पिता से तथा माता-पिता सन्तान से न मिलें, जिससे संसारी चिन्ता से रहित होकर केवल विद्या पढ़ने की चिन्ता रक्खें।

(७) राजनियम तथा जातिनियम होना चाहिए कि पाँचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़के-लड़कियों को घर में न रख सके।

(८) प्रथम लड़के का यज्ञोपवीत घर पर हो, दूसरा पाठशाला में आचार्य कुल में हो।

(९) इस प्रकार गायत्री मंत्र का उपदेश करके सन्ध्योपासन की जो स्नान, आचमन, प्राणायामादि क्रिया हैं, सिखावें।

(१०) प्राणायाम सिखावें, जिससे बल, पराक्रम जितेन्द्रियता व सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझ कर उपस्थित कर लेगा, स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करें।

(११) भोजन, छादन, बैठने, उठने, बोलने-चालने, बड़े-छोटे से व्यवहार करने का उपदेश करें।

(१२) गायत्री मन्त्र का उच्चारण, अर्थ-ज्ञान और उसके अनुसार अपने चाल-चलन को करें परन्तु यह जप मन से करना उचित है।

(१३) सन्ध्योपासन जिसको ब्रह्मयज्ञ कहते हैं, दूसरा देवयज्ञ जो अग्निहोत्र और विद्वानों के संग, सेवादि से होता है। संध्या और अग्निहोत्र सायं-प्रातः दो ही काल में करें। ब्रह्मचर्य में केवल ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र ही करना होता है।

(१४) ब्राह्मण, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य का उपनयन करे, क्षत्रिय दो का, वैश्य एक का; शूद्र पढ़े किन्तु उसका उपनयन न करें, यह मत अनेक आचार्यों का है।

(१५) पुरुष न्यून से न्यून २५ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रहे; मध्यम ब्रह्मचर्य ४४ वर्ष पर्यन्त तथा उत्कृष्ट ४८ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य रक्खे।

जो (स्त्री पुरुष) मरण पर्यन्त विवाह करना ही न चाहें तथा वे मरण पर्यन्त ब्रह्मचारी रह सकते हों तो भले ही रहें। परन्तु यह बड़ा कठिन काम है।

(१६) ब्राह्मण भी अपना कल्याण चाहें तो क्षत्रियादि को वेदादि सत्यशास्त्रों का अभ्यास अधिक प्रयत्न से करावें।

क्योंकि—

क्षत्रियादि को नियम में चलाने वाले ब्राह्मण और संन्यासी तथा ब्राह्मण और संन्यासी को सुनियम में चलाने वाले क्षत्रियादि होते हैं।

(१७) पाठविधि व्याकरण को पढ़ के यास्कमुनिकृत निघण्टु और निरुक्त छः वा आठ महीने में सार्थक पढ़ें, इत्यादि।

(१८) ब्राह्मणी और क्षत्रिया को सब विद्या, वैश्या को व्यवहार-क्रिया और शूद्रा को पाकादि सेवा की विद्या पढ़नी चाहिए जैसे पुरुषों को व्याकरण

धर्म्म और व्यवहार की विद्या न्यून से न्यून अवश्य पढ़नी चाहिये; वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण धर्म्म, वैद्यक, गणित, शिल्प-विद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिये।

इन १८ सूत्रों को मैं तृतीय समुल्लास के १८ अंग कहूँगा और अति संक्षेप से इसमें छिपे हुए बीजों को अंकुरित करने का प्रयास ही किया जा सकता है और वही किया जायगा।

प्रथम यदि इन पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो इनका विभाग इस प्रकार है—

प्रथम दो अंग माता-पिता के प्रति उपदेश हैं। तीसरा जाति-नियम द्वारा गुरु-शिष्य के सामीप्य का समर्थक है। चौथा शिक्षा-शास्त्र-सम्बन्धी नियम है जो ब्रह्मचर्य की रक्षार्थ है। पांचवाँ बच्चों में समानता तथा सरल जीवन का आधार है। छठा शिक्षा-शास्त्र-सम्बन्धी नियम है जो निश्चितता उत्पन्न करके गुरु-शिष्य में सामीप्य की पुष्टि करता है। सातवाँ राजनियम तथा जाति-नियम द्वारा मोह का निराकरण तथा गुरु-शिष्य के सामीप्य का और अतएव सामीप्य का स्तम्भ रूप है। आठवाँ सामाजिक नियम द्वारा गुरु-शिष्य के सामीप्य का पोषक है। नवां संध्योपासन द्वारा ईश्वराधीनता का अर्थात् सच्ची स्वाधीनता का शिक्षा में प्रवेश कराना है। दसवाँ तथा ११ वाँ बच्चों को सच्ची दिनचर्या द्वारा संयम सिखाना है। १२ वाँ विनीत भाव सिखा कर संयम की पुष्टि करता है। १३ वाँ १४ वाँ भी संकल्प अथवा व्रत द्वारा संयम का सच्चारूप उपस्थित करता है। १५ वाँ भी ब्रह्मचर्य न्यून से न्यून कितना हो यह बता कर संयम को व्यावहारिक रूप देता है। १६ वें सूत्र में ब्राह्मण तथा क्षत्रियादि का परस्पर नियन्त्रण है। १७ वें सूत्र में व्रतचर्या के लिए समय कैसे मिले इसलिए आनुपूर्वी नाम का शिक्षा शास्त्र का महान् रहस्य दिया गया है। यथा अठारहवें में चारों वेदों के अध्ययन की लम्बी पाठविधि को यथायोग्य रूप से हर ब्रह्मचारी के बलाबल को देखकर पाठविधि कैसे बनाई जाय इसकी कुञ्जी दी गई है।

शिक्षा का उद्देश्य

इस प्रकार इन अठारह अङ्गों के परस्पर सम्बन्ध की रूपरेखा देकर हम इन पर दार्शनिक विवेचन आरम्भ करते हैं। सबसे प्रथम यह देखना है कि

शिक्षा का उद्देश्य क्या है। ऋषि ने शिक्षा का उद्देश्य भर्तृहरि महाराज के "विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षा:" इस श्लोक का उद्धरण देकर किया है। श्लोक का अनुवाद ऋषि के ही शब्दों में इस प्रकार है—

जिन पुरुषों का मन विद्या के विलास में मग्न रहता सुन्दरशील स्वभाव-युक्त सत्यभाषणादि नियम पालन युक्त और जो अभिमान अपवित्रता से रहित अन्य की मलिनता के नाशक सत्योपदेश और विद्या दान से संसारी जनों के दुःखों को दूर करने वाले वेदविहित कर्मों से पराये उपकार करने में लगे रहते हैं वे नर और नारी धन्य हैं ?

बस इस प्रकार के धन्य पुरुष उत्पन्न करना शिक्षा का उद्देश्य है।

भर्तृहरि की खान—ऋषि दयानन्द सा जौहरी, क्या रत्न ढूंढकर निकाला है।

पहला ही शब्द ले लीजिये विद्याविलासमनसः हमें छात्रों को ब्रह्मचारी बनाना है। ब्रह्मचारी के दो ही भोजन हैं; एक विद्या, दूसरा परमात्मा। इस भोजन को कभी-कभी खा लेने से वह ब्रह्मचारी नहीं बन सकता। जिस प्रकार विलासी मनुष्य यदि वह भोजन का विलासी है, तो उसमें नए से नए रुचिकर व्यञ्जनों का आविष्कार करता रहता है, यदि रूप का विलासी है तो नए से नए शृङ्गारों का आविष्कार करने में ही उसका मन लगा रहता है उसी प्रकार जब विद्या उसके लिए एक विलास की वस्तु बन जाय तब ही तो वह ब्रह्मचारी बन सकेगा। परन्तु यह विद्या में रति बिना शील शिक्षा के नहीं प्राप्त हो सकती। शील शिक्षा भी वह जो पूर्णतया धारण कर ली गई हो, अडिग हो, अविचल हो। इसके लिए उसका व्रत धारण करना आवश्यक है। परन्तु ब्राह्मण व क्षत्रियादि के व्रत निश्चल तब ही हो सकते हैं, जब वह सत्य व्रत हों, यह व्रतपरायणता बिना अभिमान दूर किये नहीं हो सकती और अभिमान की परम चिकित्सा है प्रभु भक्ति;वह अभिमान ही नहीं और सब मलों को भी दूर करने वाली है। इस भक्ति का आरम्भ होता है, संसार के दुःख दूर करने में ही गौरव मानने से। दुःख दूर करने से तो भक्ति का मार्ग आरम्भ होता है। परन्तु उसका पूर्ण चमत्कार तो दुःख दूर करके सच्चा सुख प्राप्त कराने से होता है। यही सबसे बड़ा परोपकार है।

परन्तु दुःखों का निराकरण तथा सच्चे सुख की प्राप्ति का उपाय जाना जाता है वेद से। उसी ने इसका विधान किया है। वेदविहित कर्मों का ठीक ज्ञान न होने से अज्ञानी मनुष्य परोपकार की भावना से प्रेरित होकर भी अपकार ही तो करेगा, इसलिये विहित कर्मों से ही परोपकार होता है। चलो इन विहित कर्मों के ज्ञान के लिए वेद-वेदाङ्ग का ज्ञान प्राप्त करें। यही शिक्षा का आरम्भ है इसीलिए कहा—

विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षाः,
सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः,
संसारदुःखदलनेनसुभूषिता ये,
धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः॥

इस प्रकार के धन्य मनुष्य इस प्रकार के गुरु के पास पहुँचे बिना कैसे प्राप्त हो सकते हैं। इसलिए माता-पिता को उपदेश दिया (१) सांसारिक आभूषणों के मोह को तथा उसके मूल सन्तान के मोह को छोड़ो, सन्तान से प्रेम करना सीखो। यहाँ सबसे पहले मोह और प्रेम में भेद करना सीखना है। अनुराग के दो अङ्ग हैं हितसन्निकर्षयोरिच्छानुरागः इनमें सन्निकर्ष अर्थात् प्रेमपात्र के वियोग को न सहन करना तथा समीप होने की इच्छा जितनी प्रबल होगी उतना ही प्रेम मोह की ओर भागेगा और जितनी हितेच्छा प्रबल होती जायगी उतना ही अनुराग प्रेम की ओर उठता जायगा। यदि सन्निकर्षेच्छा न हो तो माता बच्चे के लिए रातों जाग नहीं सकती। परन्तु हितेच्छा न हो तो गुरुकुल नहीं भेज सकती। इसीलिए कहा कि पाँचवें वर्ष तक सन्निकर्षेच्छा समाप्त हो ही जानी चाहिए। यदि सन्तान की दुर्बलता आदि किसी अन्य कारण से सन्तान का माता-पिता के पास रहना आवश्यक भी हो तो ८ वें वर्ष तक तो राज-नियम से बच्चे को माता-पिता से पृथक् कर ही देना चाहिए। यही नहीं गुरु के पास जाने पर मोहवृद्धि कारक माता-पिता का मिलना तथा पत्र-व्यवहार आदि भी बन्द हों; जिससे गुरु शिष्य में वह सामीप्य उत्पन्न हो जाय, जिसका वेद ने इन शब्दों में वर्णन किया है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणम् कृणुते गर्भमन्तः।

(अथर्व० ११ काण्ड)

हमें विद्यार्थियों को न्याय सिखाना है। इसलिये सबसे पहले उनके साथ न्याय होना चाहिये। न्याय के दो सिरे हैं, निर्णय के पूर्व समान व्यवहार, निर्णय के पश्चात् यथायोग्य व्यवहार। शिक्षा के आरम्भ-काल में निर्णय नहीं नहीं हो सकता। इसलिए उस काल में सबको तुल्य वस्त्र, खान-पान, आसन दिये जावें। इस प्रकार सच्ची समानता उत्पन्न की गई है।

यह समानता दो प्रकार से उत्पन्न की जा सकती है। एक नाना प्रकार के ऐश्वर्य की सामग्री सबको देकर, दूसरे सबको तपस्वी बना कर। राजा के पुत्र को अपरिग्रही के समान रखकर अथवा अपरिग्रही को राज-तुल्य वैभव देकर। परन्तु ब्रह्मचर्य जिनकी शिक्षा का आधार है, वे सरलता द्वारा ही समानता उत्पन्न करेंगे इसलिये तप तथा अपरिग्रह की शिक्षा दी गई है।

शिक्षा का तीसरा आधार स्वाधीनता है, परन्तु स्वाधीनता वस्तुतः ईश्वराधीनता से प्राप्त होती है। जो अपने आपको ईश्वर के अधीन कर देता है, वह फिर न प्रकृति के अधीन होता है न विषयों के। जिस प्रकार स्वेच्छापूर्वक स्वयं चुने हुए विमान पर चढ़ने से मनुष्य की गति में तीव्रता तो अवश्य आ जाती है। इसी प्रकार स्वेच्छापूर्वक प्रभु समर्पण द्वारा मनुष्य अनन्त शक्ति का स्वामी तो हो जाता है। परन्तु पराधीन नहीं होता, इसीलिये ऋषि दयानन्द ने इस समुल्लास में शिक्षा का आरम्भ सन्ध्योपासन से किया है। इसी प्रकार देव यज्ञ की व्याख्या में उन्होंने देवयज्ञ के दो रूप दिये हैं। एक अग्निहोत्र दूसरा विद्वानों का संगसेवादि। गुरु के तथा विद्वानों के संगसेवादि से मनुष्य स्व को पहिचानता है। जिसने स्व को ही नहीं पहिचाना, वह स्वाधीन क्या होगा? स्वाधीन शब्द का दूसरा अर्थ आत्मीयों की अधीनता है। जीव का सबसे बड़ा आत्मीय उस वात्सल्य सागर प्रभु से बढ़ कर कौन हो सकता है, सो संध्योपासन तथा अग्निहोत्र दोनों ही मनुष्य को सच्चे अर्थों में स्वाधीनता दिलाने वाले हैं। अब हम संयम की ओर आते हैं, यह ब्रह्मचर्याश्रम है, हमें शक्ति के महास्रोत तक पहुँचना है, वहीं सुख है, वहीं शान्ति है, वहीं नित्यानन्द है, नित्य कैसे, मनुष्य का सुख दो प्रकार समाप्त हो जाता है। भोग्य पदार्थ की समाप्ति से या भोक्ता की रसास्वादन शक्ति की समाप्ति से; परन्तु जब जीव

प्रकृति के माध्यम बिना सीधा प्रभु से रस लेने लगता है तो न भोग्य सामग्री समाप्त होती है, न भोक्ता की रसास्वादन शक्ति; बस इस अवस्था तक प्राणिमात्र को पहुँचाने के लिए मनुष्य मात्र को जीव और ईश्वर के बीच आने वाले व्यवधानों से पूर्णतया मुक्त करके कैवल्य (Onlyness) तक पहुँचाना ही शिक्षा का उद्देश्य है। यह उद्देश्य इस समुल्लास में किस प्रकार पूरा किया गया है, अब हमें यह देखना है।

शिक्षा का केन्द्र : आचार

सबसे प्रथम जो बात समझने की है वह यह है कि वैदिक शिक्षा-पद्धति में शिक्षा का केन्द्र आचार शक्ति है, विचार शक्ति नहीं, इसीलिये वैदिक भाषा में गुरु को आचार्य कहते हैं, विचार्य नहीं, विचार साधन हैं, आचार साध्य है। क्योंकि इसके द्वारा ही मनुष्य ब्रह्म में विचरता-विचरता पूर्णतया ब्रह्मचारी हो जाता है और जब तक वह इस ध्येय तक नहीं पहुँच जाता है, तब तक के लिए उसे एक ही आज्ञा है "चरैवेति चरैवेति"।

परन्तु विचार का क्षेत्र उसका चरने का क्षेत्र है। वह नाना प्रकार के विषयों में इन्द्रियों द्वारा विचरता हुआ विषयरूपी घास से ज्ञानरूप दूध बनाता रहता है। परन्तु व्रत के खूँटे से बँधा होने के कारण कभी गोष्ठ-भ्रष्ट अथवा देवयूथ भ्रष्ट नहीं होने पाता, इन्द्रियों का क्षेत्र उसके चरने का क्षेत्र है। परन्तु व्रत उसके बंधने का स्थान है। वह व्रत का खूँटा भगवान् में गड़ा रहता है। इस लिए वह कभी भ्रष्ट नहीं होने पाता। इसीलिये इस शिक्षा-पद्धति में उसका दो बार यज्ञोपवीत किया जाता है। एक माता-पिता के घर में, दूसरा आचार्य-कुल में। ब्राह्मण को संसार में अविद्या के नाश तथा सत्य के प्रकाश का व्रत धारण करना है।

क्षत्रिय को अन्याय के नाश तथा न्याय की रक्षा का व्रत धारण करना है। वैश्य को दारिद्रय के नाश तथा प्रजा की समृद्धि की रक्षा का व्रत धारण करना है। इस यज्ञ अर्थात् लोकहित के व्रत के खूँटे के साथ बंधना है, इसीलिए इस बंधन का नाम यज्ञोपवीत है अर्थात् वह रस्सा जो मनुष्य को लोकहित के व्रत

के खूँटे के साथ बाँधने के लिए बनाया गया हो, प्रथम यज्ञोपवीत में माता-पिता उसे किस खूँटे के साथ बाँधना चाहते हैं उनकी इस इच्छा का प्रकाश है।

परन्तु यह वर्ण है, स्वेच्छापूर्वक चुना जाने वाला व्रत है, इसलिए आचार्य की अनुमति से ब्रह्मचारी इसे बदल भी सकता है। इसलिए आचार्य कुल में दूसरी बार यज्ञोपवीत किया जाता है। इस व्रत का मूल्य मनुष्य समाज ने सेना में तथा गृहस्थाश्रम में तो जाना है। संसार का हर सैनिक किसी न किसी रूप में झण्डे के सामने शपथ लेता है और हर दम्पती किसी न किसी रूप में एक दूसरे के साथ बँधे रहने की शपथ लेते हैं। परन्तु इस शपथ का लाभ शिक्षा-शास्त्र में लेना यह केवल वैदिक लोगों को ही सूझा। इसके बिना शिक्षा लक्ष्यहीन तीर चलाने के समान है। कोई तीर अचानक लक्ष्य पर भी जा लगता है।

विद्याभ्यास कैसे ?

अब आइये विद्याभ्यास की ओर। इस क्षेत्र में सबसे प्रथम तो मनुष्य को प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा परीक्षा करने का ज्ञान होना चाहिए, फिर भाषा का, फिर अन्य शास्त्रों का; यही क्रम यहाँ रक्खा गया है। परन्तु सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस क्रम में आनुपूर्वी है। पहले व्याकरण पढ़े फिर निरुक्त छन्द आदि—यह आनुपूर्वी क्यों रक्खी गई है। आजकल की शिक्षा-पद्धति में एक विद्यार्थी प्रतिदिन ८ या १० विषय तक पढ़ता है। इस प्रणाली में उसे गुरु-सेवा, आश्रम-सेवा, चरित्र-निर्माण आदि के लिये कोई समय ही नहीं मिलता। इसलिये प्रतिदिन मुख्य रूप से लगातार कुछ समय तक--एक समय तक एक विषय को पढ़ कर समाप्त करे, फिर दूसरा विषय आरम्भ करे। इस क्रम से पढ़ने से उसे गुरु-सेवा, पशु-पालन, चरित्र-निर्माण इन सबके लिए पूरा समय मिलता है और इस प्रकार शिक्षा के मुख्य अंग आचार-निर्माण की पूर्णता होती है; जिससे आचार्य (आचारं ग्राहयति) को आचार्यत्व प्राप्त होता है।

यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है। ऋषि ने लिखा है कि पुरुषों को व्याकरण, धर्म्म और एक व्यवहार की विद्या न्यून से न्यून अवश्य सीखनी चाहिए।

इस अत्यन्त मूल्यवान पंक्ति की ओर ध्यान न देने से आज आर्ष पद्धति

के नाम पर सहस्रों विद्यार्थियों के जीवन नष्ट हो रहे हैं।

ऋषि ने चारों वेदों की पाठविधि तो दी है, परन्तु चारों वेदों का पण्डित होना हर एक विद्यार्थी के लिये आवश्यक नहीं ठहराया, उलटा मनु का प्रमाण देकर लिखा है—

षट्त्रिंशदाब्दिके चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।
तदर्धम् पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ।।

ब्रह्मचर्य ३६ वर्ष, १८ वर्ष अथवा ९ वर्ष का अथवा जितने में विद्या ग्रहण हो जावे उतना रक्खे।

इसको पुरुषों को व्याकरण, धर्म्म तथा एक व्यवहार की विद्या के साथ मिला कर पढ़िये। इसका भाव यह है कि व्याकरण तथा धर्म्म-शास्त्र पढ़ना सबके लिए आवश्यक है। सो धर्म्म-ज्ञान के लिए जितना व्याकरण पढ़ना आवश्यक है, सो तो सब पढ़ें; इससे विशेष व्याकरण उस विद्या को दृष्टि में रख कर पढ़ें जो उसकी व्यवहार की विद्या है। इसलिए जिसे विद्युत् शास्त्र अथवा भौतिक विज्ञान अथवा इतिहास पढ़ना है, उसे महाभाष्य पर्यन्त व्याकरण पढ़ना क्यों आवश्यक है। यह बिल्कुल समझ में नहीं आता परन्तु आजकल आर्ष पद्धति के नाम पर जो सब बालकों को जबरदस्ती महाभाष्य पढ़ाया जाता है, इससे उन विद्यार्थियों में से बहुतों का जीवन नष्ट होता है, और आर्ष पद्धति व्यर्थ बदनाम होती है। ऋषि ने अधिकतम और न्यूनतम दोनों पाठ-विधि दे दी हैं, विद्यार्थी की उचित शक्ति के अनुसार हर विद्यार्थी का पृथक्-पृथक् पाठ्य-क्रम होना चाहिये। इसीलिए गुरु-शिष्य का सदा एक साथ रहना आवश्यक समझा गया है। जिससे गुरु-शिष्य की रुचि तथा शक्ति दोनों की ठीक परीक्षा करके यथायोग्य पाठविधि बना सके। यहाँ यथायोग्यवाद के स्थान में साम्यवाद का प्रयोग अत्यन्त हानिकारक सिद्ध हो रहा है।

अन्त में हम इस बात की ओर फिर ध्यान दिलाना चाहते हैं कि वैदिक शिक्षा-पद्धति में संयम अर्थात् ब्रह्मचर्य का स्थान विद्या से ऊँचा माना गया

है ? संयमहीन शिक्षा कुशिक्षा है । इसलिए सन्ध्योपासन, आनुपूर्वी का पाठ्य-क्रम तथा यज्ञोपवीत संस्कार तीनों ही विद्यार्थी को परमात्मा का भक्ति-दान करके ब्रह्मचारी बना देते हैं । इस संयम की जितनी महिमा गाई जाय सो थोड़ी है । इस प्रकार यह १८ के १८ अंग जो इस समुल्लास में पाँच सकारों में परिणत हो जाते हैं, उन पाँच सकारों के नामोल्लेख के साथ ही इस लेख को समाप्त करते हैं—

समानता सरलता सामीप्यम् गुरुशिष्ययोः
स्वाधीन्यं संयमञ्चैव सकाराः पञ्च सिद्धिदाः

ऋषि ने अपने देशवासियों तथा समस्त विश्व को सत्यार्थप्रकाश के रूप में जो अविनश्वर वसीयत दी है, वह उसकी प्रकाण्ड प्रतिभा का प्रतीक है । इस ग्रन्थ में वह हमारे सम्मुख एक उत्पादक कलाकार, समीक्षक, संहारक तथा निर्माता के रूप में प्रकट हुआ है ।

—श्री श्यामाप्रसाद मुखर्जी

गृहस्थ आश्रम की सफलता के उपाय

सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास
के आधार पर

प्रो० रामसिंह एम० ए०
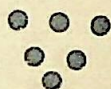
मानव जीवन की सम्पूर्ण गतिविधि का आधार 'गृहस्थ' है। इसका प्रभाव सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक समस्याओं को भी प्रभावित करता है, ऐसा आधुनिक समाज-विज्ञान के पंडित भी स्वीकार करते हैं।

तप द्वारा शरीर, ज्ञान द्वारा मस्तिष्क की पूर्ण विकसित अवस्था के पश्चात् समान गुण, कर्म, स्वभाव की कन्या से, स्वेच्छया किन्तु माता-पिता एवं गुरु की अनुमति से विवाह कर, एक दूसरे का आदर करते हुए प्रेमपूर्वक श्रेष्ठ सन्तान के निर्माण को लक्ष्य रख निर्वाह और समाज के प्रति दायित्वों के वहन का मार्ग-दर्शन चतुर्थ समुल्लास का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

अनुभवी विद्वान् लेखक ने स्पष्ट प्रकार से ऋषि के मंतव्यों को लेख में प्रस्तुत कर जीवन की सफलता का मार्ग दिखाया है।

—सम्पादक

ध्याय

•

वैदिक आश्रम मर्यादा में गृहस्थाश्रम दूसरा आश्रम है। इसे यदि चारों आश्रमों का आधार कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी। इस आश्रम की सफलता के लिए आवश्यक है कि आश्रम में प्रवेश के इच्छुक यथावत् ब्रह्मचर्य में आचार्यानुकूल वर्त कर, धर्म से चारों वेद, तीन व दो अथवा एक वेद को सांगोपांग पढ़ कर अखण्डित-ब्रह्मचर्य पुरुष वा स्त्री गुरु की यथावत् आज्ञा लेकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने वर्णानुकूल सुन्दर-लक्षणयुक्त कन्या से विवाह करें।

उत्तम कुल के लड़के और लड़कियों का आपस में विवाह होना चाहिए। जो कुल सत्क्रिया से हीन और सत्पुरुषों से रहित हों तथा जिनमें बवासीर, क्षय, दमा, मिरगी, श्वेतकुष्ठ और गलितकुष्ठादि भयानक रोग हों, उनकी कन्या वा वर के साथ विवाह होना अनुचित है—क्योंकि इस प्रकार के विवाहों से यह सब दुर्गुण और रोग अन्य कुलों में भी प्रविष्ट हो जाते हैं।

कन्या पिता के गोत्र की नहीं होनी चाहिए तथा माता के कुल की छः पीढ़ियों में भी न हो। साथ ही कन्या का विवाह दूर देश में होने से हितकारी होता है, निकट रहने में नहीं। दूरस्थों के विवाह में अनेक लाभ हैं, तथा निकट विवाह होने में अनेक हानियों की सम्भावना रहती है।

जब स्त्री-पुरुष विवाह करना चाहें, तब विद्या, विनय, शील, रूप, आयु,

बल, कुल, शरीर का परिमाण आदि यथायोग्य होना चाहिये, जब तक उपर्युक्त गुणों में मेल नहीं होता, तब तक गृहस्थाश्रम में कुछ भी सुख नहीं मिलता।

बाल्यावस्था में तो विवाह करने से सुख होता ही नहीं। जिस देश में ब्रह्मचर्य-विद्या-ग्रहण रहित बाल्यावस्था और अयोग्यों का विवाह होता है—वह देश दुःख में डूब जाता है तथा जिस-जिस देश में विवाह की श्रेष्ठ विधि और ब्रह्मचर्य-विद्याभ्यास अधिक होता है वह देश सुखी और समृद्ध होता है। सोलहवें वर्ष से लेके चौबीसवें वर्ष तक कन्या और पच्चीसवें वर्ष से लेके अड़तालीसवें वर्ष तक पुरुष का विवाह-समय उत्तम है। इसमें जो सोलह और पच्चीस वर्ष में विवाह करें तो निकृष्ट, अठारह वर्ष की स्त्री, तीस, पैंतीस व चालीस वर्ष के पुरुष का विवाह मध्यम, चौबीस वर्ष की स्त्री और अड़तालीस वर्ष के पुरुष का विवाह होना उत्तम है।

ब्रह्मचर्य विद्या के ग्रहणपूर्वक, विवाह के सुधार ही से, सब बातों का सुधार और बिगाड़ने से बिगाड़ हो जाता है।

चाहे लड़का-लड़की मरण पर्यन्त कुंवारे रहें। परन्तु असदृश अर्थात् परस्पर विरुद्ध गुण-कर्म स्वभाव वालों का विवाह कभी न होना चाहिए।

परस्पर-सहमति

विवाह लड़का-लड़की की प्रसन्नता के बिना न होना चाहिये—क्योंकि एक दूसरे की प्रसन्नता से विवाह होने में विरोध बहुत कम और सन्तान उत्तम होते हैं। अप्रसन्नता के विवाह में नित्य क्लेश ही रहता है। विवाह में मुख्य प्रयोजन वर और कन्या का है, माता-पिता का नहीं, क्योंकि जो उनमें परस्पर प्रसन्नता रहे तो उन्हीं को सुख और विरोध में उन्हीं को दुःख होता है। इसलिये जैसी स्वयंवर की रीति आर्यावर्त में परम्परा से चली आती थी, वही उत्तम है।

जब तक सब ऋषि-मुनि, राजा-महाराजा और अन्य आर्य लोग ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़ के ही स्वयंवर विवाह करते थे, तब तक इस देश की सदा उन्नति होती थी। जब से यह ब्रह्मचर्य से विद्या का न पढ़ना, बाल्यावस्था में पराधीन अर्थात् माता-पिता के आधीन विवाह होने लगे तब से क्रमशः आर्यावर्त्त देश की हानि होती चली आयी। इससे इस दुष्ट काम को छोड़ कर सज्जन लोग पूर्वोक्त प्रकार से स्वयंवर विवाह किया करें। सो विवाह वर्णानुक्रम से करें।

कई एक लोग आपत्ति करते हैं कि विवाह-बंधन में केवल दुःख भोगना पड़ता है, इसलिए यह क्यों न हो कि जिसके साथ जिसकी प्रीति हो तब तक मिले रहें, प्रीति छूट जाने पर एक दूसरे को छोड़ देवें। परन्तु इस प्रकार करने को हम पशु-पक्षी का व्यवहार मानते हैं, मनुष्यों का नहीं। जो मनुष्यों में विवाह का नियम न रहे, तो गृहस्थाश्रम के अच्छे-अच्छे व्यवहार नष्ट-भ्रष्ट हो जायें। कोई किसी की सेवा भी न करे और महा व्यभिचार बढ़ कर सब रोगी, निर्बल और अल्पायु हो शीघ्र ही मर जायें। भय-लज्जा भी न रहे। वृद्धावस्था में कोई सेवा न करे। कोई किसी के पदार्थों का स्वामी वा दायभागी भी न हो सके और न ही किसी का किसी पदार्थ पर दीर्घकाल पर्यन्त स्वत्व रहे। इन दोषों के निवारणार्थ विवाह ही होना सर्वथा योग्य है।

यह भी स्मरण रहे कि एक समय में एक ही विवाह उचित है। परन्तु समयान्तर में अनेक विवाह भी हो सकते हैं। जिस स्त्री या पुरुष का पाणिग्रहणमात्र संस्कार हुआ हो और संयोग न हुआ हो—अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री और अक्षतवीर्य पुरुष हो, उनका ऐसी ही अन्य स्त्री वा पुरुष के साथ पुनर्विवाह होना चाहिए।

विवाह-प्रयोजन

स्त्री और पुरुष की सृष्टि का यही प्रयोजन है कि धर्म से अर्थात् वेदोक्त रीति से सन्तानोत्पत्ति करना। ईश्वर के सृष्टिक्रमानुकूल स्त्री पुरुष का स्वाभाविक व्यवहार रुक ही नहीं सकता, सिवाय वैराग्यवान् पूर्ण विद्वान् योगियों के। संसार में व्यभिचार और कुकर्म को रोकने का श्रेष्ठ उपाय यही है कि जो जितेन्द्रिय रह सकें वह विवाह भी न करें तो भी ठीक, परन्तु जो ऐसे नहीं हैं, उनका वेदोक्त रीति से विवाह अवश्य होना चाहिये। आपात्काल में नियोग भी आवश्यक है। इसी से व्यभिचार न्यून, प्रेम से उत्तम सन्तान, स्वस्थ मनुष्यों की वृद्धि सम्भव है।

विवाह के प्रकार

विवाह आठ प्रकार का होता है। एक ब्राह्म, दूसरा दैव, तीसरा आर्ष, चौथा प्राजापत्य, पाँचवाँ आसुर, छठा गान्धर्व, सातवाँ राक्षस, आठवां पैशाच।

इन विवाहों की यह व्यवस्था है कि वर कन्या दोनों यथावत् ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्वान्, धार्मिक और सुशील हों, उनका परस्पर प्रसन्नता से विवाह होना 'ब्राह्म' कहाता है। विस्तृत यज्ञ करने में ऋत्विक् कर्म करते हुए जामाता को अलंकार युक्त कन्या का देना "दैव"। वर से कुछ लेकर विवाह होना "आर्ष"। दोनों का विवाह धर्म की वृद्धि के अर्थ होना "प्राजापत्य"। वर और कन्या को कुछ देके विवाह होना "आसुर"। अनियम, असमय किसी कारण से वर कन्या का इच्छापूर्वक परस्पर संयोग होना "गान्धर्व"। लड़ाई करके बलात्कार अर्थात् छीन झपट वा कपट से कन्या का ग्रहण करना "राक्षस"। शयन व मद्यादि पी हुई पागल कन्या से बलात्कार संभोग करना "पैशाच"। इन सब विवाहों में ब्राह्म विवाह सर्वोत्कृष्ट, दैव और प्राजापत्य मध्यम, आर्ष आसुर और गान्धर्व निकृष्ट, राक्षस अधम और पैशाच महाभ्रष्ट है। इसलिए यही निश्चय रखना चाहिए कि कन्या और वर का विवाह के पूर्व एकान्त में मेल न होना चाहिए, क्योंकि युवावस्था में स्त्री पुरुष का एकान्तवास दूषण-कारक है।

विवाह से पूर्व

जब कन्या वा वर के विवाह का समय हो तो उनके अध्यापक अथवा माता पिता उनके गुण, कर्म और स्वभाव की भली-भाँति परीक्षा कर लें। जब दोनों का निश्चय विवाह करने का हो जाय, तो यदि अध्यापकों के समक्ष विवाह करना चाहें तो वहाँ, नहीं तो कन्या के माता-पिता के घर में विवाह होना योग्य है। कन्या और वर के खान-पान का उत्तम प्रबन्ध वैवाहिक-विधि से पूर्व होना चाहिये जिससे उनका ब्रह्मचर्यव्रत और विद्याध्ययनरूप तपश्चर्या से दुर्बल शरीर चन्द्रमा की कला के समान बढ़के थोड़े ही दिनों में पुष्ट हो जाये।

पश्चात् उपयुक्त समय वेदी और मण्डप रचके अनेक सुगन्धादि द्रव्य और घृतादि का होम करके वैदिक-विधि के अनुसार विद्वान् पुरुष और स्त्रियों के सामने पाणिग्रहणपूर्वक विवाह-विधि पूरी करें।

विवाह के पश्चात्

स्त्री और पुरुष अपने-अपने कर्तव्य को पूरी तरह समझें और जहाँ तक बन पड़े वहाँ तक ब्रह्मचर्य के वीर्य को व्यर्थ न जाने दें—क्योंकि उस वीर्य वा

रज से जो शरीर उत्पन्न होता है, वह अपूर्व उत्तम सन्तान होती है।

पुरुष वीर्य की स्थिति और स्त्री गर्भ की रक्षा और भोजन-छादन इस प्रकार करे, जिससे गर्भस्थ बालक का शरीर अत्युत्तम रूप, लावण्य, पुष्टि, बल, पराक्रमयुक्त होकर दशवें महीने में जन्म होवे। विशेष उसकी रक्षा चौथे महीने से और अतिविशेष आठवें महीने से करना योग्य है। कभी गर्भवती स्त्री रेचक, रूक्ष, मादक द्रव्य, बुद्धि और बलनाशक पदार्थों का सेवन न करे, किन्तु घी, दूध, उत्तम चावल, गेहूँ, मूंग, उर्द आदि खान-पान देश-कालादि के अनुसार करे। चौथे महीने में पुंसवन संस्कार और आठवें महीने में सीमन्तोन्नयन विधि-अनुकूल करे।

सन्तान-पालन

बालक के जन्म के समय बालक और उसकी माता की सावधानी से रक्षा करनी चाहिये। शुण्ठीपाक और सौभाग्यशुण्ठीपाक प्रथम से ही तैयार रहना चाहिए। बालक और उसकी माता को सुगन्धियुक्त उष्ण जल से स्नान कराना भी उचित है। नाड़ी-छेदन यथा-विधि कराये। प्रसूति-गृह में सुगन्धादियुक्त घृत का होम करे। तत्पश्चात् बालक के कान में 'वेदोऽसि'—'तेरा नाम वेद है' सुनाकर, पिता मधु और घृत से बालक की जीभ पर 'ओ३म्' लिखे और शलाका से उसे चटा दे।

पश्चात् बालक और उसकी माता को दूसरे शुद्ध स्थान पर बदल दें और वहाँ नित्य सायं प्रातः सुगन्धित घी का हवन करें। बालक छः दिन तक माता का दूध पिये। छठे दिन स्त्री बाहर निकले। सन्तान के दूधादि के लिए यथावत् प्रबन्ध करें। समर्थ हो तो कोई धाय रख ली जाये। बालक के पालन-पोषण में कोई अनुचित व्यवहार न हो।

पश्चात् नामकरणादि संस्कार "संस्कार-विधि" की रीति से यथाकाल करता जाये।

पुरुष के कर्तव्य

इस प्रकार स्त्री और पुरुष विधिपूर्वक गृहस्थ धर्म्म का पालन करते हुए संसार में सुखपूर्वक रहें। पुरुष का कर्त्तव्य है कि सभी प्रकार से स्त्री को प्रसन्न रखे। जिस कुल में भार्या से भर्ता और पति से पत्नी अच्छे प्रकार प्रसन्न रहती

है, उसी कुल में सौभाग्य और ऐश्वर्य निवास करते हैं। जिस घर में स्त्रियों का सत्कार होता है, उसमें पुरुष विद्यायुक्त होकर देव संज्ञा को प्राप्त होते हैं और आनन्द करते हैं। जहाँ स्त्रियों का सत्कार नहीं होता, वहाँ सारी क्रियायें निष्फल हो जाती हैं।

स्त्री के कर्तव्य

स्त्री को भी योग्य है कि अति प्रसन्नता से घर के कामों में चतुराई युक्त सब पदार्थों के उत्तम संस्कार तथा घर की शुद्धि रखे और व्यय करने में भी संकोच से काम ले, अधिक उदारता न दिखाये। अर्थात् यथायोग्य खर्च करे। पाकादि भी इस भाँति बनावे कि औषधरूप होकर शरीर और आत्मा में रोग न आने दे। आय-व्यय भी यथावत् रखे। घर के नौकर-चाकरों से यथायोग्य काम ले और घर के कार्यों में पूरी सावधानी बरते।

गृहस्थ के कर्तव्य

इस भाँति गृहस्थाश्रम में स्त्री-पुरुष परस्पर प्रेमपूर्वक रहें। बुद्धि-धनादि की वृद्धि करने वाले शास्त्रों को नित्य सुनें, और सुनावें।

यथाविधि दिन और रात्रि की सन्धि में अर्थात् परमेश्वर का ध्यान और अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिए।

पितृयज्ञ भी गृहस्थ का कर्तव्य कर्म है। श्रद्धा और भक्ति भाव से विद्यमान माता पिता आदि पितरों की सेवा करना ही पितृयज्ञ और श्राद्धतर्पण है। परम विद्वानों, आचार्यादि की सर्वप्रकार से सेवा करना ही ऋषि तर्पण है।

वास्तव में माता-पिता, स्त्री, भगिनी, सम्बन्धी आदि तथा कुल के अन्य कोई भद्र पुरुष वा वृद्ध हों उन सब को अत्यन्त श्रद्धा से उत्तम अन्न, वस्त्र, सुन्दर यानादि देकर अच्छे प्रकार तृप्त करना, जिससे उनका आत्मा तृप्त और शरीर स्वस्थ रहे—यही श्राद्ध और तर्पण है।

चौथा 'वैश्वदेव' यज्ञ है। जब भोजन सिद्ध हो जाये, तब उसमें से खट्टा, लवणान्न और क्षार युक्त को छोड़कर घृत-मिष्ट युक्त अन्न लेकर मन्त्रों से आहुति दे दें। तथा कुछ भाग पत्ते या थाली में भी मन्त्रों से आहुति देते समय रखता जाय। यदि कोई अतिथि हो तो उसको दे दे, नहीं तो अग्नि में ही

छोड़ देवें । इसी प्रकार किसी दुःखी प्राणी अथवा कुत्ते, कव्वे आदि के लिये भी छः भाग अलग रख दे—पश्चात् उनको दे दिये जायें ।

अतिथि यज्ञ भी आवश्यक है । यदि अकस्मात् कोई धार्मिक, सत्योपदेशक, सब के उपकारार्थ सर्वत्र घूमने वाला पूर्ण विद्वान, परमयोगी,संन्यासी गृहस्थ के यहाँ आ जाये तो उसका यथाविधि सत्कार करना, खान-पानादि से सेवा-शुश्रूषा करना परम कर्त्तव्य है । समयानुसार गृहस्थ और राजादि भी अतिथिवत् सत्कार करने योग्य हैं । परन्तु पाखण्डी, वेदनिन्दक, वेदविरुद्ध आचरण करने वालों का वाणी मात्र से भी सत्कार न करे—क्योंकि इनका सत्कार करने से ये वृद्धि को पाते हैं—संसार को अधर्मयुक्त करते हैं, और अपने सेवकों को भी अविद्या रूपी महासागर में डुबो देते हैं ।

इन पाँचों महायज्ञों का अत्युत्तम फल होता है । धर्म की वृद्धि होकर संसार में सुख का संचार होता है ।

गृहस्थ को अपनी दिनचर्या का भी विशेष ध्यान रखना आवश्यक है । रात्रि के चौथे प्रहर अथवा चार घड़ी रात से उठे । आवश्यक कार्य से निवृत्त हो, धर्म और अर्थ, शरीर के रोगों का निदान और परमात्मा का ध्यान करे । अधर्म का आचरण कभी न करे ।

अधर्मात्मा मनुष्य मिथ्याभाषण, कपट, पाखण्ड और विश्वासघातादि कर्मों से पराये धन और पदार्थों को लेकर बढता है, धनादि ऐश्वर्य, यान, स्थान, मान—आदि प्रतिष्ठा को भी प्राप्त कर लेता है—परन्तु शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, जैसे जड़ से कटा हुआ वृक्ष । इसलिये गृहस्थों को उचित है कि विद्वान्, पक्षपातरहित होकर सत्य का सदैव ग्रहण करें—असत्य का परित्याग करें । न्याय रूप वेदोक्त धार्मिक मार्ग ग्रहण करें—अन्यों को भी इसी प्रकार की शिक्षा दिया करें ।

धर्म से धन को कमायें । और ऐसे धन को सद् पात्र में ही व्यय करें—अपात्र में धन का दुरुपयोग न करें । जो मनुष्य ब्रह्मचर्य सत्यभाषण आदि तपरहित हैं, अशिक्षित हैं और दूसरों के धन पर ही अपना दांत रखते हैं, उसी पर पलते हैं—यह तीनों प्रकार के अपात्र ही हैं । यह स्वयं भी डूबते हैं और अपने दाताओं को भी साथ डुबा लेते हैं ।

इस प्रकार गृहस्थ इस लोक और परलोक का सदा ध्यान रखें। धर्म का सञ्चय धीरे-धीरे करता जाये—क्योंकि धर्म ही के सहारे से दुस्तर दुःख सागर को जीव तर सकता है।

गृहस्थ जीवन में—विवाह होने के पश्चात् स्त्री के साथ पुरुष और पुरुष के साथ स्त्री बिक चुकी होती है। जो उनके पारस्परिक हाव-भाव, नख-शिखाग्र-पर्यन्त जो कुछ भी हैं—वह एक दूसरे के आधीन हो जाते हैं। अतः स्त्री वा पुरुष एक दूसरे की प्रसन्नता बिना कोई व्यवहार न करें। इन में बड़े अप्रियकारक काम व्यभिचार, वेश्या-पर-पुरुषगमनादि हैं—इन को छोड़ के अपने पति के साथ स्त्री और स्त्री के साथ पति सदा प्रसन्न रहें।

वर्णाश्रम-व्यवस्था

जिस प्रकार गृहस्थ अपने विवाह वर्णानुक्रम से करते हैं—वैसे ही वर्ण-व्यवस्था भी गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार होनी चाहिये। जो उत्तम विद्या स्वभाव वाला है, वही ब्राह्मण के योग्य और मूर्ख शूद्र के योग्य होता है और ऐसा ही आगे भी होगा।

जो नीच भी उत्तम वर्ण-कर्म-स्वभाव वाला होवे तो उस को भी उत्तम वर्ण में और जो उत्तम वर्णस्थ होके नीचे काम करे, तो उस को नीच वर्ण में अवश्य गिनना चाहिये।

यजुर्वेद के इकत्तीसवें अध्याय के ग्यारहवें मन्त्र—"ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद्०" का अर्थ भी यही है कि जो पूर्ण व्यापक परमात्मा की सृष्टि में मुख के सदृश सब में मुख्य—उत्तम हो, वह ब्राह्मण, बाहु-बल-वीर्य जिस में अधिक हो, वह क्षत्रिय; कटि के अधोभाग और जानु के उपरिस्थ भाग का ऊरू नाम है, जो सब पदार्थों और सब देशों में ऊरू के बल से जावे-आवे, प्रवेश करे, वह वैश्य; और जो पग के अर्थात् नीचे अङ्ग के सदृश मूर्खत्वादि गुण वाला हो वह शूद्र है। यही बात मनु ने भी कही है कि शूद्र कुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के समान गुण कर्म स्वभाव वाला हो तो वह शूद्र—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो जाये और वैसे ही जो ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य कुल में उत्पन्न हुआ हो और उसके गुण कर्म और स्वभाव शूद्र के सदृश हों तो वह शूद्र हो जाये—इसी प्रकार क्षत्रिय या वैश्य कुलोत्पन्न भी ब्राह्मण या शूद्र के समान होने से

ब्राह्मण और शूद्र भी हो जाता है। चारों वर्णों में जिस-जिस वर्ण के सदृश जो जो पुरुष वा स्त्री हो वह वह उसी वर्ण में गिनी जावे। इस विषय में अनेक प्रमाण हैं।

वर्ण-धर्म

चारों वर्णों के कर्त्तव्य कर्म और गुण भी पृथक्-पृथक् हैं।

पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, दान देना और लेना—ये छः कर्म ब्राह्मण के हैं। वास्तव में "प्रतिग्रह" लेना नीच कर्म है। 'शम, दम, तप, शौच, क्षान्ति, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य'—छ; पहिले और नौ पिछले मिलाकर—यह पन्द्रह कर्म और गुण ब्राह्मण वर्णस्थ मनुष्यों में अवश्य होने चाहियें।

इसी प्रकार ग्यारह क्षत्रिय वर्ण के कर्म और गुण हैं—अर्थात् प्रजारक्षण, दान, इज्या—अग्निहोत्रादि यज्ञ करना-कराना, अध्ययन, विषयों में न फंसना, शौर्य, धृति (धैर्य), दाक्ष्य—राज प्रजा सम्बन्धी व्यवहार और शास्त्रों में चतुराई, युद्ध से न डरना, न भागना, दान, ईश्वरभाव—पक्षपात रहित होकर सब के साथ यथायोग्य वर्तना—प्रतिज्ञा पूरी करना—यह क्षत्रियों के धर्म हैं।

वैश्यों के गुण-कर्म भी इसी प्रकार गिनाये गये हैं—अर्थात् पशु-रक्षा, दान, इज्या (अग्निहोत्रादि), अध्ययन, वणिक्पथ (सब प्रकार के व्यापार करना), कुसीद (व्याज-सौ वर्ष में भी दूने से अधिक न लेना), कृषि (खेती) करना—यह सब वैश्य-कर्म समझे गये हैं।

शूद्र को सेवा का अधिकार है। वह भी इसलिये कि वह विद्या रहित है, मूर्ख है। विज्ञान-सम्बन्धी काम कुछ भी नहीं कर सकता। वह केवल शरीर से ही कार्य कर सकता है—वही उससे लेना उचित है। वर्णों को अपने-अपने अधिकार में प्रवृत्त करना राजा आदि सभ्यजनों का काम है।

गृहस्थ का महत्त्व

इस प्रकार गृहस्थाश्रम (विवाह करके गृहस्थ बनना) बहुत महत्वपूर्ण आश्रम है। कुछ लोग पूछा करते हैं—यह आश्रम सब से छोटा है—अथवा बड़ा। हम

तो यही कहते हैं कि अपने-अपने कर्त्तव्य कर्मों में सब बड़े हैं, परन्तु जैसे नदी और बड़े-बड़े नद तब तक भ्रमते रहते हैं, जब तक समुद्र को प्राप्त नहीं होते, वैसे गृहस्थ ही के आश्रय से सब आश्रम स्थिर रहते हैं। बिना इस के किसी आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास तीनों आश्रमों को दान अन्नादि देकर गृहस्थ ही धारण करता है, इस से गृहस्थ ज्येष्ठाश्रम है अर्थात् सब व्यवहारों में धुरन्धर कहाता है। इसलिये जो मोक्ष और संसार के सुख की इच्छा करता है, वह प्रयत्न से गृहाश्रम को धारण करे।

जितना कुछ व्यवहार संसार में है, उसका आधार गृहस्थाश्रम है। जो यह गृहस्थाश्रम न होता तो सन्तानोत्पत्ति न होती—फिर ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम कहाँ से हो सकते ?

जो गृहस्थाश्रम की निन्दा करता है, वही निन्दनीय है—जो प्रशंसा करता है, वही प्रशंसनीय है।

परन्तु स्मरण रहे यह पुण्य गृहस्थाश्रम दुर्बलेन्द्रिय अर्थात् भीरू और निर्बल पुरुषों से धारण करने योग्य नहीं है। और गृहाश्रम में सुख भी तभी होता है, जब स्त्री और पुरुष दोनों परस्पर प्रसन्न, विद्वान्, पुरुषार्थी और सब प्रकार के व्यवहारों के ज्ञाता हों। इसलिये गृहस्थाश्रम के सुख का मुख्य कारण ब्रह्मचर्य और पूर्वोक्त स्वयंवर विवाह है। समावर्तन, विवाह और गृहस्थाश्रम के विषय में यह संक्षिप्त शिक्षा लिखी गयी है।

मैंने सत्यार्थप्रकाश को कम से कम १८ बार पढ़ा। जितनी बार मैं उसे पढ़ता हूं, मुझे मन और आत्मा के लिए कुछ नवीन भोजन मिलता है। पुस्तक गूढ़ सचाइयों से भरी पड़ी है।

—स्व० पं० गुरुदत्त विद्यार्थी एम० ए०

वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम

आवश्यकता और कर्त्तव्य

सत्यार्थप्रकाश के
पंचम समुल्लास के आधार पर

स्वामी अखिलानन्द सरस्वती
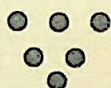
वैदिक धर्म में आश्रम-व्यवस्था के दो अतिम चरण हैं, वानप्रस्थ व संन्यासाश्रम । यह दोनों आश्रम आर्य संस्कृति की अपनी मौलिक विशेषता हैं । समाज के विकास और स्वस्थ नियंत्रण के लिए संन्यासी कर्मठ और जागरूक प्रहरी का कर्त्तव्य निभाता है ।

वानप्रस्थी एवं संन्यासी की स्थिति, कर्त्तव्य और धर्म सत्यार्थप्रकाश के पंचम समुल्लास में स्पष्टतया बताये गये हैं ।

आर्य संन्यासी ने अपने अनुभव के आधार पर प्रेरक ढंग से विषय को सभी के सम्मुख उपस्थित किया है ।

—*सम्पादक*

पाँच

प्राणी इस अथवा उस जगत में अपनी इच्छा से नहीं आया; परन्तु अपने कर्मानुसार आया, अपनी व्यवस्था से नहीं आया दूसरी सत्ता के द्वारा आया, जो आने वाले से प्रबल है, शक्ति में भी और ज्ञान में भी। संसार में आने का जीवनोद्देश्य भी बतला दिया कि तुझ को पूर्व कृत कर्मों के भोगों को भोगते हुए भविष्य के लिये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त करना है, किस प्रकार करना है, उसके साधन भी बतला दिये और न केवल बतला दिये किन्तु वह समस्त साधन उत्पन्न करके जो जिस योग्य था जैसे जिस के कर्म थे उनके अनुसार उन-उन को दे भी दिये।

उस महान शक्ति ने जिसकी व्यवस्था से मनुष्य संसार में आया, बतला दिया कि ऐ मनुष्य तू इस संसार में जितने साधन उपलब्ध हैं, इनका उचित प्रयोग कर और इन साधनों से आगे बढ़ने का प्रयत्न कर। यदि साधनों की कमी के कारण तुझे अपने उद्दश्य की प्राप्ति में कुछ कमी रहेगी तो पुनः तुम्हें उत्तम साधनों से परिपूर्ण किया जायगा। यहाँ तक कि अपने उद्देश्य को प्राप्त कर सब दुखों से बच कर मोक्ष को प्राप्त कर सकेगा।

व्यवस्थापक प्रभु ने यह भी आदेश दिया कि साधनों का प्रयोग, प्रयोग करने की योग्यता प्राप्त करके ही करना चाहिये ताकि उनके प्रयोगों में भूल न हो सके और उनके प्रयोग से पूरा लाभ उठाया जा सके इसलिये ऐ मनुष्य तू सर्व प्रथम अपने को बलवान् बना, शारीरिक उन्नति क साधनों का प्रयोग

कर । उत्तम गुरुओं द्वारा अपनी आत्मा को प्रभु के ज्ञान तथा ऋषियों द्वारा संगृहीत रस का पान कर बलवान बना । अपनी इन्द्रियों को विषयों से पृथक् रख जिससे यह इन्द्रियाँ बलवान बन कर पवित्र भी रह सकें और आज्ञा पालन करती हुई तुझे सीधे मार्ग से विचलित न करें । जीवन का एक चौथाई भाग तुझे इस प्रकार व्यतीत करना है मानो संसार में तेरे लिये सिवाय तेरे गुरु और परम गुरु प्रभु के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं । तेरा सत्संग केवल तुझ जैसे ही जीवन के प्रथम भाग के यात्री से हों, या उन पुस्तकों से हों जो शारीरिक व आत्मिक उन्नति के साधन हैं । इस जीवन के भाग में मनुष्य विशेष रूपेण जीवन के उद्देश्य के प्रथम भाग को प्राप्त कर अगले-अगले अन्य भागों की प्राप्ति के साधन जुटाने की चिन्ता में लगता है अर्थात् अर्थ और काम की ओर झुकता है । जहाँ अपने जीवन के सम्बन्ध को जो अब तक एकता की रीति में स्वयं को बनाने में लगता रहा अन्यों के साथ जोड़ता है और गृहस्थी बनता है । अपने गृहस्थ के भार को उठाने के योग्य बनकर उस भार को प्रसन्नता से लेता है । जन साधारण के सम्पर्क में आ कर अपने अनुकूल साधन द्वारा धर्म के साथ जिस का अभ्यास जीवन के प्रथम भाग में किया है अर्थ प्राप्ति में लग कर राष्ट्र के लिये उत्तम सन्तान पैदा करने का भी यत्न करता है । जीवन के इस भाग में अपने परिवार की चिन्ता के साथ-साथ अपने देश की भी चिन्ता करता है, देशवासियों के सम्पर्क में आकर देशवासियों के दु:खों को मिटाने का साधन बनता है और दूसरों के लिये सुख के साधनों को जुटाता है । दु:ख दूर करने के लिये संसार से अविद्या के नाश का बीड़ा उठाता है । विद्या के प्रसार व प्रचार के कार्य को जीवन का एक मात्र मुख्य कार्य बनाता है । या संसार में अन्याय से होने वाले दु:खों को मिटाने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर शारीरिक बल से जनता को और राष्ट्र को सहायता देता है । यदि उपरोक्त दोनों साधन अपने अनुकूल नहीं पड़ते हैं तो तीसरे प्रकार से उत्पन्न होने वाले दु:ख-अभाव को मिटाने का प्रयत्न करता है । संसार में अपनी रुचि व शक्ति के अनुसार उन वस्तुओं को उत्पन्न करने में जीवन को लगाता है जिनसे संसार का दु:ख दूर हो, और जनता का कल्याण होकर राष्ट्र को बल मिले । यदि यह भी न हो सके तब अन्त में जनसाधारण की अपने शरीर से

सेवा करना अपना ध्येय बना कर जीव यात्रा के दूसरे मार्ग का यात्री बनता है और संसार की सेवा कर अर्थ और काम अर्थात् धर्म के साथ अर्थ उपार्जन कर, धर्म के साथ उसका भोग कर जीवन को सफल बनाता है। संसार में सुख-वृद्धि में सहायक होता है। जीवन का यही दूसरा भाग जीवन का मुख्य भाग है यदि यह न हो तो अन्य नहीं हो सकें। यही भाग समस्त जीवन का आश्रयभूत है।

वानप्रस्थ का समय और उसके कर्त्तव्य

ईश्वरीय नियमानुसार जीवन का अर्द्ध भाग समाप्त होने के पश्चात् मनुष्य का शरीर कुछ विश्राम चाहता है। संसार के झंझटों से पृथक् हो कर जीवन के तीसरे भाग को इस प्रकार बिताना चाहता है कि जिससे शारीरिक परिश्रम कम हो और जनता का लाभ अधिक हो उस ही जनता के लाभ के साथ अपना लाभ भी निहित है, अब तक आत्मा अपने स्थूल शरीर से काम अधिक करती रही और सूक्ष्म से कम। स्थूल शरीर कार्य की अधिकता से थक जाता है, दुर्बल भी हो जाता है। मनुष्य बुढ़ापे की ओर झुक जाता है। शरीर की खाल मांस को छोड़ने लगती है। अत: अब मनुष्य जीवन के तीसरे भाग में पदार्पण करता है ताकि गृहस्थ से सम्बन्ध कम हो और अपने उत्पन्न करने वाले प्रभु की ओर ध्यान लगे, इस हेतु घरों की चार दीवारियों से पृथक् हो कर वनों में जाकर वास करता है। अपना सत्संग अपने ऋषि मुनियों से यदि साक्षात् सम्भव नहीं होता है तो पुस्तकों द्वारा रखता है और बहुधा दोनों ही रखता है; ताकि जीवन के प्रथम भाग में जितना ज्ञान प्राप्त किया था उसको पुन: दोहरा ले और आगे को भी बढ़ा दे। गृहस्थ में रह कर जो लगाव संसार से तथा सांसारिक वस्तुओं और व्यक्तियों से हो गया था। उसको काम करते-करते त्याग दे। अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर वैरागी बन कर वनवासी बने। अपनी पत्नी को यदि वह चाहे तो साथ रख सकता है। परन्तु वह केवल साथी ही रहे किसी प्रकार की भोग वासना समीप न आवे दोनों जितेन्द्रिय रहें, राग और द्वेष पर पूर्ण विजय प्राप्त कर सत्पथगामी बनें और सत्यव्रती बनें। अहिंसा आदि यमों और शौचादि नियमों का पालन करते हुए आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान की ओर गति निरंतर बनी रहे।

नित्य यज्ञ में कभी अवहेलना न हो। नानाप्रकार के सस्य आदि अन्न उत्तम प्रकार के शाक मूल फल कन्दादि से जिस प्रकार पूर्व से करता चला आया है पंच महायज्ञ निरंतर करता रहे और जो आहार अपने जीवन के लिये प्राप्त हो वही अपने लिये उपयोगी समझे। जिस प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषयों का त्याग किया उसी प्रकार जिह्वा के विषय स्वाद का भी पूर्ण परित्याग करे यदि कोई सौभाग्य से अतिथि आ जावे तो उसकी भी सेवा उन ही पदार्थों से श्रद्धा पूर्वक करे। संसार के मनुष्यों से घनिष्ठता कम करते हुए सब का मित्र रहे। अधिकारी को विद्यादि का दान निरंतर करता रहे। इसमें कंजूसी न करे। किसी से कुछ भी न लेकर इन्द्रियों का दमन सर्वदा सर्वथा करता रहे। शरीर के सुख के लिये अधिक प्रयत्नशील न बने। ब्रह्मचारी की भाँति कठिनाइयों को सहन करने वाला बना रहे। भूमि पर सोवे, अपने पास अधिक वस्तुएँ न रखे; जितनी हों उनसे भी ममता न करे और वृक्ष की जड़ में बस इस प्रकार जीवन व्यतीत करने पर मनुष्य शान्त और विद्वान् बन जाता है। वन में रह कर तपस्वी बन धर्म और सत्य का प्रेमी बन जाता है। भिक्षा माँग कर भोजन करता है। समय का सदुपयोग होता है और परमपिता परमात्मा में ध्यान लगा प्राण द्वार से उस परमात्मा को प्राप्त करने का पूर्ण प्रयत्न करता है।

इस प्रकार अविनाशी परमात्मा की उपासना से आनन्द की प्राप्ति चाहने वाला बने। उचित है कि वह दीक्षित होकर तीसरे आश्रम वानप्रस्थ को धारण कर वनवासी बने और वन में रह कर नाना प्रकार की तपश्चर्या, सत्संग, योगाभ्यास, ज्ञान और विचारों की पवित्रता को प्राप्त करता हुआ अपने को इस योग्य बना ले कि जीवन के चतुर्थ आश्रम में प्रवेश पाकर संन्यास आश्रम में प्रवेश होने से पूर्व स्त्री को पुत्र के पास छोड़ आवे।

संन्यास-प्रवेश

मनुष्य संन्यास आश्रम में प्रवेश करने से पूर्व यह भली प्रकार देख ले कि उसके त्याग और वैराग्य में कोई न्यूनता तो नहीं है। ऐसा कदापि न होना चाहिये कि अधूरा मन हो। जीवन का चौथा भाग ७५ वर्ष बीत जाने पर ७६ वें वर्ष से आरम्भ होता है। जब की उसका भोगों से कोई संबन्ध नहीं

रहता, सबका त्याग आवश्यक है। इस प्रकार संन्यास आश्रम में प्रवेश ठीक है प्रथम तो यह कि गृहस्थ से ही संन्यास ले ले वानप्रस्थ में न जावे दूसरा विकल्प यह है कि गृहस्थ भी न करे, ब्रह्मचर्य से ही संन्यास आश्रम में प्रवेश करे। यह दोनों विकल्प धर्मानुकूल हैं। जब मनुष्य के पूर्ण वैराग्य हो जावे मनुष्य गृहस्थ से सीधा संन्यासी हो सकता है। वानप्रस्थ तो बीच में है ही। इस कारण कि वानप्रस्थाश्रम में त्याग और वैराग्य की भावना को उत्पन्न करे। और गृहस्थ जिसको २५ वर्ष तक भोगा है, से जो राग है वह छुट जावे और वानप्रस्थ में पूर्ण वैराग्य प्राप्त करे। परन्तु जब गृहस्थ में ही वैराग्य प्राप्त हो गया तो वानप्रस्थ की आवश्यकता न रही सीधा संन्यास आश्रम को प्राप्त कर लेवे, ऐसी आज्ञा धर्म की है। इसी प्रकार जो पूर्ण विद्वान पूर्ण ब्रह्मचारी है, जिसको विषय भोग की कामना नहीं, जितेन्द्रिय है और परोपकार की भावना से परिपूर्ण है, वह ब्रह्मचर्य से ही सीधा बिना गृहस्थ में प्रवेश किये ही संन्यास आश्रम में प्रविष्ट हो सकता है। कोठपनिषद् के वल्ली मंत्र ३२ में वर्णन है।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

जो दुराचार से पृथक् नहीं, जिसको शान्ति नहीं, जिसका आत्मा योगी नहीं, और जिसका मन शान्त नहीं है। वह संन्यास लेके भी अज्ञान से परमात्मा को प्राप्त नहीं होता। इसलिये यह सत्य है कि ब्रह्मचर्य से सीधा संन्यास लेना कठिन है। काम को रोकना सुगम नहीं है। परन्तु सम्भव है, असम्भव नहीं। संसार में अब भी और पूर्व इतिहास में भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि विद्वानों ने सीधे संन्यास लिया है। हाँ जो निर्वाह न कर सके, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त न कर सके, वह ब्रह्मचर्य से संन्यास न लेवे। परन्तु जो निर्वाह कर सकता है, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त किये हुए है। जिसकी धारणा परोपकार में दृढ़ है। जो अपनी प्रतिज्ञा में चट्टान के समान अडिग है, वह क्यों न ले। जिस ब्रह्मचारी ने विषयों के दोषों को जान लिया है, जिसने वीर्य-रक्षा के गुण जाने हैं। वह विषय आसक्त कभी न होगा। और उसका वीर्य विचाराग्नि में इंधनवत काम करता है। औषध की आवश्यकता रोगी को

होती है । जो कामरोगी नहीं है, वह विवाह की औषधी क्यों खायगा । जिसको परोपकार करना है, वह गृहस्थ के झंझटों में न फंस कर सीधा संन्यास में ही जाना पसन्द करेगा ।

'यच्छेद्वाङ्मनसि प्राज्ञस्तद्यच्छेद् ज्ञानआत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ।।"
कठ वल्ली ३ । मं० १३

संन्यासी बुद्धिमान वाणी और मन को अधर्म से रोक कर उनको ज्ञान और आत्मा में लगावे और उस ज्ञान स्वात्मा को परमात्मा में लगावे और उस विज्ञान को शान्तस्वरूप आत्मा में स्थिर करे और भी देखे मुण्डक ख० ३ मं० । १२ में लिखा है ।

'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।।

सब लौकिक भोगों को कर्म से संचित हुए देखकर ब्राह्मण अर्थात् संन्यासी वैराग्य को प्राप्त होवे क्योंकि अकृत अर्थात् न किया हुआ परमात्माकृत अर्थात् केवल कर्म से प्राप्त नहीं होता । इसलिये कुछ अर्पण के अर्थ कुछ हाथ में लेके वेदवित् और परमात्मा जानने वाले गुरु के पास विज्ञान के लिए जावे । जाकर सब सन्देहों की निवृत्ति करे । परन्तु ऐसे गुरुओं के पास न जावे जो दुर्बुद्धि हों, अविद्या में फंसे हुए होने के बावजूद अपने को विद्वान् समझते हैं । ऐसों के पास जाकर मनुष्य दुःखों में फँसता है और ईश्वर को कभी नहीं पा सकता । इसलिए सन्यासी ईश्वर के दिए ज्ञान वेदों के अर्थ ज्ञान और आचार में भले प्रकार निपुण दम्भ रहित शुद्ध अन्तःकरण वाले परोपकारी संन्यासी के पास जाकर ही मुक्ति-प्राप्ति के साधनों को प्राप्त कर मुक्त होने का प्रयत्न करे । क्योंकि बिना मुक्ति के दुःख का नाश सम्भव नहीं । मुण्डक खं० २ मंत्र ६ छा० में भी ऐसा वर्णन है, कि जो देहधारी है वह सुख-दुःख की प्राप्ति से पृथक् कभी नहीं होता और जो शरीररहित जीवात्मा मुक्ति में सर्वव्यापक परमेश्वर को शुद्ध होकर प्राप्त करता है । उसको सांसारिक सुख-दुःख प्राप्त नहीं होता । इसलिए शतपथ का० १४ के मन्त्र १ के अनुसार लोक में प्रतिष्ठा वा लाभ, धन से भोग व मान, प्रजादि के मोह से पृथक् होकर भिक्षुक बनकर रात-दिन मोक्ष के साधनों में तत्पर रहे ।

यजुर्वेद के ब्राह्मण में भी लिखा है।

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं तस्यां सर्ववेदसं
हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेत्।
प्राजापत्यां निरूप्येष्टि सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्।

अर्थात् प्रजापति परमेश्वर की प्राप्ति के अर्थ इष्ट अर्थात् यज्ञ करके उसमें यज्ञोपवीत शिखा आदि चिह्नों को छोड़ आहवनीयादि पंच अग्नियों को प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन ५ प्राणों में आरोहण करके ब्राह्मण घर से निकल कर संन्यासी हो जावे। इसी प्रकार मनु जी भी कहते हैं कि "जो सब भूत प्राणी मात्र को अभयदान देकर घर से निकल कर संन्यासी होता है, उस ब्रह्मवादी अर्थात् परमेश्वर प्रकाशित वेदोक्त धर्मादि विद्याओं के उपदेश करने वाले संन्यासी के लिए प्रकाशमय अर्थात् मुक्ति का आनन्दस्वरूप लोक प्राप्त होता है।

संन्यासी का धर्म

संन्यासी का धर्म है कि वह पक्षपातरहित न्याय-आचरण, सत्य का ग्रहण असत्य का परित्याग वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा का पालन परोपकार सत्यभाषणादि कार्यों में तत्पर रहे। परन्तु इसके अतिरिक्त जब चले तो नीची दृष्टि रखकर इधर-उधर न देखकर चले, वस्त्र से छानकर पानी पीवे। किसी पर क्रोध न करे, अपनी निन्दा सुन कर भी, सदा भलाई का उपदेश करे। सत्य बोले, असत्य कभी न बोले, मांस-मदिरा का कभी सेवन न करे, धर्म-उपदेश और विद्या पढ़ाता रहे।

केश, नख, दाढ़ी मूंछ को छेदन कराता रहे, दण्ड और कुसुम के रंगे वस्त्रों को ग्रहण करके निश्चितात्मा से विचरे किसी को पीड़ा न दे। यह भी निश्चित जाने कि दण्ड कमण्डल काषाय वस्त्र आदि चिह्न धर्म का कारण नहीं हैं। संन्यासी सप्तव्याहृतियों से विधिपूर्वक प्राणायाम जितनी शक्ति हो उतने करे। परन्तु उसे न्यून न करे, यही संन्यासी का परमतप है जैसे अग्नि धातु के दोष को दूर करती है, वैसे ही संन्यासी का तप दोषों को दूर करता है। इसीलिये संन्यासी नित्य प्राणायाम से आत्मा इन्द्रिय और अन्तःकरण के दोषों को दूर किया करे और धारणा से पाप, प्रत्याहार से संगदोष, ध्यान से हर्ष, शोक, और अविद्या के अवगुणों का नाश करे।

संन्यासी धर्म के लक्षण जो निम्नलिखित हैं, पूर्णरूपेण जीवन में सेवन करते रहें—धृति, क्षमा, दमा, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय, निग्रह, धीर, विद्या, सत्य, अक्रोध इन दस लक्षणों पर अन्यों को चलाना भी संन्यासी का धर्म है।

सन्यासी कौन बने ?

एक प्रश्न है कि संन्यासी प्रत्येक व्यक्ति हो सकता है या कोई विशेष व्यक्ति ही संन्यास ले सकता है। समाधान इस प्रकार है, प्रत्येक संन्यास ले सकता है। यदि उसने संन्यास लेने की योग्यता प्राप्त कर ली है। यदि संन्यासी बनने की योग्यता प्राप्त नहीं की है तो नहीं बन सकता, जिस प्रकार कोई व्यक्ति आचार्य बन सकता है। परन्तु आचार्य बनने के लिए प्रथम शास्त्री बनना आवश्यक है। अत: कहा यही जावेगा कि आचार्य शास्त्री ही बन सकता है, जो शास्त्री नहीं है, वह नहीं बन सकता। इसी प्रकार यत: संन्यासी बनने के लिए पहले ब्राह्मण बनना आवश्यक है। अत: कहा जायगा कि ब्राह्मण ही संन्यासी बन सकता है। ब्राह्मण प्रत्येक मनुष्य बन सकता है। जो व्यक्ति ब्राह्मण के गुण, कर्म, स्वभाव अपने बना लेगा, वही संन्यासी हो सकता है। जन्म का ब्राह्मण यदि ब्राह्मण के गुण, कर्म, स्वभाव नहीं रखता, तो वह भी संन्यासी न बनेगा—मनु जी महाराज की भी ऐसी ही सम्मति है।

क्या संन्यास आवश्यक है ?

प्रश्न है कि क्या संन्यास लेना मनुष्य के लिए आवश्यक है, उत्तर है कि आवश्यक है। कुछ जो व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि आवश्यक नहीं, वह ठीक नहीं कहते। जिस प्रकार देश और जाति को अपने जीवन-रक्षार्थ वैश्य और क्षत्रिय की आवश्यकता है। इसी प्रकार संन्यासी की भी आवश्यकता है, बिना क्षत्रिय के देश की रक्षा सम्भव नहीं, बिना वैश्य के कृषि आदि का काम सम्भव नहीं। इसी प्रकार धर्म के और विद्या के प्रचार तथा प्रसार के लिए संन्यासी की आवश्यकता है। देश को यदि अन्न की आवश्यकता है, तो देश को धर्म और विद्या की भी उससे कम आवश्यकता नहीं। जिस प्रकार अन्न उत्पन्न करने के लिए वैश्य की आवश्यकता है। इसी प्रकार देश को उलटे मार्गों पर जाने से रोकने के लिए और धर्मानुकूल कार्य करने की शिक्षा देने के लिए संन्यासी की आवश्यकता है। संन्यासियों के देश में न होने से ही देश की दुर्गति हुई। हां यह ठीक है कि संन्यासी संन्यासी ही होना चाहिये।

जो काम संन्यासी कर सकता है, वह काम गृहस्थी नहीं कर सकता। उसके पास इतना समय नहीं, संन्यासी को अपना कोई काम नहीं, परोपकार करना ही उसका काम है। दो गृहस्थी यदि परस्पर लड़ने लग जावें तो कितनी बड़ी हानि होती है। संन्यासी उनको अपने उपदेश से लड़ने से बचा सकता है, यह कहना भी किसी-किसी का मिथ्या है कि संन्यासी बन जाने से सृष्टि की हानि होगी। क्योंकि जब संन्यासी विवाह नहीं करेगा तो सन्तान कहाँ से आवेगी। यह ठीक विचार नहीं, क्योंकि संन्यास तो गृहस्थ आश्रम के पश्चात् ही होता है। ब्रह्मचर्य से सीधा संन्यास लेने वालों की संख्या तो अत्यन्त न्यून होगी। अतः यह कल्पना करना कि सृष्टि की हानि होगी, मिथ्या ही है। दूसरे यह कि अनेक गृहस्थियों के विवाह कर लेने पर भी सन्तान नहीं होती तो विवाह से लाभ न हुआ।

किन्हीं-किन्हीं का कहना है कि संन्यास लेने के पश्चात् संन्यासी के कुछ कर्तव्य नहीं, समस्त संसार मिथ्या है, सब ब्रह्म है इत्यादि। परन्तु यह कहने वाले कि 'सब मिथ्या है', में स्वयं भी आ जाते हैं और वह भी मिथ्या ही बन जाते हैं, जो कहता है कि संन्यासी का कुछ कर्तव्य नहीं यह भी ठीक नहीं। संन्यासी का भोजन आदि कर्म नहीं छूट जाता है तो शुभ कर्म जो दूसरों को सत्योपदेश करना है वह भी नहीं छूट सकता। संन्यासी का यह परम कर्तव्य है कि संसार को सीधे मार्ग पर चलावे सबका उपकार करे।

लोगों की यह कल्पना भी है कि संन्यासी अग्नि तथा धातु को हाथ न लगावे। उपदेश करना गृहस्थियों का काम है, संन्यासी का नहीं। संन्यासी को इन झंझटों में नहीं पड़ना चाहिए। संन्यासी कहीं अधिक न ठहरे अधिक से अधिक ३ रात्रि ठहरे, इससे अधिक कहीं न ठहरे। और किसी को उससे स्वर्ण ग्रहण कर नरकगामी न बनावे इत्यादि अनेक बातें हैं जो संन्यासी का कर्तव्य नहीं हैं।

जो लोग ऐसा कहते हैं वह सत्य नहीं है, स्वार्थी लोगों की अपनी दूषित मनोवृत्ति की कल्पनाएँ हैं जरा विचारिये कि जब किसी व्यक्ति ने संसार को त्यागा ही इसलिए है कि वह स्वार्थ छोड़कर संसार का उपकार करेगा तो किस प्रकार सम्भव है कि संन्यासी संसार की समस्त वस्तुएँ त्याग देगा शरीर को स्थिर स्वस्थ रखने के हेतु संसार की उन वस्तुओं से सम्पर्क रखना आवश्यक है। जिनसे शरीर रह सके, ताकि जनता का उपकार करने में कोई बाधा न आवे। इसमें चाहे धातु हो या काष्ठ हो, संन्यासी के पास समय अधिक होता

है, गृहस्थी के पास समय नहीं होता । अतः जितना प्रचार गृहस्थी कर सके उतना वह करे, परन्तु संन्यासी अधिक कर सकता है, उसको प्रचार न करना चाहिये यह बिलकुल गलत है, संन्यासी संसार का जितना उपकार कर सकता है, उतना कोई नहीं कर सकता । संन्यास आश्रम में न केवल पुरुष ही प्रवेश लें, अपितु स्त्रियाँ भी उसमें प्रवेश लें और स्त्रियाँ स्त्रियों में काम करें, अर्थात् स्त्रियों को धर्म का उपदेश करें । सन्यासी को भ्रमण का अवकाश अधिक है । उनका कार्य भ्रमण करते हुए अधिक हो सकता है । यह ठीक है कि एक स्थान पर अधिक न ठहरे । परन्तु इससे प्रचार-कार्य अधिक नहीं हो सकता, पूर्वकाल में एक राज्य में एक स्थान पर ४-४ मास तक भी रहा करते थे । अतः आवश्यकतानुसार अधिक भी रहे ।

देश का कल्याण किसमें है, यह संन्यासी अधिक जानता है और उसी के अनुसार करता भी है । यह कहना कि संन्यासी के पास कोई धातु न हो, सोना, चांदी न हो यह देश व जाति के हित की बात नहीं । यदि संन्यासी के पास उसकी आवश्यकता की समस्त वस्तुएँ होंगी तो वह किसी के आधीन भी न रहेगा और हरेक की समालोचना निर्भीक होकर करेगा—संन्यासी की अधिक से अधिक सेवा करनी चाहिए और ऐसे संन्यासी की जो अपने जीवन को उपकार में लगाता हो, हाँ यह सत्य है कि सन्यासी अपने पास अधिक न रखे ।

किसी-किसी का कहना है कि श्राद्ध में संन्यासी न आवे, अन्यथा पितर भाग जाते हैं । यह बात भी नितांत गलत और भ्रमोत्पादक है । मृत पितर कभी आते ही नहीं, न ही कुछ दिया हुआ उनको पहुँचता है । श्राद्ध तो संन्यासियों का किया जाता है । संन्यासी श्राद्ध में से भगा दिये जायें या उनका आना निषिद्ध है, यह तो बिल्कुल ही अनोखी बात है । पितर तो हमारे संन्यासी माता-पिता और देश के विद्वान् ही हैं और जिनको पितर आप मानते हैं वह तो मर कर पुनः जन्म पाते हैं कहाँ जाते हैं, यह आप जानें न हम । तब आपकी भेजी वस्तु किस प्रकार कहाँ जा सकती है ।

संन्यासियों में ऐसे साधु जो केवल पेट के पुजारी हैं, जो वैरागी, गुसाईं, खाकी आदि हैं; उनको संन्यासी नहीं गिनना चाहिए । क्योंकि इनसे देश का कोई लाभ नहीं होता । यह सब स्वार्थी हैं । अपने प्रपंच में जनता को फँसाने वाले हैं । परन्तु जो संन्यासी जन समूह के हितैषी हैं, सबका कल्याण करने में सर्वदा तत्पर रहते हैं और लोक तथा परलोक का ज्ञान देकर उनको मोक्ष का अधिकारी बनाते हैं, वह पूजनीय और श्रद्धा के पात्र हैं ।

राज्य-व्यवस्था की वैदिक प्रणाली

श्री पं० रामगोपाल शास्त्री

राजधर्म

प्रो० रणजीतसिंह
एम० ए०, एम० ओ० एल०

सत्यार्थ प्रकाश के छठे समुल्लास के आधार पर

संसार में किस प्रणाली के आधार पर राज्य-व्यवस्था संचालित हो, यह प्रश्न आज भी विचारकों के सम्मुख है !

महर्षि नें छठे समुल्लास में राज्य-व्यवस्था पर वैदिक दृष्टिकोण उपस्थित कर राजा और प्रजा के धर्म, अधिकार और कर्तव्यों का निर्देशन किया है।

तीन पृथक् सभाएँ, सभा के आधीन राजा, राजा के आधीन प्रजा, प्रजा के आधीन सभा की स्थिति, दुर्ग विधान, क्षत्रियों का धर्म, राज्य-प्रबन्ध, शत्रु से व्यवहार, दण्ड-विधान आदि विषयों पर महर्षि का मार्ग-दर्शन राजनीति की अनेक समस्याओं का हल है।

इस गम्भीर विषय को दोनों विद्वानों नें सरल और ग्राह्य प्रकार से हमारे सम्मुख उपस्थित किया है।

—*सम्पादक*

व्यक्तः

समाज में व्यवस्था और शान्ति बनाए रखने के उद्देश्य से ईश्वर का आदेश है कि राजा और प्रजा के पुरुष मिल के सुख-प्राप्ति और विज्ञान-वृद्धि के लिए राज्य की स्थापना करें और वह राज्य विद्यार्यसभा, धर्मार्यसभा तथा राजार्यसभा बना करके चलावें।

एक व्यक्ति को राज्य का स्वतन्त्र अधिकार न देना चाहिए। जैसे सिंह हृष्ट-पुष्ट पशु को मार कर खा जाता है, वैसे ही अकेला स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश कर देता है और किसी को अपने से अधिक नहीं होने देता, प्रत्युत प्रजा के धन को लूट-खसूट कर अन्याय से राज्य करके अपना प्रयोजन सिद्ध करता है।

प्रजा को राज्य-संचालन के लिए सभापति (राजा) चुनना चाहिए। वह सभापति देश के ऐश्वर्य का बढ़ाने वाला, पक्षपातरहित, न्याय, धर्म, विद्या का प्रकाशक, अन्याय निरोधक, दुष्टों को दण्ड देने वाला, श्रेष्ठ पुरुषों को आनंदित करने वाला, राज्य कोष को पूर्ण करने वाला, विद्या, विनय युक्त, जितेन्द्रिय और संयमी होना चाहिए।

राजा और प्रजा को राज्य-प्रबन्ध के लिए ऊपर लिखी हुई तीन सभाओं के लिए निम्न प्रकार के अधिकारी नियुक्त करने चाहिएँ। महाविद्वानों को विद्या-सभा अधिकारी; धार्मिक विद्वानों को धर्मसभा अधिकारी; प्रशंसनीय, धार्मिक

तथा नीतिनिपुण पुरुषों को राजसभा का अधिकारी बनावें। तीनों सभाओं की सम्मति से राज्य-शासन के उत्तम नियम बनावें और सभापति तथा प्रजा उन नियमों के आधीन राज्य का व्यवहार चलावें।

इस प्रकार राज्य का अधिकार किसी एक स्वतंत्र व्यक्ति के आधीन नहीं रहना चाहिए। सभापति (राजा) के आधीन सभा, सभा के आधीन राजा, राजा और सभा प्रजा की सम्मति के अनुसार कार्य करें। प्रजा राज सभा के नियमों के अधीन रहे। इस प्रकार प्रजा और राजसभा एक दूसरे के आधीन रह कर देश के ऐश्वर्य की समृद्धि करें।

इन तीनों सभाओं में मूर्खों की कभी भरती न करे, किन्तु सदा धार्मिक और और विद्वान पुरुषों की नियुक्ति करें। बहु संख्या वाले अज्ञानी सहस्रों मिल के जो कुछ व्यवस्था करें वह कभी भी मान्य नहीं हो सकती। प्रत्युत वेदादि शास्त्रों के विद्वान्, धार्मिक अल्प संख्या वाले जिस धर्म की व्यवस्था करें वही व्यवस्था श्रेष्ठ और मान्य है।

इस प्रकार तीन सभाओं द्वारा बनाए गए शासन-विधान को कार्यरूप में परिणत करने के लिए भिन्न-भिन्न विभागों में भिन्न-भिन्न राज्याधिकारी अपने राज्य और स्वदेश में उत्पन्न हुए हों। विविध शास्त्रों के ज्ञाता शूरवीर कुलीन, सुपरीक्षित, सच्चरित्र, निश्चित बुद्धि और चतुर हों।

जितने भी मनुष्य राज्यकार्य-सिद्धि के लिए नियुक्त किये जावें वे सब आलस्यरहित, बलवान, सदाचारी, राज्य और स्वदेश के भक्त हों।

राज्य और दंड

जो राजा दण्डनीयों को दण्ड नहीं देता और अदण्डनीयों को दण्ड देता है उस राजा के राज्य में कभी शान्ति और सुख नहीं रहता। दंड को अच्छे प्रकार से चलाने वाला धर्म, अर्थ, काम की सिद्धि को प्राप्त करता है। जो लम्पट, क्षुद्र, नीच-बुद्धि न्यायाधीश होता है वह दंड से ही मारा जाता है। जिस राजा के राज्य में डाकू लोग रोती तथा विलाप करती हुई प्रजा के पदार्थों और प्राणों को हरते रहते हैं उसका राज्य स्थिर नहीं रहता। राजा को चाहिए कि दंड को ही सब कुछ समझे। दंड ही राजा, न्याय का प्रचारक और सब का

शासन करने वाला है। दूसरे शब्दों में दंड ही राज्य है। दंड के यथावत् न होने से राज्य की सब मर्यादाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और प्रजा दुःखी होती है। जैसे धान्य का निकालने वाला छिलकों को अलग करके धान्य की रक्षा करता है। इसी प्रकार राजा का कर्तव्य है कि डाकू, चोर, भ्रष्टाचारियों का नाश करके प्रजा की रक्षा करे। जो भी राजपुरुष तथा राज्याधिकारी गुप्त धन (रिश्वत) ले के पक्षपात द्वारा प्रजा पर अन्याय करता है, राजा का कर्तव्य है कि उस पुरुष का सर्वस्व हरण करके उसको अधिक से अधिक दंड देवे और उसे ऐसे स्थान पर रखे कि जहाँ से पुनः लौट कर न आ सके। क्योंकि यदि उसको दंड न दिया जावे तो उसको देख कर अन्य पुरुष भी ऐसे ही दुष्ट काम किया करेंगे।

न्याय-शासन ठीक रूप से चलाने के लिए राजा का कर्तव्य है कि बड़े से बड़ा अधिकारी, आचार्य, मित्र, स्त्री, पुत्र और पुरोहित भी क्यों न हो उसे भी पूरा दंड देवे। राजा से छोटे भृत्य पर्यन्त राजपुरुषों को अपराध में प्रजा-पुरुषों से अधिक दंड होना चाहिए।

राज्य की व्यवस्था कठोर दंड से ठीक बनी रहती है। कड़ा दंड देने पर कई आपत्ति करते हैं कि कड़ा दंड न देकर कोमल दंड देना चाहिए। वे लोग राजनीति को नहीं समझते। एक पुरुष को कठोर दंड देने से सब लोग बुरे काम करने से अलग रहेंगे और बुरे काम को छोड़ कर धर्ममार्ग में स्थित रहेंगे। एक राई भर भी यह कठोर दंड सब के भाग में न आवेगा और जो सुगम दंड दिया जावेगा तो दुष्टता बढ़ जावेगी।

जो-जो नियम राजा और प्रजा के सुखकारक और धर्मयुक्त समझें उन-उन नियमों को तीन सभाओं द्वारा नित्य बाँधा करें। नीचे लिखे नियमों को सदा दृष्टि में रखें—

(१) जहां तक बन सके बाल्य-अवस्था में विवाह न करने दे।

(२) युवा अवस्था में भी पति-पत्नी की प्रसन्नता के बिना विवाह न होना चाहिये।

(३) ब्रह्मचर्य का यथावत सेवन करना और कराना चाहिये ।

(४) व्यभिचार और बहु विवाह को बंद करे जिससे शरीर और आत्मा में पूर्ण बल बढ़ता रहे ।

(५) सर्वदा आत्मा और शरीर के बल को बढ़ाते रहना चाहिये ।

(६) बल और बुद्धि का नाशक व्यभिचार और अतिविषय सेवन है विशेषतया क्षत्रियों को दृढ़ाँग और बलयुक्त होना चाहिये ।

(७) राजपुरुषों को अति उचित है कि कभी दुष्टाचार न करे, किन्तु सब दिन धर्म-न्याय से वर्त कर सब के सुधार का दृष्टान्त बनें । ध्यान रखना चाहिये कि प्रजा सदा ही राजा और राज पुरुषों का अनुकरण करती है । यदि वे श्रेष्ठ होंगे तो प्रजा भी श्रेष्ठ होगी ।

(८) राज्य की उन्नति के लिए आवश्यक है कि प्रजा धनाढ्य, नीरोग, खानपान, वस्त्र, निवास तथा शिक्षा आदि से परिपूर्ण हो । इन आवश्यक बातों की ओर राज्य को अधिक ध्यान देना चाहिए विशेषकर के किसानों का संरक्षण करे । किसान राजाओं का राजा है और सबसे अधिक परिश्रम करने वाला है उन्हें कभी भी खानपान, छादन, निवास और धन से रहित न होने दे ।

(९) राज्य का कर्तव्य है कि सब राज पुरुषों को और अन्य प्रजाजनों को भी युद्ध की शिक्षा अवश्य दे । जो पूर्व शिक्षित योद्धा होते हैं, वही अच्छे प्रकार से युद्ध में लड़ सकते हैं ।

(१०) जो कोई योद्धा युद्ध में मर गया हो उसकी स्त्री तथा असमर्थ संतान का यथावत् पालन करे । जब उसके लड़के समर्थ हो जावें तब उनको राज्य में यथायोग्य अधिकार देवे ।

(११) राज्य कार्य में विविध प्रकार के अध्यक्षों को नियत करे और सदा उनके काम की देखभाल करता रहे । जो यथावत् काम करें उनका सत्कार और जो विरुद्ध करें उनको दंड देवें ।

(१२) प्रजा की साधारण सम्मति के विरुद्ध कोई काम न करे ।

(१३) राज्य का कर्तव्य है कि देशाचार और शास्त्र व्यवहार के आधार पर विवादयुक्त कर्मों का निर्णय शीघ्रातिशीघ्र करे।

(१४) राज्य की रक्षा और शत्रुओं को पराजित करने के लिए सदा ही शस्त्रास्त्रसंयुक्त प्रशंसनीय तथा बलवती सेना का निर्माण करे।

(१५) प्रजा से इस प्रकार कर (Tax) ले कि जिससे प्रजा भी दुःखी न हो और राज्य का कार्य भी बिना किसी विघ्न के चलता रहे।

(१६) राज्य में ऐश्वर्य्य वृद्धि के लिए शिक्षा, उद्योग तथा व्यापार की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए।

●

● आर्यसमाजी वेदों के सच्चे अनुयायी हैं। प्रत्येक ● हिन्दू की दृष्टि में बाइबिल की तरह पूजनीय बन गया है—ऋषि दयानन्द का सत्यार्थप्रकाश।

कारागार की छड़ों के पीछे एक वर्ष तक 'सत्यार्थ-प्रकाश' मेरा मित्र, प्रकाशस्तम्भ और जीवन बना रहा। सत्यार्थप्रकाश में वेद का तत्व है। इसके महत्व को कम करने का अर्थ है कि वेदों के बहुमूल्य सार की प्रतिष्ठा तथा मूल्य को कम किया जाये।

● —श्री सी० एस० रंगा ऐयर एम० ए० ●

● ●

राजधर्म

राजधर्मके विषय में महर्षि की नूतन प्रेरणाएँ एवं उद्भावनाएँ हैं। उन्होंने अपने सत्यार्थप्रकाश में इन उद्भावनाओं को तीन प्रकार से प्रकट किया है। प्रथम "इसका अभिप्राय यह है" यह कहकर, द्वितीय—"अर्थात् द्वारा", और तृतीय" प्रश्नोत्तर विधि से।

अस्तु ! अब यहाँ सत्यार्थप्रकाश के षष्ठ-समुल्लास में वर्णित राजधर्म की संक्षिप्त एवं पक्षपातरहित समालोचना प्रस्तुत की जाती है, जिससे पाठक महर्षि द्वारा मान्य राजधर्म के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकें :—

राजा ब्राह्म हो

महर्षि के विचारों के अनुसार राजा को अपने क्षात्रधर्म के अतिरिक्त ब्राह्मण के गुणों से भी युक्त होना चाहिए। इसके लिए वे मनुस्मृति का यह श्लोक लिखते हैं और इसका अर्थ इस प्रकार देते हैं :—

"ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि।

कि जैसा परम विद्वान् ब्राह्मण होता है, वैसा विद्वान् सुशिक्षित होकर क्षत्रिय को योग्य है"। यहाँ महर्षि का अभिप्राय यह है कि राजा शस्त्रों के साथ शास्त्रों का भी वेत्ता हो जिससे वह न्यायपूर्वक प्रजा की रक्षा कर सके। इन बातों से यह भी सिद्ध होता है कि राजा कम से कम पच्चीस वर्ष तक शस्त्र तथा शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन करे। महर्षि दयानन्द राजा का

अल्पायु होना स्वीकृत नहीं करते। इसीलिए तो उन्होंने अपने सत्यार्थप्रकाश में मनु द्वारा मान्य यह सिद्धान्त कि :—

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।

अर्थात् चाहे राजा बालक भी हो, उसका अपमान मनुष्यों को नहीं करना चाहिए, का वर्णन नहीं किया है। इससे यह ध्वनि भी स्पष्ट निकलती है कि महर्षि जी के मन्तव्य के अनुसार "राजा का पद" पैतृक न होकर गुणों पर पूर्ण रूप से अवलम्बित है। इसी बात को महर्षि इस प्रकार कहते हैं :—

तं सभा च समितिश्च सेना च।

× × ×

सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः।

(तम्) उस राजधर्म को (सभा च) तीनों सभा (समिति च) संग्रामादि की व्यवस्था और (सेना च) सेना मिलकर पालन करें। सभासद और राजा को योग्य है कि राजा सब सभासदों को आज्ञा देवें कि हे (सभ्य) सभा के योग्य मुख्य सभासद तू (मे) मेरी (सभाम्) सभा की धर्मयुक्त व्यवस्था का (पाहि) पालन कर और (ये च) जो (सभ्याः) सभा के योग्य (सभासदः) सभासद हैं, वे भी सभा की व्यवस्था का पालन किया करें। इससे एक बात और भी स्पष्ट होती है कि प्रत्येक सदस्य को सभा के नियमों के साथ-साथ सभाध्यक्ष की व्यवस्था भी माननी योग्य है। परन्तु आजकल की विधान-सभाओं एवं लोक सभा तक में इन नियमों की अवहेलना हम नित्य प्रति होते देखते हैं। इस प्रकार की घटनायें राष्ट्र के निर्माण में विघटन का उबाल उत्पन्न करने वाली होती हैं। इसका मुख्य कारण है कि महर्षि द्वारा कथित सभासदों के गुण इन सदस्यों में नहीं पाये जाते। सभासद के गुण आगे लिखे जायेंगे।

आगे महर्षि अपने मन्तव्य को इस प्रकार प्रकट करते हैं "इसका अभिप्राय यह है कि एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देना चाहिए। किन्तु राजा जो सभापति, तदाधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के आधीन और प्रजा राजसभा के आधीन रहे"। महर्षि के इन विचारों में मौलिक विचार प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। संसार का कोई भी देश आज तक इस प्रकार के संविधान की व्यवस्था न कर सका, यह कितने विस्मय की बात है

महर्षि दयानन्द यहाँ कहते हैं कि सभा राजा के आधीन हो। इससे सभा के सदस्य अपनी इच्छा से राजद्रोह आदि कार्य नहीं कर सकते, तथा साथ में राजा भी उस सभा के आधीन होगा, इससे राजा की निरंकुशता पर प्रतिबन्ध लग जाता है। इस प्रकार कोई भी कार्य उसी समय पूर्ण समझा जाता है जबकि उस की स्वीकृति राजा तथा सभा दोनों एक मत होकर दें।

ऐसा समय भी आ सकता है, जब कि राजा तथा सभा दोनों मिल कर राष्ट्र को हानि पहुँचाने का गुप्त प्रयत्न करें। इस अवस्था को रोकने के लिए महर्षि ने लिखा है कि राजा तथा सभा दोनों प्रजा के आधीन होने चाहिएँ। प्रजा भी अपने इस महत्त्व का कहीं अनुचित लाभ न उठाले, अत: उन्होंने पुनः कहा कि प्रजा राजसभा के आधीन हो। इस प्रकार महर्षि ने राज्यचक्र स्थापित किया है, जिससे राष्ट्र का प्रत्येक अंग स्वतन्त्र न होकर एक दूसरे के आधीन है।

महर्षि जी ने धर्म को प्रधानता प्रदान करते हुए विद्यासभा, धर्मसभा तथा राजसभा (न्यायसभा) तीन सभायें स्वीकृत की हैं :

सभाध्यक्ष

इन तीनों सभाओं के अध्यक्ष किन गुणों से समन्वित हों, इस बात का परिचय देना भी महर्षि जी नहीं भूले; उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा :—

तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥

अर्थात् जो सूर्यवत् प्रतापी होकर अपने तेज से सब मनुष्यों के बाहर एवं भीतर दोनों को तपाने वाला हो, जिसको पृथ्वी पर कड़ी दृष्टि से देखने में कोई भी समर्थ न हो। जो अपने प्रभाव से अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा के समान हो। धर्म प्रकाशक, धन वर्धन, दुष्टों का दमन करने वाला तथा बड़े ऐश्वर्य वाला हो, वही सभाध्यक्ष होना ठीक है। परन्तु आज के भारत में सभाध्यक्ष बनाते समय इन बातों का कोई भी ध्यान नहीं रखता। आजकल तो दलों की

दल-दल में फँसकर बुद्धिमान सदस्य भी बहुश्रुत को छोड़कर अल्पश्रुत को सभाध्यक्ष बना डालते हैं। इस प्रकार के अध्यक्ष अपने दल के सदस्यों की कठपुतली ही बने रहते हैं, क्योंकि उनमें स्वतन्त्र विचार की कमी होती है।

सच्चा राजा दण्ड

महर्षि दयानन्द आलंकारिक रूप में दण्ड को ही सच्चा राजा बतलाते हैं। क्योंकि हम दैनिक जीवन में देखते हैं कि राजा से भय खाने का अर्थ लोग उसके द्वारा मिलने वाले दण्ड से लेते हैं। दण्ड के विषय को लेकर संस्कृत-साहित्य में बहुत कुछ लिखा गया है। कौटिल्य अर्थ-शास्त्र में अनेक आचार्यो के मत निर्देशन के अध्याय में लिखा गया है "आन्वीक्षकीत्रयी वार्तानां योगक्षेमसाधनो दंडः"

अर्थात् आन्वीक्षकी (न्याय विद्या) त्रयी (वेद विद्या) और वार्ता (कृषि, पशुपालन एवं व्यापार) इनके सुचारु रूप से संचालन के लिए दंड ही एक मात्र समर्थ है। आगे चल कर इसी प्रसंग में कहा है" तस्यामायत्ता लोकयात्रा" अर्थात् इस दंड नीति के आधीन ही सारी संसार यात्रा है। परन्तु कौटिल्य इस नीति विपक्ष में अपना मत देते हुए कहते हैं—

"नेति कौटिल्यः। तीक्ष्णदण्डो हि भूतानामुद्वेजनाय।
मृदुःदण्डः परिभूयते। यथार्थदण्डः पूज्यः"।

अर्थात् तीक्ष्ण दंड देने से प्रजा उखड़ जाती है और जो राजा थोड़ा और मृदु दंड देता है, लोग उसका तिरस्कार करने लग जाते हैं। इससे राजा को उचित है कि वह दंड का उचित प्रयोग करे। महर्षि दयानन्द ने भी अपने सत्यार्थ-प्रकाश में इनसे मिलते-जुलते विचार प्रकट किये हैं। उन्होंने लिखा है "कि जहाँ दंड सारी प्रजा को शासन में रखता है, वहां उसका सदुपयोग ही एक मात्र मुख्य कारण हैः—

समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रंजयति प्रजा।।

अर्थात् भली प्रकार सोच समझ कर दिया गया दंड सदा प्रजा को प्रसन्न रखता है। यदि इस दंड का उचित प्रयोग न किया जाय तो यह सर्व प्रकार से राजा को नष्ट कर देता है। महर्षि ने अपने सत्यार्थप्रकाश में यह लिख कर कि—"यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा" दंड का मानवीकरण

किया है। मानवीकरण के साथ-साथ यह श्लोक शब्द चित्र का भी सुन्दर दृष्टान्त है। यहाँ दंड को श्याम वर्ण कह कर उसकी भयानकता का दिग् दर्शन करवाया गया है। तथा लोहिताक्ष कह कर दंड के क्रोधी स्वभाव का परिचय दिलाया गया है।

परन्तु यह कृष्ण वर्ण, लोहिताक्ष दंड किस प्रकार के राजा के वशीभूत होकर उसका सनातन सेवक रह सकता है। इस बात को महर्षि दयानन्द जी इस श्लोक से प्रकट करते हैं।

शुचिना सत्यसन्धेन यथा शास्त्रानुसारिणा।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता॥

अर्थात् जो पवित्रात्मा, सत्याचरणी, सज्जन पुरुषों का संगी, यथावत् नीतिशास्त्र के अनुकूल चलने वाला, और श्रेष्ठ पुरुषों की सहायता युक्त बुद्धिमान राजा होता है वही न्यायरूपी दंड के चलाने में समर्थ होता है। इस श्लोक में "सुसहायेन" शब्द प्रत्यक्ष रूप से यह इंगित करता है कि राजा को अपने मन्त्रियों से भी दंड देते समय मन्त्रणा करना अनिवार्य है। यह मत्रियों से विचार-विमर्श न किया गया तो राज्य में अराजकता फैल जायेगी और "मत्स्यन्याय" आरम्भ हो जाएगा। इस न्याय के आधार पर जिस प्रकार समुद्र में बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, उसी प्रकार बलवान मनुष्य निर्बल को हड़प कर जाएगा।

मन्त्री परिषद् की संख्या

राजा की सलाहकार सभा के सदस्य तीन से लेकर दस तक होने चाहिए ऐसा महर्षि अपने सत्यार्थप्रकाश में लिखते हैं। परन्तु महर्षि जी ने इनकी संख्या इतनी ही क्यों हो इसमें कोई कारण तथा तर्क उपस्थित नहीं किया। इसकी पुष्टि के लिए हमें कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र का आश्रय लेना होगा। अर्थ-शास्त्र में लिखा है:—

सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते।
कुर्वीत् सचिवांस्तस्मात्तेषां शृणुयान्मतम्॥

अर्थात् राज्य का रथ अकेले राजा के एक पहिये से नहीं चल सकता। इसको मंत्री रूपी दूसरे चक्र की आवश्यकता है। अतः यह बात सोचकर राजा

को मंत्री अवश्यमेव रखने चाहिएँ और समय पर वह उनके विचारों को ध्यान पूर्वक सुने। यदि मंत्री संख्या में एक ही होगा तो वह अपनी इच्छानुसार चला कर राष्ट्र को नष्ट-भ्रष्ट कर सकता है। न ही राजा को दो मन्त्री रखने उचित हैं, क्योंकि यदि वे दोनों मंत्री परस्पर एक मत हो जायँ तो उस समय राजा का उचित रूप से मन्त्र सिद्ध नहीं होता। अतः कम से कम तीन और अधिक से अधिक दस मन्त्री होने चाहिएँ। ये मन्त्री किस योग्यता के हों, इसे महर्षि जी निम्न प्रकार कहते हैं:—

मौलान् शास्त्रविदः शूरांल्लब्धलक्षान् कुलोद्गतान्।
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्॥

अर्थात् स्वराज्य में उत्पन्न, वेदादिशास्त्रों के जानने वाले शूर-वीर लक्ष्य से भ्रष्ट न होने वाला कुलीन और जिनकी प्रथम संकट काल में परीक्षा की जा चुकी हो ऐसे मन्त्री होने चाहिएँ। परन्तु आज के युग में मन्त्रियों की क्या कसौटी है, यह जानना नितान्त दुर्लभ है।

अध्यक्ष और सदस्य होने की योग्यता

प्राचीन काल में अध्यक्ष तथा सदस्यों के लिए "कॉड आफ कॉनडक्ट" अर्थात् "आचार संहिता" का भी विधान था। यदि इस "आचार संहिता" के आधार संहिता के नियमों के अनुरूप कोई व्यक्ति पूरा उतरता है तो वह अध्यक्ष तथा सदस्य होने के योग्य है, अन्यथा नहीं। महर्षि सत्यार्थप्रकाश में स्पष्ट लिखते हैं:—

त्रविद्य भ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः॥
इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः॥

अर्थात् अध्यक्ष और राजसभा के सभासद् उसी समय हो सकते हैं, जब कि वे चारों वेदों की कर्म, उपासना और ज्ञान विद्या के जानने वालों से तीनों विद्या, राजकीय कार्यों में प्रयुक्त होने वाली शाश्वत दण्डनीति, न्याय विद्या आत्म विद्या अर्थात् परमात्मा के गुण कर्म स्वभाव-वाली ब्रह्म विद्या तथा लोगों से वार्ताओं का आरम्भ (कहना और पूछना) सीख ले; इसी अवस्था में सभापति तथा सदस्य होने का अधिकारी है।

यहाँ हमें महर्षि के "वार्तारम्भाश्चलोकतः" को लेकर कुछ कहना है। महर्षि दयानन्द ने वार्ता का अर्थ सत्यार्थप्रकाश में "कहना और पूछना" लिखा है। परन्तु हमारे विचार से यह अर्थ यहाँ अधिक संगत प्रतीत नहीं होता। यहाँ वार्ता का अर्थ "कृषि, पशुपालन और व्यापार भी साथ-साथ में होना चाहिए था। क्योंकि वार्ता का अर्थ अर्थ-शास्त्र के प्रणेता आचार्य चाणक्य और मनुस्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार कुल्लुस्वामी ने भी इस प्रकार किया है:—

कृषि पशुपाल्ये वाणिज्या वार्ता।

उपरिवर्णित गुणों का प्रत्येक सदस्य में अनिवार्य मेल होना चाहिए। क्योंकि जिन सदस्यों ने मिलकर राष्ट्र निर्माण का कार्य करना है वे अवश्य-मेव राष्ट्र-सम्बन्धी नीतियों और व्यापारों के वेत्ता तथा पारदर्शी होने चाहिएँ। इसके अतिरिक्त महर्षि जी कहते हैं कि सदस्यों में कुछ बातें नहीं भी होनी चाहिएँ।

दश काम समुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत्॥

अर्थात् काम से उत्पन्न होने वाले अवगुण, जैसे—मृगया खेलना, अक्षों का खेल, दिन में सोना, काम-कथा, स्त्रियों का अतिसंग, मादक द्रव्य, गाना बजाना, नाचना, और वृथा इधर-उधर घूमना ये दश कामज अवगुण सदस्यों में नहीं होने चाहिएँ। तथा क्रोध से उत्पन्न होने वाले आठ व्यसन अर्थात् किसी की चुगली करना, चोरी तथा परस्त्री-हरण, द्रोह रखना, ईर्ष्या, असूया, अर्थ दूषण अर्थात् धन को बुरे कार्यों में लगाना और कठोर वचन सहित बिना अपराध के दण्ड देना इन अवगुणों को सदस्य और अध्यक्ष त्याग दे। परन्तु आज भारतवासी इन अवगुणों को ही गुण मान बैठे हैं। आज सांस्कृतिक समारोहों का ढोंग रचकर अनैतिकता का प्रचार हो रहा है। क्या गाना बजाना ही एक मात्र सांस्कृतिक कार्य होता है?

योजना (स्कीम)

राजा अपने राज्य को ठीक रखने के लिए कुछ योजनायें बनाए। राजा की इस योजना के आधारस्तम्भ मंत्री, दूत और चर होते हैं। मंत्रियों के

विषय में ऊपर लिखा जा चुका है। यहाँ अब दूतों और चरों के विषय में महर्षि द्वारा मान्य विचार प्रस्तुत किये जाते हैं।

दूत तथा चर

वस्तुतः दूत सन्धि में बन्धे राष्ट्रों को विग्रहयुक्त और विग्रहयुक्त राष्ट्रों को सन्धि संयुक्त कर सकता है। वह अपनी नीति द्वारा प्रतिपक्षियों के संगठन को छिन्न-भिन्न कर सकता है। अतः राजा को बहुत विचार-विनिमय के उपरान्त दूतों की नियुक्ति करनी चाहिये। ये दूत गुण, कर्म, स्वभाव एवं बुद्धि के अनुसार तीन प्रकार के होते हैं (१) निसृष्टार्थ, (२) परिमितार्थ, तथा (३) शासनहर। इन दूतों से राजा अपने मित्र उदासीन एवं शत्रु राजाओं से समयानुसार सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधी भाव आदि षड् गुणों का व्यवहार करे। इन दूतों की नियुक्ति देश से बाहर होती है परन्तु अपने ही देश में राजद्रोहियों की गतिविधि का निरीक्षण करने के लिए राजा गुप्तचरों का जाल भी विछाये।

योजना का मुख्य अंग सैन्य-संचालन भी है, सैन्य-संचालन के अभाव में ही उपूसी और लद्दाख में भारतीय सेनाओं को अतीव क्षति उठानी पड़ी। राजा तथा सेनापति किस परिस्थिति में किस प्रकार की व्यूह रचना करें इसका विस्तृत वर्णन भी सत्यार्थप्रकाश में है।

राज्य-प्रबन्ध

राज्य की सुव्यवस्था के लिए राजा अपने राज्य में कम से कम अट्ठारह विभाग स्थापित करे। इन अट्ठारह विभागों के अध्यक्ष नीति धर्मपूर्वक सदा तत्पर रहकर कार्य करें। इसके साथ-साथ राजा अपने राज्य में प्रजा की सुविधा के लिए राज्य से सम्बन्धित एकाइयाँ स्थापित करें। इस बात को महर्षि जी अपने सत्यार्थप्रकाश में इस प्रकार लिखते हैं:—

> द्वयोस्त्रयाणां पंचानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम्।
> तथा ग्राम शतानां च कुर्याद् राष्ट्रस्य संग्रहम्॥

अर्थात् दो, तीन, पाँच और सौ ग्रामों के मध्य एक राज-स्थान रखे। यहाँ राज-स्थान से अभिप्राय तहसील, थाना आदि से लिया जाना उपयुक्त है। इसी

क्रम से राजा गाँव में नम्बरदार, तीन चार गाँवों के मध्य जैलदार आदि अधिकारियों की नियुक्ति करे। राजा इन अधिकारियों पर निरन्तर दृष्टि रखे, कहीं ऐसा न हो कि ये अधिकारी व्यर्थ में प्रजा को सताते रहें। राज्य प्रबन्ध की सफलता के लिए राजा अपराधियों को अपराधानुसार दण्ड देता रहे। राजा अर्थ-व्यवस्था के लिये प्रजा से कर भी ले परन्तु वह कर प्रजा पर भार-रूप न हो।

इससे आगे महर्षि जी प्रश्नोत्तर विधि का आश्रय लेकर अपने विचारों को प्रकट करते हैं। यदि राजा या उसकी पत्नी राज्य के विरुद्ध व्यवहार करे तो उस विषम परिस्थिति में क्या होना चाहिए। इस समस्या का समाधान महर्षि जी ने सरलतापूर्वक यह कहकर कर दिया कि उनको राज्य सभा दण्ड दे। उन्हें राज्य-सभा का दण्ड अनिवार्य रूप से मानना पड़ेगा।

इस प्रकार हम देखेंगे कि महर्षि दयानन्द राजनीति के विषय में स्वतन्त्र एवं मौलिक विचारों के उद्घोषक हैं। उनकी यह घोषणा इस बात से और भी पुष्ट होती है कि अच्छे से अच्छे विदेशी शासन की अपेक्षा मूर्ख राजा के आश्रित स्वदेशी शासन उत्तम है।

●

स्वामी दयानन्द के सिद्धान्त उनके सत्यार्थप्रकाश में निहित हैं। यही सिद्धान्त ऋग्वेदभाष्य-भूमिका में हैं। स्वामी दयानन्द एक धार्मिक सुधारक थे। उन्होंने मूर्तिपूजा से अविराम युद्ध किया।

—सर वेलण्टाइन चिरौल

ईश्वर के स्वरूप का दार्शनिक और वैज्ञानिक विवेचन

•

वेद की नित्यता पर प्रकाश

•

सत्यार्थप्रकाश के
सप्तम समुल्लास के आधार पर

•

पं० क्षितीश कुमार वेदालंकार, एम० ए०

•

सप्तम समुल्लास में ईश्वर और वेद का विषय वर्णित है। उन दोनों के सम्बन्ध में ऋषि का मन्तव्य अन्य सब मतवादियों से भिन्न है। इसीलिए इन दोनों विषयों पर अन्य मतावलम्बियों से शास्त्रार्थ भी कम नहीं होते रहे हैं। परन्तु ऋषि का मन्तव्य कितना मौलिक और युक्तियुक्त है यह इस समुल्लास को पढ़ने से ही विदित हो सकता है। यूरोपीय विद्वानों ने वेद में अनेकेश्वरवाद का भ्रम प्रसारित किया है। इसी प्रकार ईश्वर के सृष्टि कर्तृत्व, उसकी निराकारता, सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता आदि के विषय में भी भारी भ्रम फैला हुआ है। विषय जटिल होने पर भी स्वाध्यायशील लेखक ने दार्शनिक और वैज्ञानिक ढंग से ऋषि के मन्तव्य पर प्रकाश डाला है। अवतारवाद का और अद्वैतवाद का खण्डन लेखक ने जहाँ नए ढंग से किया है वहाँ वेदज्ञान की आवश्यकता पर भी अपने ढंग से प्रकाश डाला है।

—सम्पादक

ध्यात्व

●

अनेक विद्वानों की यह धारणा है कि वेद में अनेक ईश्वरों का वर्णन है पौराणिकों के विभिन्न सम्प्रदाय और उनमें पृथक्-पृथक् आराध्यदेवों का प्रचलन देखकर ही शायद उन्होंने यह धारणा बनाई हो। पौराणिकों के आचरण को देखकर उसे वेद पर आरोपित करने की भूल करने वालों में सबसे आगे हैं वे पाश्चात्य विद्वान् जिनके वेद सम्बन्धी प्रभूत परिश्रम के आगे नत-मस्तक होकर भी हमें यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि वेद में अनेकेश्वरवाद (Polythiesm) सिद्ध करने की उनकी चेष्टा दुश्चेष्टा मात्र है।

वेद में अनेक ईश्वरों के वर्णन की कल्पना एक और भ्रम पर भी आधारित है। आजकल विज्ञान की प्रत्येक शाखा में प्रचलित विकासवाद के आधार पर सोचने वाले लोग यह समझते हैं कि एक ईश्वर की कल्पना बौद्धिक ज्ञान की पराकाष्ठा की द्योतक है, और वेद क्योंकि आदिम रचना है, इसलिए आदि-काल के लोगों की बुद्धि का विकास इतना नहीं हो सकता कि वे ईश्वर के एकत्व की कल्पना कर सकें। वे तो नदी-नालों, वृक्ष-वनस्पतियों, भूधरों, वर्षा, बादल, बिजली आदि प्राकृतिक विपर्ययों और भौतिक घटना-विलासों को ही देव समझकर पूजने लगे या उन्हीं में ईश्वरत्व की बुद्धि रखने लगे। विकासवाद-जनित इसी कपोल कल्पना के आधार पर इस्लाम के मतानुयायी यहाँ तक कहने लगे कि संसार के बड़े धर्मों में हमारा धर्म सबसे अर्वाचीन

है, इसलिए वह परिपूर्ण धर्म (Perfect religion) है और इस परिपूर्णता की कसौटी यह है कि इस्लाम में एकेश्वरवाद पर सबसे अधिक बल दिया गया है। 'तौहीद की अमानत सीने में है हमारे'—कहकर इसी एकेश्वरवाद को इस्लाम का सबसे बड़ा वरदान स्वीकार किया गया है।

इस्लाम के इस एकेश्वरवाद की चकाचौंध से कुछ लोग इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने यहाँ तक कहने में संकोच नहीं किया कि मध्यकाल में शंकराचार्य ने अद्वैतवाद के दार्शनिक आधार पर ईश्वर के एकत्व का जो प्रचार किया वह इस्लाम के और मुसलमान सूफियों के एकेश्वरवाद से ही प्रेरित होकर किया। ऐसा कहने वाले भारतीय विद्वानों में पं० सुन्दरलाल, डा० ताराचन्द और केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्री डा० हुमायूँ कबीर प्रभृति का नाम लिया जा सकता है।

ईश्वर एक है

जहाँ तक वेद का सम्बन्ध है, उसकी बात वेद के ही आधार पर कही जाए तो अच्छा है—क्योंकि अन्य ग्रन्थ के आधार पर कही हुई बात परतः प्रमाण होगी और उसके विवाद का विषय बन जाने की भी सम्भावना है। इसके अलावा वेद स्वयं इतना समर्थ है कि उसे अपनी बात की पुष्टि के लिए किसी अन्य ग्रन्थ की सहायता की आवश्यकता नहीं।

वेद ने स्वयं ही उक्त गुत्थी सुलझा दी है। ऋग्वेद का एक मंत्र है—

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।
इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्॥

ऋक्० १।१६४।४६

ज्ञानी लोग एक ही ईश्वर को अनेक नामों से पुकारते हैं—अग्नि, यम, मातरिश्वा, इन्द्र, मित्र, वरुण, सुपर्ण, गरुत्मान्—सब उसी एक ईश्वर के नाम हैं। [देखिये सत्यार्थप्रकाश प्रथम समुल्लास—उसमें परमात्मा के इसी प्रकार के १०८ नामों की व्याख्या की गई है।]

इसी प्रकार "य एकश्चर्षणीनां वसूनामिरज्यति" (ऋक्० १।७।९); "य एक इद्धियते वसुमर्त्याय दाशुषे" (ऋक्० १।८४।७); "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्" (यजु० ४०।१); "भुवनस्य यस्पतिरेक एव

नमस्य:" (अथर्व० २।२।१) — इत्यादि अनेक मन्त्र चारों वेदों से उद्धृत किए जा सकते हैं, जिनसे ईश्वर का एकत्व प्रतिपादित होता है। विशेष बात यह है कि जहाँ ईश्वर की एकता के प्रतिपादक सैंकड़ों मन्त्र हैं, वहाँ ईश्वर की अनेकता को सिद्ध करने वाला एक भी मंत्र प्रस्तुत करना कठिन है। इसी प्रसंग में अथर्ववेद (१३।४।२) के १६ से १८ तक के मन्त्र ध्यान देने योग्य हैं :

"न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। न पंचमो न षष्ठ: सप्तमो नाप्युच्यते। नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। स एक एव एकवृदेक एव।"

—उसे दूसरा, तीसरा और चौथा नहीं कह सकते। पाँचवां, छठा, सातवाँ भी नहीं कह सकते। आठवाँ, नवां और दसवां भी नहीं कह सकते। वह एक ही है, अकेला ही जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करने वाला है। वह एक ही है।

अनेकेश्वरवाद का खण्डन करने वाला और ईश्वर की एकता का प्रतिपादन करने वाला इससे अधिक स्पष्ट और प्रांजल वर्णन संसार के अन्य किसी धर्मग्रन्थ में नहीं मिल सकता—यह बात चुनौती देकर कही जा सकती है।

न सही अनेक ईश्वर, परन्तु वेद में अनेक देवताओं का तो वर्णन है?

इसे कोई अस्वीकार नहीं करता। वेद में अनेक देवताओं का वर्णन अवश्य है, किन्तु उपासना के योग्य ईश्वर सर्वत्र एक ही बताया गया है। जहां तक देव या देवता शब्द की बात है वहाँ सर्वत्र समझना यह है कि 'देव' शब्द दिवु धातु से बनता है। उस दिवु धातु का व्याकरण-सम्मत अर्थ है—क्रीड़ा, विजिगाषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति और गति। अर्थात् जिस किसी पदार्थ में इनमें से किसी भी गुण-विशेष का आधिक्य हो, वही देव कहलाएगा। संक्षेप से कह सकते हैं कि दिव्य गुण को धारण करने वाली प्रत्येक वस्तु देव कोटि में आती है। पृथिवी, अग्नि, वायु, जल, चन्द्र, सूर्य आदि सब देव हैं क्योंकि विशिष्ट गुणों को धारण करने वाले हैं। विद्वानों को भी देव कहते हैं, क्योंकि वे अपनी विद्या के बल पर चमकते हैं। देववाची प्रत्येक शब्द प्रकारान्तर से परमात्मा का भी वाची होता है—क्योंकि आखिर सब देवों का अधिष्ठाता तो वही है। कौन-सा देववाची शब्द किस स्थान पर परमात्मा का

वाचक है और किस स्थान पर अन्य पदार्थ का, इसका निर्णय प्रकरण के अनुसार करना होगा। देवता अनेक होने पर भी आराध्यदेव केवल ईश्वर है और वह सब देवों का अधिष्ठाता है—वेद का यही सिद्धान्त है और इसमें कहीं शंका का स्थान नहीं है।

तेंतीस देवता

यजुर्वेद में जो तैंतीस देवताओं का वर्णन आता है उसकी व्याख्या शतपथ के अनुसार इस प्रकार है—आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, एक इन्द्र और एक प्रजापति (८+११+१२+१+१=३३) ये तैंतीस देवता हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्र, सूर्य और नक्षत्र—ये आठ वसु हैं क्योंकि ये समस्त सृष्टि के वास-हेतु हैं; इनके बिना सृष्टि की कल्पना नहीं की जा सकती। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय और जीवात्मा ये ग्यारह रुद्र हैं क्योंकि जब ये शरीर को छोड़ कर जाने लगते हैं तो सबको रुलाते हैं। संवत्सर के बारह मास चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ, फाल्गुन बारह आदित्य हैं क्योंकि ये सब की आयु को लेते जाते हैं। इन्द्र है बिजली—अन्तरिक्ष में यह वृष्टि की जनक है और भूलोक में वैज्ञानिक क्रान्ति की जनक है—इसीलिए ऋषि ने इसे परमैश्वर्य का हेतु बताया है। बिना उद्योगों के राष्ट्र समृद्ध नहीं हो सकता और बिना बिजली के उद्योगों का विस्तार नहीं हो सकता। उद्योगीकरण से राष्ट्र को ऐश्वर्यशाली बनाने के लिए ही बिजली की अधिकाधिक आवश्यकता है और इसीलिए इस दिशा में इतना प्रयत्न किया जाता है। प्रजापति है यज्ञ। यज्ञ को प्रजापति इसलिए कहा है कि यज्ञ के द्वारा ही वायुमण्डल की शुद्धि, वृष्टि, जल और औषधि की शुद्धि होती है तथा विद्वानों के संगतिकरण से अनेक शिल्प-विद्याओं का विकास होता है—और ये ही सब प्रजापालन में सहायक हैं।

क्या ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान संभव है!

आप देवताओं की व्याख्या के चक्कर में पड़े हैं, परन्तु हम तो सब देवों के देव—ईश्वर—की सत्ता को ही अस्वीकार करते हैं। क्या ईश्वर का

अस्तित्व किसी तरह सिद्ध किया जा सकता है ?

यों तो ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए अन्य अनेक प्रकार की युक्तियाँ दी जा सकती हैं; किन्तु इस समुल्लास में ऋषि ने अद्भुत ढंग से ईश्वर की सत्ता सिद्ध की है। जितने वैज्ञानिकम्मन्य लोग हैं, वे यह कहते हैं कि हम तो केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं, अप्रत्यक्ष वस्तुतत्त्व में हमारी आस्था नहीं। प्रयोगशाला में बैठकर अपनी इच्छानुसार जिस पदार्थ को तोड़ने-फोड़ने, घटाने-बढ़ाने और जिसकी क्रिया-प्रतिक्रिया को जाँचने की सुविधा वैज्ञानिक को न मिले उस पदार्थ की सत्ता में वह विश्वास करे भी कैसे ? न्यूट्रोन, प्रोटोन, और इलेक्ट्रोन जैसे सूक्ष्म तत्त्वों तक पहुँच कर तो उसका 'अहम्' और भी फूल गया। वैज्ञानिक यह समझने लगा कि अणुबम बनाकर सृष्टि का संहार करने की कुञ्जी मैंने अपनी मुट्ठी में बन्द कर ली, इसलिए इस सृष्टि का कर्ता-धर्ता-संहर्ता मेरे सिवाय और कौन हो सकता है ?

ऋषि ने कहा कि ईश्वर का भी प्रत्यक्ष होता है। ईश्वर प्रत्यक्ष न होने की जिस युक्ति के भरोसे नास्तिकों के सब सम्प्रदाय और आधुनिक वैज्ञानिक-गण मन में फूले नहीं समा रहे थे, ऋषि ने उसकी जड़ ही काट दी।

ईश्वर का प्रत्यक्ष कैसे होता है, अब यह देखिए।

न्याय-दर्शन के अनुसार, इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न जो निर्भ्रान्त और निश्चयात्मक ज्ञान है, वही प्रत्यक्ष कहलाता है। इन्द्रियाँ हैं—आँख, नाक, कान, जिह्वा और त्वचा तथा मन। आँख से रूप का अनुभव होगा, नाक से गन्ध का, कान से शब्द का, जिह्वा से रस का और त्वचा से स्पर्श का। अब रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द तो गुण हैं, किन्तु जब इन्द्रियों का इन गुणों से सन्निकर्ष होता है, तब हम आत्मायुक्त मन से गुणी का प्रत्यक्ष करते हैं। विज्ञान की दृष्टि से पदार्थ उसको कहते हैं जिसमें भार हो और जो स्थान घेरे। इस व्याख्या के अनुसार जैसे रूप रस आदि पदार्थों के गुण हैं, वैसे ही भार होना या स्थान घेरना भी गुण है; स्वयं पदार्थ नहीं। रूप रस आदि का तो कोई भार भी नहीं होता, न ही वे स्थान घेरते हैं। समस्त संसार में जितने भी पदार्थ हैं उन सब के गुणों का ही सम्पर्क हमारी इन्द्रियों के साथ होता है और उन गुणों के सम्पर्क से ही हम कहते हैं कि हमें अमुक पदार्थ

अर्थात् गुणी का प्रत्यक्ष हो जायगा जिस प्रकार हम सामान्य व्यवहार में गुण से गुणी का प्रत्यक्ष करते हैं उसी प्रकार इस समग्र सृष्टि रचना—चातुरी को देखकर इसके रचयिता अर्थात् गुणी परमात्मा का प्रत्यक्ष होता है। यदि कहा जाए कि परमात्मा का इस प्रकार प्रत्यक्ष हम नहीं मानते, तो लोक में भी किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं; यदि लोक में किसी भी पदार्थ का प्रत्यक्ष सम्भव है—जिससे न चार्वाक इन्कार करते हैं, न विज्ञान को सर्वेसर्वा समझने वाले कम्युनिस्ट तथा अन्य नास्तिक—तो सृष्टि को देखकर सृष्टिकर्ता का भी प्रत्यक्ष मानना ही होगा। सृष्टि रचना में कहीं चातुरी नहीं है, इस बात से कट्टर से कट्टर नास्तिक भी इन्कार नहीं कर सकता। चातुरी गुण है और वह गुणी का प्रत्यक्ष करवाने में प्रमाण है।

एक अन्य युक्ति

ईश्वर की सत्ता में एक और अकाट्य युक्ति है। नास्तिक लोग ईश्वर की सत्ता से भले ही इन्कार करें, किन्तु जीवात्मा की सत्ता से इन्कार करना उनके बस की भी बात नहीं। जीवात्मा की सत्ता का निषेध करना तो एक तरह से अपनी ही सत्ता का निषेध करना हुआ—और अहम्भाव से ओत-प्रोत वैज्ञानिकम्मन्य ऐसा कैसे कर सकता है। प्रश्न यह है कि जब मनुष्य परोपकार का या भलाई का कोई काम करने लगता है तब उसके मन में भलाई के लिए उत्साह और प्रेरणा कहाँ से पैदा होती है? और जब मनुष्य कोई अनाचार या बुराई का काम करने लगता है, तब उसके मन में भय शंका और लज्जा की भावना कौन पैदा करता है? मनुष्य का मन तो सदा पानी की तरह नीचे की ओर, पतन की ओर, जाने के लिए उद्यत रहता है, उत्थान के पथ पर बढ़ने की उमंग उसमें कहाँ से पैदा होती है? कहना नहीं होगा कि यह काम परमात्मा की ओर से होता है। जीवात्मा तो इस विषय में सर्वथा तटस्थ है, बल्कि मन की गति के साथ ही चलने की ओर उसका झुकाव अधिक रहता है। अच्छाई की प्रेरणा और बुराई से संकोच ऐसी सार्वत्रिक भावना है कि पापी से पापी आदमी भी इसकी सचाई से मना नहीं कर सकता। परम दार्शनिक, परम वैयाकरण और साहित्यिक योगिराज भर्तृहरि ने इसीलिए ईश्वर की सिद्धि का का एकमात्र प्रमाण 'स्वानुभूत्येकमानाय' कह कर दिया है—अर्थात् ईश्वर की सत्ता का एकमात्र प्रमाण अपनी अनुभूति है। और जिसको एक बार

प्रतिपादित कर दिया था, परन्तु यह जगत् सर्वथा असत्य है, यह स्थापना शंकर की ही है। परन्तु शंकर के इस मायावाद वा अद्वैतवाद का जनक है बौद्धदार्शनिक नागार्जुन का शून्यवाद। भारत में चिरकाल से यह जनश्रुति चली आ रही है कि शंकर प्रच्छन्न बौद्ध है और उसका अद्वैतवाद प्रकारान्तर से बौद्ध दर्शन का ही उद्रेक है। विज्ञानभिक्षु ने सांख्य प्रवचन भाष्य की भूमिका में पद्म पुराण का यह श्लोक उद्धृत किया है 'मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव तु।' मायावाद असत् शास्त्र है और वह छिपा हुआ बौद्ध दर्शन ही है।

वेदान्ती अद्वैत तत्त्व की स्थापना करने के लिये जिस प्रकार सत्ता का निरूपण पारमार्थिक और व्यावहारिक दो स्तरों पर करते हैं, 'सत्ता' का इस प्रकार दो स्तरों पर भेद सबसे पहले नागार्जुन ने ही किया था। नागार्जुन जिसे 'शून्य' (Absolute) कहता है, उसी को शंकराचार्य 'ब्रह्म' कहते हैं। वस्तु तत्त्व का सर्वथा लोप करके सम्पूर्ण विश्व को 'निःस्वभाव' और 'शून्य रूप' से प्रस्तुत करने वाला यह शून्यवाद सर्वथा निषेधवाद (Nihilism) नहीं है, किन्तु शून्यवाद का कहना है कि समस्त दृश्यमान जगत् परस्पर सापेक्ष है, इसलिये वह किसी निरपेक्ष (Absolute) तत्त्व की ओर इंगित करता है। यह निरपेक्ष तत्त्व ही 'शून्य' है। यह शून्य (Nothing) नहीं है, (Something) है। परन्तु वह (Something) केवल शून्य है। इस शून्य वाद को एक तरह से 'अद्रव्य का सिद्धान्त' (No-Substance Theory) कह सकते हैं—यही बौद्धों का अनात्मवाद है।

शून्य को समझने के लिये एक दृष्टान्त दिया जा सकता है। ज्यामिति पढ़ाने वाला शिक्षक कहता है कि बिन्दु (Point) उसको कहते हैं जिसमें न लम्बाई हो, न चौड़ाई। या सरल रेखा (Straight line) उसको कहते हैं जिसमें केवल लम्बाई ही लम्बाई हो, चौड़ाई न हो। परन्तु क्या कभी ऐसा बिन्दु कागज पर बनाया जा सकता है जिसकी न लम्बाई हो, न चौड़ाई। या क्या कभी ऐसी सरल रेखा कभी खींची जा सकती है जिसकी केवल लम्बाई हो और चौड़ाई न हो। जब भी कोई बिन्दु बनेगा—उसकी कुछ न कुछ लम्बाई भी होगी, कुछ न कुछ चौड़ाई भी। ऐसे ही, जब भी सरल रेखा बनेगी, उस की कुछ न कुछ चौड़ाई अवश्य होगी। परिभाषा के अनुसार बिन्दु या सरल

रेखा की सत्ता असम्भव है। परन्तु इसी कारण न बिन्दु की सत्ता से इन्कार किया जा सकता है, न सरल रेखा की सत्ता से।

इसी तरह जितने भी द्रव्य हैं वे देश (Space) की दृष्टि से फैले हुए (Extended) हैं और काल (Time) की दृष्टि से स्थिरता (Duration) वाले हैं। संसार के किसी भी पदार्थ की कल्पना हम नहीं कर सकते जिसे देश और काल ने परिच्छिन्न न कर रखा हो। यही आइन्स्टीन का सापेक्षवाद है। प्रत्येक वस्तु देश और काल की अपेक्षा से है, क्योंकि बिना देश और काल के हम किसी पदार्थ की कल्पना कर ही नहीं सकते। जैसे देश और काल ही असली उपाधि या माया हो, जो किसी भी पदार्थ के पैदा होते ही उसे घेर लेती हो। परन्तु यथार्थ तत्त्व वह है जो काल और देश के बंधन से परे हैं, इनसे निरपेक्ष होने के कारण ही उसे (Absolute) कहना होगा—वही शून्य है। इस प्रकार शून्य की व्याख्या होगी—ऐसा तत्त्व जो समय की दृष्टि से (Temporally) लम्बाई में (Vertically) और देश की दृष्टि से चौड़ाई में (Horizontally) में सब ओर से बटा हुआ हो। अर्थात् वह निरवयव है, उसमें अनेक अवयवों में रहने वाला कोई अवयवी द्रव्य नहीं। वह शून्य (Positive) चीज है, (Negative) नहीं।

जो व्याख्या शून्य की है, वही व्याख्या ब्रह्म की है। जिस प्रकार उपर्युक्त विवेचन शून्य पर घटित होता है, ठीक उसी प्रकार वह विवेचन ब्रह्म के साथ भी ज्यों का त्यों अक्षरशः घटित होता है। इस तरह ऐसा लगता है कि वैदिक दर्शनों का खण्डन करने के लिये और अपने अनात्मवाद की स्थापना के लिए बौद्धों ने जो सूक्ष्म और गम्भीर दार्शनिक मन्थन किया वही सारा 'आधार सामग्री' (Raw Material) के रूप में शंकर को मिल गया और शंकर ने बौद्धों का खंडन करने के लिये उस सब सामग्री को ज्यों का त्यों अपना लिया। इतना ही नहीं, प्रत्युत शंकर ने उस समस्त दार्शनिक सामग्री को अपना रंग (Finish) देकर उन्हीं के हथियारों से उन्हीं के तर्कजाल को काट दिया। जिन तर्कों से वे अनात्मवाद की स्थापना करते थे, उन्हीं तर्कों से शंकर ने आत्मवाद की स्थापना की। बौद्ध जिस निरपेक्ष तत्त्व को 'शून्य' कहते थे, उसी निरपेक्ष तत्त्व को शंकर ने ब्रह्म कहा। परन्तु बौद्धों की शून्यवाद की फिलासिफी में

अपनी अद्वैतवाद की कलम लगाने से शंकर को माया, उपाधि और अविद्या का भी अनादित्व स्वीकार करना पड़ा। इसके बिना उसके तथाकथि ब्रह्म का मण्डन ही न बन पाता।

यह थोड़ा-सा विवेचन हमने इसीलिये किया है जिससे कतिपय आधुनिक राष्ट्रीय नेताओं और उच्च पदस्थ विद्वानों को यह कहने का अवसर न रहे कि शंकर के अद्वैत पर इस्लाम के एकेश्वरवाद की छाया है। शंकर ने इस्लाम से कुछ नहीं लिया, जो कुछ लिया वह बौद्धों से लिया और यह बात भारतीय दार्शनिक परम्परा के इतिहास में समीचीनतया ठीक बैठती है।

ईश्वर की वैज्ञानिक परिभाषा

यों ब्रह्मसूत्र में 'जन्माद्यस्य यतः' और योगदर्शन में 'क्लेशकमविपाकाशयैरपरामष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' कह कर ईश्वर की अपने ढंग से परिभाषा की गई है। परन्तु दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टि से यदि ईश्वर की कोई व्याख्या करनी हो तो हम वेद का निम्न मन्त्र उपस्थित करेंगे—

यो भूतश्च भव्यश्च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

—अर्थात् जो भूत और भविष्यात्मक काल (Time) का तथा सर्वत्र आकाश रूप से व्याप्त देश (Space) का अधिष्ठाता है और जो केवल आनन्दस्वरूप है उस ज्येष्ठ ब्रह्म को नमस्कार है। (प्रकरणानुसार वेद में ब्रह्म शब्द प्रकृति और जीवात्मा का भी वाचक बनकर आया है, इसीलिये यहाँ ज्येष्ठ ब्रह्म कहा है क्योंकि ज्येष्ठ ब्रह्म केवल परमात्मा का ही वाचक है।

लौकिक ग्रन्थों में ईश्वर की एक परिभाषा महामुनि भर्तृहरि के नीतिशतक में मिलती है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि भर्तृहरि-कृत व्याख्या में ईश्वर सम्बन्धी दार्शनिक और वैज्ञानिक उलझनें सर्वथा समाप्त हो जाती हैं। ईश्वर की वैज्ञानिक व्याख्या करने वाला वह श्लोक यह है—

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे॥

—दिशाओं और काल के बंधन से रहित, अनन्त, चितिमात्र ही जिसकी मूर्ति है, और अपनी अनुभूति ही जिसमें एकमात्र प्रमाण है, उस शान्त तेज को

नमस्कार है। दिशा और काल के बंधन की व्याख्या हम शून्य वाले प्रकरण में कर चुके हैं। अनन्त का अर्थ है (Infinite) जो गणित-शास्त्र का (Infinite) है—अर्थात् जिसमें कभी परस्पर न मिलने वाली समानान्तर रेखाएँ भी मिल जाती हैं—वैसे ही परमात्मा में भी सब विरोधों का परिहार हो जाता है इसीलिये वह अनन्त है। 'स्वानुभूत्येकमानाय' की भी यथा-स्थान चर्चा हो चुकी है। शान्त और तेज शब्द भी परस्पर विरोधी हैं—जो शान्त होगा वह तेज नहीं होगा और जो तेज होगा वह शान्त नहीं होगा। परन्तु परमात्मा का तेज ऐसा ही है जो शान्त भी है और तेज भी—जैसे दीपक की लौ होती है।

वेद सब के लिए

इसके आगे ऋषि ने वेद-सम्बन्धी चर्चा की है। इस सम्बन्ध में निम्न बातों का प्रतिपादन किया है। वेद ईश्वरकृत हैं, सृष्टि के आदि में बनाए गए हैं, ईश्वर नित्य है इसलिए उसकी रचना होने के कारण वेद भी नित्य हैं—अर्थात् प्रत्येक सर्गारम्भ में ये ही वेद आते हैं। ऋषि न केवल वेद के शब्दों को, किन्तु उनके अर्थों को भी ईश्वर प्रदत्त मानते हैं—अर्थात् पुस्तक रूप में तो वेद अनित्य हैं, किन्तु ज्ञान रूप में जहाँ तक शब्दों और उनके अर्थों का सम्बन्ध है, वेद नित्य हैं। इसी प्रसंग में उन्होंने विकासवाद का भी खण्डन किया है। वेद ज्ञान का प्रकाश अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा इन चारों ऋषियों पर हुआ। जो ब्राह्मण ग्रन्थ हैं उनमें वेदों की व्याख्या है, परन्तु वे ग्रन्थ स्वयं वेद नहीं हैं। जो वेदों की शाखाएँ हैं, वे भी शाखा मात्र हैं, वेद कोटि में नहीं आतीं—अर्थात् चारों वेदों के ब्राह्मण, ६ अंग, ६ उपाङ्ग, चार उपवेद और वेदों की ११२७ शाखाएँ ये सब महर्षियों के बनाए ग्रन्थ हैं। ये सब परतः प्रमाण हैं और स्वतः प्रमाण केवल चार वेद ही हैं। वेदों की भाषा संसार की सब भाषाओं की मूल है, वेद भाषा किसी देश-विशेष की भाषा नहीं है। जिस भाषा में वेद हैं। यदि वह किसी एक देश की भाषा होती तो उससे परमात्मा का पक्षपात प्रकट होता। जैसे ईश्वर द्वारा रचित सृष्टि के अन्य पदार्थों पर किसी का एकाधिकार नहीं हो सकता, वैसे ही वेदों पर भी ब्राह्मणों का

एकाधिकार नहीं है—वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी वर्णों और संसार के सब देशवासियों के लिए हैं।

विकासवाद के अनुयायी वैज्ञानिक यह कहते हैं कि वेदों को ईश्वर-रचित मानने की कोई आवश्यकता नहीं, Trial and Error के सिद्धान्त के अनुसार, जैसे बच्चा गिरते-पड़ते अन्त में चलना सीख ही लेता है, वैसे ही मानव जाति भी विकास करते-करते वेद ज्ञान तक पहुँच जाएगी।

मानवीय ज्ञान नैमित्तिक

इसके उत्तर में निवेदन है कि मानव में तथा सृष्टि के अन्य प्राणियों में एक बहुत बड़ा अन्तर है। अन्य प्राणियों के गुण कर्म स्वभाव जैसे भी होते हैं, जन्म काल से ही होते हैं। इसीलिए वे जो काम करते हैं, वह पशु प्रवृत्ति या Animal Instinct कहलाती है। जो मांसाहारी प्राणी हैं उनके बच्चों को मांस खाने या जो वनस्पतिभोजी हैं उनके बच्चों को वनस्पति खाना सिखाना नहीं पड़ता। अपने इस स्वभाव को वे बदल भी नहीं सकते। शेर कभी घास नहीं खाएगा और गाय कभी मांस नहीं खाएगी। इसी तरह भैंस का बच्चा या बत्तख अपने जन्मकाल से ही बिना सिखाए पानी में तैरना जानते हैं, परन्तु आज तक यह कभी नहीं देखा कि किसी बड़े से बड़े तैराक का बालक भी बिना सिखाए पानी में तैरना जानता हो। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि मनुष्य का जितना भी ज्ञान है, वह नैमित्तिक है। मनुष्य अपने माता-पिता या साथियों का अनुकरण करके या किसी गुरु के सिखाने से ही सीखता है। यदि मनुष्य-समाज से अलग करके किसी बालक को जानवरों से भरे स्थान में या एकान्त में रख दिया जाए तो उसमें न वाणी का विकास होगा, न अन्य मानवीय ज्ञान का। इस प्रकार के परीक्षण अनेक बार किए जा चुके हैं। जो जंगली जातियाँ हैं, वे हजारों सालों से असभ्यता का शिकार हैं। यदि स्वयं ज्ञान का विकास होता तो इस वैज्ञानिक युग में जंगली जातियाँ कहीं दृष्टिगोचर नहीं होतीं। परन्तु उचित मार्ग-निर्देशन मिलने पर उनके जीवन में भी परिवर्तन परिलक्षित होता है। जैसे वर्तमान समय में हम अपने गुरुओं से पढ़कर विद्वान होते हैं। वैसे ही सृष्टि के आरम्भ में अग्नि आदि ऋषियों को परमात्मा ने वेदों का ज्ञान

दिया और उसके बाद से फिर गुरु-शिष्य परम्परा चल पड़ी। वेद की आवश्यकता ऋषि ने इन शब्दों में प्रकट की है, जैसे माता-पिता अपने सन्तानों पर दया दृष्टि कर उनकी उन्नति चाहते हैं, वैसे ही परमात्मा ने सब मनुष्यों पर कृपा करके वेदों को प्रकाशित किया है, जिससे मनुष्य अविद्यान्धकार के भ्रम-जाल से छूट कर विद्या-विज्ञान रूप को प्राप्त होकर आनन्द में रहें और विद्या तथा सुखों की वृद्धि करते जाएँ।"

ईश्वरीय ज्ञान का अर्थ

वेद 'ईश्वरीय ज्ञान' है, यह कहते हुए एक भ्रम भी हो सकता है जिसका निराकरण कर देना आवश्यक है। 'ईश्वरीय ज्ञान' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—एक तो ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान, और दूसरे ईश्वर द्वारा प्रदत्त ज्ञान। यदि वेद में ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान ही माना जाए, जैसा कि अनेक लोग उन्हें 'आध्यात्मिक ग्रन्थ' कह कर प्रकट करना चाहते हैं, तो वह वेद के स्तर को गिरा देना होगा। क्योंकि वेद में केवल ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान ही नहीं है, उसमें जीवात्मा और प्रकृति सम्बन्धी और मानव जीवन सम्बन्धी ज्ञान का भी अक्षय भण्डार है। इसलिए 'ईश्वरीय ज्ञान' का अर्थ ईश्वर द्वारा प्रदत्त ज्ञान ही समझना चाहिए—तभी आर्य समाज के तीसरे नियम में वर्णित ऋषि की यह घोषणा अर्थवती सिद्ध होगी: "वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।"

●

हिन्दू जाति की ठण्डी रगों में उष्ण रक्त का संचार करने वाला यह ग्रन्थ अमर रहे, यही मेरी कामना है। 'सत्यार्थप्रकाश' की विद्यमानता में कोई विधर्मी अपने मजहब की शेखी नहीं मार सकता।

—श्री विनायक दामोदर सावरकर

सृष्टि उत्पत्ति क्यों और कैसे?

मानव का प्रादुर्भाव कहाँ?

सत्यार्थप्रकाश के अष्टम समुल्लास के आधार पर

आचार्य श्री पं० उदयवीर शास्त्री

आधुनिक दार्शनिक जगत् की उत्पत्ति—प्रकृति और ब्रह्म की स्थिति—दर्शनों की एकता प्राणी का प्रादुर्भाव कैसे और मनुष्योत्पत्ति कहाँ, विषयों के सम्बन्ध में अंधकार में भटक रहे हैं।

ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश के अष्टम समुल्लास में इस विषय पर "सत्य" मार्ग दर्शन कर संसार के मस्तिष्कों का मार्ग-दर्शन किया है।

प्रसिद्ध दार्शनिक, और इतिहास-वेत्ता विद्वान् लेखक नें ऋषि मन्तव्यों को सरल प्रकार से उपस्थित कर सभी को विचार की दिशा प्रदान की है।

काश कि भटकता विज्ञान—उलझता दर्शन ऋषि के प्रकाश को देख पाता।

—*सम्पादक*

छाठ

सृष्टि का सर्वोत्कृष्ट प्राणी मानव है। मानव को अपनी इस स्थिति के विषय में कदाचित् अभिमान हो सकता है, पर अधिकाधिक उन्नति कर लेने पर भी यह सृष्टि रचना में सर्वथा असमर्थ रहता है। इसका कारण है, मानव जब अपने रूप में प्रकट होता है, उससे बहुत पूर्व सृष्टि की रचना हो चुकी होती है, इसलिये यह प्रश्न ही नहीं उठता कि मानव सृष्टि रचना कर सकता है। तब यह समस्या सामने आती है, कि इस दुनिया को किसने बनाया होगा ?

भारतीय प्राचीन ऋषियों ने इस समस्या का समाधान किया है, जगत् को बनाने वाली शक्ति का नाम 'परमात्मा' है, इसको ईश्वर, परमेश्वर, ब्रह्म आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है। यह ठीक है, कि परमात्मा इस पृथिवी चाँद सूरज आदि समस्त लोक-लोकान्तर रूप जगत् को बनाने वाला है, परन्तु जिस मूलतत्व से इस जगत् को बनाया जाता है, वह अलग है। उसका नाम प्रकृति है। प्रकृति त्रिगुणात्मक कही जाती है। वे तीन गुण हैं, सत्व, रजस्, तमस्। इन तीन प्रकार के मूल तत्वों के लिये 'गुण' पद का प्रयोग इसीलिये किया जाता है कि ये तत्व आपस में गुणित होकर, एक-दूसरे में मिथुनीभूत होकर, परस्पर गुथकर ही जगद्रूप में परिणत होते हैं। जगत् की रचना पुण्यापुण्य, धर्माधर्म रूप शुभ-अशुभ कर्मों के करने और उनके फलों को भोगने के लिये की जाती है। इन कर्मों को करने और भोगने वाला एक और चेतन तत्व है,

जिसकी जीवात्मा कहा जाता है। ये तीनों पदार्थ अनादि हैं—ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति।

जगत उत्पन्न होता है या नहीं ?

प्रश्न—यह जगत् कभी उत्पन्न नहीं होता, अनादि काल से ऐसा ही चला आता है और अनन्त काल तक ऐसा ही चला जायगा, ऐसा मान लेने पर इसके बनने-बनाने का प्रश्न ही नहीं उठता, तब इसको बनाने के लिए ईश्वर की कल्पना करना व्यर्थ है। यह चाहे प्रकृति का रूप हो या कोई रूप हो, अनादि होने से ईश्वर की कल्पना अनावश्यक है।

उत्तर—जगत् को जिस रूप में देखा जाता है, उससे इसका विकारी होना स्पष्ट होता है। यदि जगत् अनादि-अनन्त एक रूप हो, तो यह नित्य माना जाना चाहिये, नित्य पदार्थ अपने रूप में कभी परिणामी या विकारी नहीं होता परन्तु जागतिक पदार्थों में प्रतिदिन परिणाम होते देखे जाते हैं। इससे स्पष्ट होता है, कि पृथिव्यादि लोक-लोकान्तरों की दृश्यमान स्थिति अपरिणामिनी अथवा अविकारिणी नहीं है। इसमें परिणाम का निश्चय होने पर यह मानना पड़ेगा कि यह बना हुआ पदार्थ है, तब इसके बनाने वाला भी मानना होगा।

प्रश्न—पृथिव्यादि को विकारी मानने पर भी बनाने वाले की आवश्यकता न होगी, जिन मूलतत्त्वों से इनका परिणाम होना है, वे स्वतः इस रूप में परिणत होते रहते हैं। संसार में अनेक पदार्थ स्वतः होते देखे जाते हैं। अनेक स्वचालित यन्त्रों का आज निर्माण हो चुका है।

उत्तर—पृथिव्यादि समस्त जगत् जड़ पदार्थ है, चेतना-हीन। इसका मूल उपादान तत्व भी जड़ है। किसी भी जड़ पदार्थ में चेतन की प्रेरणा के बिना कोई क्रिया होना संभव नहीं। चेतना के सहयोग के बिना किसी जड़ पदार्थ में स्वतः प्रवृत्ति होती नहीं देखी जाती। इसके लिये न कोई युक्ति है न दृष्टान्त स्वचालित यन्त्रों के विषय में जो कहा गया, उन यन्त्रों का निर्माण तो प्रत्यक्ष देखा जाता है। उनको बनाने वाला शिल्पी उसमें ऐसी व्यवस्था रखता

है, जिसे स्वचालित कहा जाता है। यन्त्र अपने आप नहीं बन गया है, उसको बनाने वाला एक चेतन शिल्पी है, और उस यन्त्र की निगरानी व साज-संवार बराबर करनी पड़ती है, यह सब चेतन-सहयोग-सापेक्ष है। इसलिये यह समझना, कि पृथिव्यादि जगत् अपने मूल उपादान तत्वों से चेतन निरपेक्ष रहता हुआ स्वतः परिणत हो जाता है, विचार सही नहीं है। फलतः जगत् के बनाने वाले ईश्वर को मानना होगा।

प्रकृति की आवश्यकता ?

प्रश्न—आपने यह स्पष्ट किया, कि ईश्वर को मानना आवश्यक है, यदि ऐसा है, तो केवल ईश्वर को मानने से कार्य चल सकेगा, ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् माना जाता है, वह अपनी शक्ति से जगत् को बना देगा, उसके अन्य कारण प्रकृति की क्या आवश्यकता है ? कतिपय आचार्यों ने इस विच।र को मान्यता दी है।

उत्तर—ईश्वर जगत् को बनाने वाला अवश्य है, पर वह स्वयं जगत् के रूप में परिणत नहीं होता। ईश्वर चेतनतत्व है, जगत् जड़ पदार्थ है। चेतना का परिणाम जड़ अथवा जड़ का परिणाम चेतन होना संभव नहीं। चेतन स्वरूप से सर्वथा अपरिणामी तत्व है। यदि चेतन ईश्वर को ही जड़ जगत् के रूप में परिणत हुआ माना जाय तो यह उस अनात्मवादी की कोटि में आ जाता है, जो चेतन की उत्पत्ति जड़ से मानता है। कारण यह है, कि यदि चेतन जड़ बन सकता है, तो जड़ को भी चेतन बनने से कौन रोक सकता है। इसलिये चेतन से जड़ की उत्पत्ति अथवा जड़ से चेतन की उत्पत्ति मानने वाले दोनों वादी एक ही स्तर पर आ खड़े होते हैं। फलतः यह सिद्धान्त बुद्धिगम्य है कि न चेतन जड़ बनता है और न जड़ चेतन बनता है, चेतन सदा चेतन है, जड़ सदा जड़ है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जड़ जगत् जिस मूल तत्त्व का परिणाम है, वह जड़ होना चाहिये। इसलिये चेतन ईश्वर से अतिरिक्त मूल उपादान तत्व मानना होगा, उसी का नाम प्रकृति है।

जब यह कहा जाता है, कि सर्वशक्तिमान् ईश्वर अपनी शक्ति से जगत् को उत्पन्न कर देगा, उस समय प्रकृति को ही उसकी शक्ति के रूप में कथन कर दिया जाता है। वैसे सर्वशक्तिमान् पद के अर्थ में यही भाव अन्तर्निहित है कि

जगत् की रचना करने में ईश्वर को अन्य किसी कर्त्ता के सहयोग की अपेक्षा नहीं रहती। वह इस कार्य के लिये पूर्ण शक्त है, अप्रतिम समर्थ है। फलतः यह जगत् परिणाम प्रकृति का ही होता है, ईश्वर केवल इसका निमित्त, प्रेरयिता, नियन्ता व अधिष्ठाता है। यही सत्य स्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूल घर और स्थिति का स्थान है।

इस प्रसंग में सत्यार्थप्रकाश [स्थूलाक्षर, वेदानन्द संस्करण, पृ० १६१, पंक्ति १०-१२] के अन्दर एक वाक्य है, जिसे अस्पष्टार्थ कहा जाता है। वह वाक्य है —'यह अब जगत् सृष्टि के पूर्व असत् के सदृश और जीवात्मा ब्रह्म और प्रकृति में लीन होकर वर्त्तमान था, अभाव न था, इस वाक्य के अभिमत अर्थ को स्पष्ट करने व समझने के लिये इसमें से दो अवान्तर वाक्यांशों का विभाजन करना होगा। इस वाक्य में से 'और जीवात्मा ब्रह्म' इन पदों को अलग करके रख लीजिये फिर शेष वाक्य को पढ़िये, वह इस प्रकार होगा—'यह सब जगत् सृष्टि के पूर्व असत् के सदृश और प्रकृति में लीन होकर वर्त्तमान था, अभाव न था।' इतना वाक्य एक पूरे अर्थ को व्यक्त करता है। जगत् जो अब हमारे सामने विद्यमान है, यह सृष्टि के पूर्व अर्थात् प्रलय अवस्था में असत् के सदृश था, सर्वथा असत् या तुच्छ न था, कारण यह है कि यह प्रकृति में लीन होकर वर्तमान था, तात्पर्य यह कि कारण-रूप से विद्यमान था, इससे प्रतीत होता है, कि ऋषि ने कार्यकारणभाव में सत्कार्य सिद्धान्त को स्वीकार किया है, प्रलय अवस्था में जगद्रूप कार्य कारण रूप से विद्यमान रहता है, उसका सर्वथा अभाव नहीं हो जाता।

जो पद हमने उक्त वाक्य में से अलग करके रक्खे हैं वे दो अवान्तर वाक्यों को बनाते हैं–१—'और जीवात्मा वर्त्तमान था'। २—'ब्रह्म वर्त्तमान था' तात्पर्य यह कि प्रलय अवस्था में प्रकृति के साथ जीवात्मा और ब्रह्म भी वर्तमान थे। इस प्रकार उक्त पंक्ति से ऋषि ने उस अवस्था में तीन अनादि पदार्थों की सत्ता को स्पष्ट किया है तथा इस मन्तव्य का एक प्रकार से प्रत्याख्यान किया है, जो उस अवस्था में एक मात्र ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करते हैं, जीव तथा प्रकृति की स्थिति को नहीं मानते, इनका उद्भव ब्रह्म से ही मान लेते हैं।

तीन अनादि पदार्थों के मानने पर जगद्रचना की व्याख्या सर्वाधिक निर्दोष की जा सकती है। कारण यह है कि लोक में किसी भी रचना के हेतु तीन

प्रकार के देखे जाते हैं। प्रत्येक कार्य का कोई बनाने वाला होता है, कुछ पदार्थ होते हैं, जिनसे वह कार्य बनाया जाता है, कुछ सहयोगी साधन होते हैं। पहला कारण निमित्त कहाता है, दूसरा उपादान और तीसरा साधारण। संसार में कोई ऐसा कार्य संभव नहीं, जिस के ये तीन कारण नहीं। जब दृश्यादृश्य जगत् को कार्य माना जाता है तो उसके तीनों कारणों का होना आवश्यक है। इसमें जगत् की रचना का निमित्त कारण ईश्वर, उपादान कारण प्रकृति तथा जीवों के कृत शुभाशुभ कर्म अथवा धर्माधर्म आदि साधारण कारण होते हैं। इसलिये इन तीनों पदार्थों को अनादि माने बिना सृष्टि की निर्दोष व्याख्या नहीं की जा सकती।

ब्रह्म से ही जगत्-उत्पत्ति नहीं ?

प्रश्न —वेदान्त दर्शन पर विचार करने वाले तथाकथित नवीन आचार्यों की यह मान्यता है, कि एकमात्र ब्रह्म को वास्तविक तत्त्व मानने पर सृष्टि की व्याख्या की जा सकती है। उनका कहना है, कि जगत् के निमित्त और उपादान कारण को अलग मानना अनावश्यक है। एकमात्र ब्रह्म स्वयं अपने से जगत् को उत्पन्न कर देता है, उसे अन्य उपादान की अपेक्षा नहीं। लोक में ऐसे दृष्टान्त देखे जाते हैं। मकड़ी अपने आप से ही जाला बुन देती है, बाहर से उसे कोई साधन-सहयोग लेने की अपेक्षा नहीं होती, ऐसे ही जीवित पुरुष से केश-नख स्वतः उत्पन्न होते रहते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म अपने से ही जगत् को उत्पन्न कर देता है।

उत्तर—यह बात पहले कही जा चुकी है, यदि ब्रह्म अपने से जगत् को बनावे तो वह विकारी या परिणामी होना चाहिये। ब्रह्म चेतन तत्व है, चेतन कभी विकारी नहीं होता। इसके अतिरिक्त यह भी बात है, चेतन ब्रह्म का परिणाम जगत् जड़ कैसे हो जाता? क्योंकि कारण के विशेष गुण कार्य में अवश्य आते हैं। या तो जगत् भी चेतन होता, या फिर कार्य जड़-जगत् के अनुसार उपादान कारण ईश्वर या ब्रह्म को भी जड़ मानना पड़ता। पर न जगत् चेतन है, और न ईश्वर जड़। इसलिये ईश्वर को जगत् का उपादान कारण नहीं माना जा सकता।

ब्रह्म उपादान से जगत् की उत्पत्ति में मकड़ी आदि के जो दृष्टान्त दिये जाते हैं, उनकी वास्तविकता की ओर किसी ब्रह्मोपादानवादी ने क्यों ध्यान नहीं दिया, यह आश्चर्य की बात है। ये दृष्टान्त उक्त मत के साधक न होकर केवल बाधक हैं। मकड़ी एक प्राणी है, जिसका शरीर भौतिक या प्राकृतिक है, और उसमें एक चेतन जीवात्मा का निवास है। उस प्राणी द्वारा जो जाला बनाया जाता है, वह उस भौतिक शरीर का विकार या परिणाम है, चेतन जीवात्मा का नहीं। यह भी ध्यान देने की बात है कि शरीर से जाला उसी अवस्था में बन सकता है, जब शरीर का अधिष्ठाता चेतन जीवात्मा वहाँ विद्यमान रहता है। वह स्थिति इस बात को स्पष्ट करती है कि केवल जड़ तत्व चेतन के सहयोग विना स्वतः विकृत या परिणत नहीं होता। दृष्टान्त से स्पष्ट है, जाला रूप जड़ विकार जड़ शरीर का है, चेतन जीवात्मा का नहीं। इस दृष्टान्त का उद्भावन करने वाले उपनिषद (यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च) वाक्य में यही स्पष्ट किया है, कि जैसे मकड़ी जाला बनाती और उसका संहार करती है, उसी प्रकार अविनाशी ब्रह्म से यह विश्व प्रादुर्भूत होता है।

उपनिषद के उस वाक्य में 'यथा' और 'तथा' शब्द ध्यान देने योग्य हैं। जैसे मकड़ी जाला बनाती और उपसंहार करती है 'तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वम्' वैसे अविनाशी ब्रह्म से यहाँ विश्व प्रादुर्भूत होता है। अब देखना यह है कि जाला मकड़ी के भौतिक शरीर से परिणत होता है और बनाने वाला अधिष्ठाता चेतन आत्मा वहाँ इस प्रवृत्ति का प्रेरक है, चेतन स्वयं जाला नहीं बनता, ऐसे ही ब्रह्म अपने प्रकृति रूप देह से विश्व का प्रादुर्भाव करता है, समस्त विश्व परिणाम प्रकृति का ही है, प्रकृति से होने वाली समस्त प्रवृत्तियों का प्रेरक व अधिष्ठाता परमात्मा रहता है। वह स्वयं विश्व के रूप में परिणत नहीं होता, इसलिए वह विश्व का केवल निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं हो सकता।

जगत् का निर्माण क्यों ?

प्रश्न—यह ठीक है, कि सृष्टिकर्त्ता ईश्वर है, और वह प्रकृति मूल उपादान से जगत् की रचना करता है; परन्तु प्रश्न है, जगत् की रचना में उसका क्या प्रयोजन है ? जगत् की रचना किस लक्ष्य को लेकर की जाती है, यदि इसका कोई प्रयोजन हो नहीं, तो रचना व्यर्थ है, उसनें

क्यों ऐसा किया ? वह तो सर्वज्ञ है, फिर ऐसी निष्प्रयोजन रचना क्यों ?

उत्तर—प्रयोजन कामनामूलक होता है। ब्रह्म को ब्रह्म ज्ञानियों ने पूर्णकाम व आप्तकाम बताया है, इसलिये सृष्टि रचना में ईश्वर का कामना मूलक कोई निजी प्रयोजन नहीं रहता। यह एक व्यवस्था है और ईश्वरीय व्यवस्था है, वह स्वयं अपनी व्यवस्था से बाहर नहीं जाता, उसके नियम सत्य हैं और पूर्ण हैं। उनके अनुसार ईश्वर सृष्टि रचना करता है—जीवात्माओं के भोग और अपवर्ग की सिद्धि के लिये। उसका यह कार्य उसकी एक स्वाभाविक विशेषता है, इसमें कभी कोई अन्तर या विपर्यास आने की संभावना नहीं की जा सकती। सृष्टिरचना के द्वारा ही परमात्मा का बोध होता है, और इस मार्ग से जीवात्मा मोक्ष को प्राप्त करता है। जब यह प्राप्त नहीं होती, तब कर्मों को करता और उनके अनुसार सुख-दुःख आदि फलों को भोगा करता है, सृष्टि-रचना का यही प्रयोजन है।

निराकार से साकार सृष्टि कैसे ?

प्रश्न—ईश्वर को निराकार माना जाता है, वह निराकार होता हुआ सृष्टि की रचना कैसे करता है ? लोक में देखा जाता है, कि कोई भी कर्त्ता दहादि साकार सहयोगी के बिना किसी प्रकार की रचना करने में असमर्थ रहता है, तब निराकार ईश्वर इस अनन्त विश्व की रचना करने में कैसे समर्थ होता है ?

उत्तर—अनन्त विश्व की रचना करने वाला निराकार ही संभव हो सकता है। जहाँ ईश्वर को निराकार माना गया है, वहाँ उसे सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् भी कहा गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, 'सर्वशक्तिमान्' का यही तात्पर्य है, कि वह जगद्रचना में अन्य किसी सहायक की अपेक्षा नहीं रखता, उसमें अनन्त शक्ति व पराक्रम है उसका चैतन्य रूप सामर्थ्य असीम है; वह उसी सामर्थ्य द्वारा मूल उपादान जड़ प्रकृति को प्रेरित करता है, उसकी अनन्त सामर्थ्य युक्त व्यवस्था सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्वों में सर्वत्र व्याप्त है। वह कण-कण में अपना कार्य किया करती है। जीवात्मा अल्पज्ञ, अल्पशक्ति एवं एकदेशी है। उसे अपने किसी कार्य को संपन्न करने के लिये अन्तरंग साधन करण (बुद्धि मन आदि) तथा बाह्य साधन देह एवं देहावयवों की अपेक्षा

रहती है। इसलिये लोक में देखी गई स्थूल व्यवस्था के अनुसार ऐश्वरी सृष्टि के विषय में ऊहा करना उपयुक्त न होगा।

यदि गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाय तो जीवात्मा द्वारा की जाने वाली प्रेरणाओं में उस स्थिति को पकड़ा जा सकता है, जहाँ किसी साकार सहयोगी की अपेक्षा नहीं जानी जाती। विचार कीजिये आप कुर्सी पर बैठे हैं, मेज आपके सामने है, मेज पर आप का हाथ निश्चेष्ट रक्खा हुआ है, उससे कुछ दूर मेज के कोने पर कलम रक्खा है, आप उसे उठाकर कुछ लिखना चाहते हैं। आपकी इस इच्छा के साथ ही हाथ में हरकत होती है, वह ऊपर उठता और अंगुलियों में कलम पकड़ कर फिर पहली जगह आ टिकता है। अब विचारना यह है कि हाथ में उठने के लिये जो क्रिया हुई है, वह एक प्रेरणा का फल है, देह के अन्दर बैठा जो आपका चेतन आत्मा है, उसी से यह प्रेरणा प्राप्त होती है। प्रेरणा देने की सीमा में चैतन्य के अतिरिक्त किसी अन्य साकार सहयोगी का समावेश नहीं है। यहाँ केवल चेतन आत्मा प्रेरणा दे रहा है, जो निराकार है। उसके अन्य साधन बुद्धि, मन आदि प्रेर्यमाण सीमा में आते हैं, प्रेरक सीमा में नहीं। इससे यह परिणाम निकलता है, कि चैतन्य एक ऐसा तत्व है, जो प्रेरणा का अन्य आधार व स्रोत है, जिसमें किसी अन्य साकार सहयोगी की अपेक्षा नहीं रहती। जीव-चेतन की शक्ति जैसे अति सीमित है, ऐसे ब्रह्म-चेतन की शक्ति असीमित है, जैसे जीव केवल देह में प्रेरणा प्रदान करता है, ऐसे परमेश्वर अनन्त सामर्थ्ययुक्त होने से अनन्त विश्व को प्रेरित करता है। सृष्टि रचना के विचार में यदि साकार सहयोगी की कल्पना की जाय तो वस्तुतः यह रचना ही असंभव हो जायगी, क्योंकि वह सहयोगी भी विना रचना के असंभव होगा। फलतः अनन्त विश्व की रचना के लिये निरपेक्ष निराकार चैतन्य ही समर्थ हो सकता है, यह निश्चित है।

बिना कारण क्यों नहीं ?

प्रश्न—ईश्वर जब सर्वशक्तिमान् है, तो वह बिना कारण के ही जगत् को क्यों नहीं बना देता ?

उत्तर—यह संभव नहीं। बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता, कारण न होना 'अभाव' का स्वरूप है, जो अभाव है वह कभी भावरूप में परिणत नहीं हो सकता, और न भावरूप पदार्थ का कभी सर्वथा अभाव होता है।

बिना कारण अथवा अभाव से जगत की उत्पत्ति कहना बन्ध्यापुत्र के विवाह के समान मिथ्या है।

प्रश्न—जब कारण के बिना कुछ नहीं हो सकता, तो कारण का भी कोई कारण मानना होगा, और उसका भी कोई अन्य कारण; इस प्रकार तुम्हारे इस कथन में अनवस्था दोष आता है, कि कारण के बिना कुछ नहीं हो सकता।

उत्तर—हमने यह नहीं कहा कि कारण के बिना कुछ नहीं हो सकता। हमने कहा है—कोई कार्य कारण के बिना नहीं हो सकता। ऐसे भी पदार्थ हैं, जो किसी के कारण हैं, पर वे स्वयं किसी के कार्य भी हैं। ऐसे पदार्थों को 'कारणकार्य' अथवा 'प्रकृति-विकृति' कहा जाता है। जैसे घड़ा मिट्टी से बनता है, मिट्टी पृथ्वी रूप है, पृथ्वी घड़े मकान आदि का कारण होते हुए भी अपने कारणों का कार्य है, अर्थात् जिन कारणों से पृथ्वी की रचना होती है उनका कार्य है। परन्तु जो सब कार्य जगत् का मूल कारण है, उसका और कोई कारण नहीं होता, जगत का मूल उपादान कारण अनादि पदार्थ है, वह किसी से उत्पन्न या परिणत नहीं होता, यदि ऐसा होता तो वह मूल कारण नहीं हो सकता था। इस प्रकार जैसे जगत् का कर्त्ता निमित्त कारण ईश्वर अनादि है, वैसे ही जगत् का मूल उपादान कारण प्रकृति भी अनादि है। उसका अन्य कोई कारण संभव नहीं, क्योंकि वह कार्य नहीं, केवल कारण है, अतएव अनवस्था दोष की यहाँ संभावना नहीं हो सकती।

अन्य वादों का विवेचन

प्रश्न—आप प्रकृति उपादान से जगत् की सृष्टि कहते हैं, पर अन्य अनेक आचार्यों के सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में विविध विचार हैं, क्या उनमें कोई सत्यता नहीं है? उन विचारों को निम्नलिखित वादों के रूप में उपस्थित किया जा सकता है—शून्यवाद, अभाववाद, आकस्मिक-वाद, सर्वानित्यत्ववाद, भूतनित्यत्ववाद, पृथक्त्ववाद, इतरेतराभाववाद, स्वभाववाद, जगदनादिवाद जीवेश्वरवाद आदि। क्या इनके अनुसार सृष्टि की यथार्थ व्याख्या संभव नहीं?

उत्तर—इन वादों के आधार पर सृष्टि की सत्य एवं पूर्ण व्याख्या होना सम्भव नहीं, ये सब एकदेशी अवैदिक वाद हैं, जो किसी एक अंश पर धुंधला

सा प्रकाश डालते हैं, कहीं वह भी नहीं, प्रत्युत प्रकाश की जगह अन्धकार का

ही विस्तार करते हैं। जगत् की यथार्थ विद्यमानता पहले दोनों वादों को ठुकरा देती है। किसी वस्तु का 'होना' कहना अथवा 'उत्पन्न होना' बताना और उसे अकस्मात् कहना परस्पर विरोधी हैं, जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह निश्चित ही अपने कारणों से होगी, यह अलग बात है, कि हम उन कारणों को जान सकें या न जान सकें। सब वस्तु अनित्य हैं; अथवा भूत नित्य हैं इसलिए सब वस्तु नित्य हैं, ये कथन अपने ही में मिथ्या हैं, किसी वस्तु का नित्य या अनित्य होना विशिष्ट निमित्तों पर आधारित है, उत्पन्न होने वाली वस्तु अनित्य तथा उत्पाद-विनाश से रहित वस्तु नित्य कही जाती है; यह एक व्यवस्था है। प्रत्येक वस्तु न नित्य हो सकती है, न अनित्य।

पृथक्त्ववाद आधुनिक रसायनशास्त्र से पर्याप्त सीमा तक मेल रखता है। रसायनशास्त्र के अनुसार आज तक ऐसे एक सौ दो पदार्थों का पता लग चुका है, जो मूल रूप में एक दूसरे से पृथक् हैं, एक दूसरे में किसी का कोई अंश नहीं है, भविष्य में और भी ऐसे अनेक पदार्थों का पता लग जाने की संभावना है। सोना, चाँदी, लोहा, तांबा, पारा, गन्धक, जस्ता, सीसा, कैल्शिअम, आक्सीजन, हाइड्रोजन, कॉर्बन, नाइट्रोजन, सिलिकन्, फास्फोरस, ऐल्युमिनिअम, आर्सनिक, प्लैटिनम् आदि सब ऐसे पदार्थ हैं, जो सर्वथा एक दूसरे से पृथक् हैं। किसी में किसी का कोई अंश नहीं है। पर भौतिकी विज्ञान ने ही इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है, कि ये सब किन्हीं मूल तत्त्वों के सम्मिश्रण से बने हैं। वे मूल तत्त्व प्रोटीन, इलैक्ट्रॉन् और न्यूट्रॉन् हैं, भारतीय दार्शनिक विचार के अनुसार इन्हें यथाक्रम सत्त्व रजस् तमस् के वर्ग में समझा जा सकता है। वैसे भी उक्त पदार्थों में से प्रत्येक में आकाश, काल, सामान्य [जाति] एवं नियन्तृशक्ति परमात्मा आदि का विद्यमान रहना अनिवार्य है, इसलिये स्वरूप से इनके पृथक् रहते भी इनमें अन्य पदार्थों का अस्तित्व रहता ही है।

पदार्थों के इतरेतराभाव से सब पदार्थों का अभाव बताना सर्वथा प्रत्यक्ष विरुद्ध है। गाय घोड़ा नहीं, घोड़ा गाय नहीं, इसलिये न गाय है न घोड़ा; ऐसा कहना नितान्त विचार शून्य है। यद्यपि गाय घोड़ा नहीं है, पर गाय गाय है, घोड़ा घोड़ा है, उनके अपने अस्तित्व को कैसे झुठलाया जा सकता है।

'स्वभाव' से जगत् की उत्पत्ति कहना, किस अर्थ को प्रकट करता है, यह विचारणीय है। 'स्वभाव' में 'स्व' पद का अर्थ क्या है ? यदि पद मूल कारण को कहता है, तो इस पद मात्र के अलग कहने से कोई अन्तर नहीं आता, अपने मूल कारण से जगत् उत्पन्न होता है, यही उसका तात्पर्य हुआ। इसी प्रकार वर्तमान रूप में जगत् को अनादि कहना प्रमाण विरुद्ध है। जागतिक वस्तुओं में परिणाम व परिवर्तन अथवा उत्पादन-विनाश बराबर देखा जाता है, जो इस के बने हुए होने को सिद्ध करता है, इसी रूप में जगत् को अनादि कहना अयुक्त है। पृथिव्यादि पदार्थ अवयव संयोग से बने परीक्षा द्वारा प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। यह कहना भी सर्वथा अयुक्त है, कि जगत् का कर्ता ईश्वर कोई नहीं, जीवात्मा ही सिद्ध अवस्था को प्राप्त होकर जगद्रचना कर सकते हैं। जीवात्मा की सिद्ध अवस्था तक पहुँचने के लिये भी संसार की आवश्यकता है, यह संसार किसने बनाया ? किसी जीवात्मा का अनादि सिद्ध होना सम्भव नहीं। यदि कोई चेतन आत्मतत्त्व सृष्टि रचना का सामर्थ्य रखने वाला अनादि सिद्ध माना जाता है, तो उसे ही परमात्मा कहा जा सकता है।

सृष्टि का क्रम प्रवाह से अनादि है, उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय जगत् के अनादि काल से चले आते हैं, अनन्त काल तक इसी प्रकार चलते रहेंगे, यह ऐश्वरी व्यवस्था है। कल्प-कल्पान्तर में परमेश्वर ऐसी ही सृष्टि को बनाता, धारण करता एवं प्रलय करता रहता है। ईश्वर के कार्य में कभी भूल चूक या विपर्यास नहीं होता।

दर्शनों में विरोध

प्रश्न—सृष्टि विषय में क्या वेदादि शास्त्रों का एवं भारतीय दर्शनों का परस्पर विरोध नहीं है ? कहीं आत्मा से, कहीं परमाणु से, कहीं प्रकृति से, कहीं ब्रह्म और कहीं काल एवं कर्म से सृष्टि कही है। इनमें स्पष्ट विरोध प्रतीत होता है।

उत्तर—इनमें विरोध कोई नहीं, ये सब एक दूसरे के पूरक हैं। प्रत्येक कार्य अनेक कारणों से बनता है। यह कहा जा चुका है, कार्यमात्र के तीन कारण हुआ करते हैं, निमित्त, उपादान और साधारण। न्यायादि दर्शनों में

जगत् के विभिन्न कारणों का वर्णन है, और उसके लिये अन्य उपयोगी विधियों का। प्रत्येक वस्तु की सिद्धि के किसी भी स्वर पर हमें प्रमाणों का आश्रय लेना पड़ता है, इस स्थिति का कोई दर्शन विरोध नहीं करता। तत्त्व विषयक जिज्ञासा होने पर प्रारम्भ में शिक्षा का उपक्रम वहीं से होता है, जिनका प्रतिपादन वैशेषिक दर्शन करता है। तत्त्वों के स्थूल-सूक्ष्म साधारण स्वरूप और उनके गुण-धर्मों की जानकारी पर ही आगे तत्त्वों की अति सूक्ष्म अवस्थाओं को जानने समझने की ओर प्रवृत्ति एवं क्षमता का होना सम्भव है। प्रमाण और बाह्य प्रमेय का विषय न्याय-वैशेषिक दर्शनों में प्रतिपादित किया गया है। तत्त्वों की उन अवस्थाओं और चेतन-अचेतन रूप में उनके विश्लेषण को सांख्य प्रस्तुत करता है। चेतन-अचेतन के भेद को साक्षात्कार करने की प्रक्रियाओं का वर्णन योग में है। इन प्रक्रियाओं के मुख्यसाधनभूत मन की जिन विविध अवस्थाओं के विश्लेषण का योग में वर्णन है, वह मनोविज्ञान की विभिन्न दिशाओं का केन्द्रभूत आधार है। समाज के कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यों का वर्णन मीमांसा, एवं समस्त विश्व के संचालक व नियन्ता चेतन तत्त्व का वर्णन वेदान्त करता है। यह ज्ञानसाधन कार्य-क्रम भारतीय संस्कृति के अनुसार वर्णाश्रम धर्मों एवं कर्त्तव्यों के रूप में पूर्णतया व्यवस्थित है। इन उद्देश्यों के रूप में कहीं किसी का किसी के साथ विरोध का उद्भावन अकल्पनीय है। दर्शनों में जिन तत्त्वों का निरूपण किया है, सृष्टि-रचना में एक दूसरे के पूरक होकर वे तत्त्व पहले कहे तीन कारणों में अन्तर्हित अथवा समाविष्ट हैं, इनमें विरोध का कहीं अवकाश नहीं।

प्राणी का प्रादुर्भाव कैसे ?

प्रश्न—पृथिव्यादि लोक-लोकान्तर तथा पृथिवी पर औषधि वनस्पति आदि उत्पन्न हो जाने पर संचरणशील प्राणी का प्रादुर्भाव कैसे होता है? चालू सर्गक्रम में ऐसे प्राणी का प्रजनन मिथुनमूलक देखा जाता है, यह स्थिति सर्वादिकाल में होनी संभव नहीं। यह एक उलझन भरी समस्या है, कि सर्वप्रथम प्राणी का प्रादुर्भाव कैसे हुआ।

उत्तर—सर्वप्रथम प्राणी का प्रादुर्भाव बाह्य मिथुनमूलक नहीं होता। परमात्मा अपनी अचिन्त्यशक्ति एवं व्यवस्था के अनुसार स्त्री-पुरुषों के शरीर

बनाकर उनमें जीवों का संयोग कर देता है। शरीर की रचना जिस प्रक्रिया के अनुसार चालू होती है, उसमें जीवात्मा का संचार प्रथमत: हो जाता है। प्राणी शरीर की रचना अत्यन्त जटिल है, शरीर-रचना की इस सुव्यवस्था को देखकर रचना करने वाले का अनुमान होता है, जो व्यवस्था जिस प्राणी वर्ग में निहित कर दी गई है। वह चालू संसार के मिथुन-मूलक प्रजनन में अब तक चली आ रही है, और प्रलयपर्यन्त चलती रहेगी। इससे आदि शरीर की रचना बाह्य मैथुन रहित केवल परमात्मा की नित्य व्यवस्था के अनुसार होती है। यह अनुमान वर्तमान में देखी गई व्यवस्था के आधार पर किया जा सकता है।

प्रश्न—इतने कथन से आदि सर्ग में मानव शरीर रचना की प्रक्रिया का स्पष्टीकरण नहीं होता। इसका और स्पष्ट विवरण देना चाहिए।

उत्तर—आदि सर्ग में प्राणी देह की रचना ऐश्वरी सृष्टि में गिनी जाती है। सर्वप्रथम जो प्राणी हुए, विशेषत: मानव प्राणी, उनका पालन-पोषण करने वाला माता-पिता आदि कोई न था। इसलिये यह निश्चित सम्भावना होती है, कि वे मानव किशोर अवस्था में प्रादुर्भूत हुए, कतिपय आधुनिक वैज्ञानिक भी ऐसा मानने लगे हैं। बोस्टन नगर के स्मिथसोनियन इन्स्टीट्यूट के जीव विज्ञान शास्त्र के अध्यक्ष डा० क्लार्क का कथन है—मानव जब प्रादुर्भूत हुआ, वह विचार करने, चलने फिरने और अपनी रक्षा करने के योग्य था Man appeared able to think walk and defend himself.

समस्या यह है, कि मानव का ऐसा विकसित देह सर्वप्रथम प्रादुर्भूत कैसे हुआ? उसकी रचना किस प्रकार हुई होगी? सचमुच यह समस्या अत्यन्त गम्भीर है। ऐसी स्थिति में ऐसे शरीरों का प्रकट हो जाना अनायास बुद्धिगम्य नहीं है। इसे समझने के लिये हमें चालू सर्गकाल के प्रजनन की स्थिति पर ध्यान देना चाहिये, सम्भव है वहाँ की कोई पकड़ इस समस्या को सुलझाने में सहयोग दे सके। साधारण रूप से प्रजनन की विधा चार वर्गों में विभक्त है—जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज और स्वेदज अथवा ऊष्मज। अन्तिम वर्ग अतिसूक्ष्म अदृश्य कृमिकीटों से लगाकर दृश्य क्षुद्रजन्तुओं तक का है। इस वर्ग

के प्राणी का देह नियत ऊष्मा पाकर अपने कारणों से उद्भूत हो जाता है। उद्भिज्ज वर्ग वनस्पति का है। चालू सर्ग काल में देखा जाता है, कि बीज से वृक्ष होता है, पर सबसे पहले वृक्ष का बीज कैसे हुआ, यह विचारणीय है। निश्चित है, कि वह बीज वृक्ष पर नहीं लगा, तब यही अनुमान किया जा सकता है, कि-उसकी रचना प्रकृति गर्भ में होती रही होगी। बीज में प्रजनन शक्ति-अंश एक कोष (खोल) में सुरक्षित रहता है, यह स्पष्ट है। वृक्ष पर बीज के निर्माण की प्रक्रिया भी नियन्ता की व्यवस्था के अनुसार प्रकृति का एक चमत्कार है, वंश बीज-निर्माण की प्रक्रिया क्या है, प्रजनन-अंश किस प्रकार कोष में सुरक्षित हो जाते हैं, जड़ से बीज तक कैसे उसका निर्माण होता आता है, इसे आज तक किसने जाना है? इसी प्रकार अण्डजवर्ग में बीज एक अति सुरक्षित कोष में आहित रहता है, इस वर्ग में कीड़ी तथा उससे भी अन्य कतिपय सूक्ष्म जन्तुओं से लेकर अनेक सरीसृप जाति के प्राणी स्थलचर तथा जलचर एवं नभचर पक्षी जाति का समावेश है। विभिन्न जातियों के देहों के अनुसार कोश की रचना छोटी-बड़ी देखी जाती है। इस वर्ग का भ्रूण एक विशेष प्रकार के खोल से सुरक्षित रहता है, मातृ-गर्भ में उपयुक्त पोषण प्राप्त कर गर्भ से बाहर भी नियत काल तक कोश युक्त रहता हुआ पोषण प्राप्त करता है। भ्रूण का यथायथ परिपाक होने पर खोल फटता है, और बच्चा निकल आता है, यह प्रकृति का एक चमत्कार है। इस वर्ग में उत्पत्तिकाल की दृष्टि से कुछ अधिक बड़े देहवाले प्राणियों का समावेश है, तथा यह एक विचारणीय बात है, कि भ्रूण का गर्भ से बाहर भी परिपोषण होता है।

अण्डज वर्ग के आगे बड़ी देह वाला प्राणी-वर्ग जरायुज है, जिसमें मानव एवं समस्त पशु-मृग आदि का समावेश है। कोश में भ्रूण के परिपोषण की प्राकृत व्यवस्था इस वर्ग में भी समान है। मातृगर्भ भ्रूण पूर्णाङ्ग होने तक जरायु में परिवेष्टित रहता है। स्निग्ध सुदृढ़ चमड़े जैसे पदार्थ की थैली का नाम जरायु है, पूर्णाङ्ग होने पर बालक इसको भेद कर ही मातृगर्भ से बाहर आता है। इस प्रकार भ्रूण की सुरक्षा, उपयुक्त पुष्टि व वृद्धि तक के लिए उसका विशिष्ट कोश में परिवेष्टित होना सर्वत्र प्राणी-वर्ग में समान है। यह एक ऐसी नियत व्यवस्था है, जो प्राणी के प्रादुर्भाव की आद्य-स्थिति पर

पर्याप्त प्रकाश डालती है। चालू सर्गकाल अथवा मैथुनी सृष्टि में नर-मादा का संयोग प्राणी के साजात्य प्रजनन की जिस स्थिति को प्रस्तुत करता है, वह स्थिति अमैथुनी सृष्टि में प्राकृत नियमों व व्यवस्थाओं के अनुसार प्रकृति गर्भ में प्रस्तुत हो जाती है। इस व्यवस्था से और अण्डजवर्ग के समान मातृगर्भ से बाहर भ्रूण की परिपोषण प्रक्रिया से यह अनुमान होता है कि सर्व-प्रथम आदिकाल में मानव आदि बड़े देहों की रचना प्रकृतिपोषित सुरक्षित उपयुक्त कोशों द्वारा हुई होगी। चालू सर्गकाल में देहों के अनुसार कोशों के आकार में विभिन्नता देखी जाती है। यह सम्भव है, आदिकाल में प्रकृतिनिर्मित उपयुक्त कोशों में सुरक्षित एवं परिपोषित मानव आदि के किशोरावस्थापन्न सजीव देह यथावसर प्रादुर्भूत हुए हों। आदिसर्ग में विविध प्राणियों का अनेक संख्या में प्रादुर्भाव हो जाता है, यह मानने में कोई बाधा नहीं है। यह सब जीवों के कर्मानुसार ऐश्वरी व्यवस्था के सहयोग से हुआ करता है।

आदि मानव का मूल स्थान

प्रश्न—सर्वप्रथम मानव का प्रादुर्भाव पृथ्वी के किस प्रदेश पर हुआ ?

उत्तर—भारतीय साहित्य के आधार पर अनेक दिशाओं से यह स्पष्ट होता है कि मानव का सर्व प्रथम प्रादुर्भाव 'त्रिविष्टप' नामक प्रदेश में हुआ, जो वर्तमान तिब्बत के कैलाश, मानसरोवर प्रदेश तथा उससे सुदूर पच्छिम और कुछ दक्खिन-पच्छिम की ओर फैला हुआ था। कुछ समय पश्चात् गंगा सरस्वती आदि नदी घाटियों के द्वारा आर्यों ने भारत प्रदेश में आकर निवास किया और इसका आर्यावर्त्त नाम रक्खा, सर्वप्रथम यहां आर्यों का निवास हुआ। उनसे पहले यहाँ अन्य किसी मानव का निवास नहीं था। आर्यों का मूल स्थान और यह भूभाग एक ही देश था। आर्य कहीं बाहर से यहाँ कभी नहीं आये। इक्ष्वाकु से लेकर कौरव-पाण्डव पर्यन्त पृथ्वी के इन समस्त भागों पर आर्यों का अखण्ड राज्य और वेदों का थोड़ा-थोड़ा सर्वत्र प्रचार रहा। अनन्तर आर्यों का आलस्य, प्रमाद और परस्पर का विरोध समस्त ऐश्वर्य एवं विभूतियों को ले बैठा। पृथिव्यादि लोकों की लगभग एक

अरब सत्तानवे करोड़ वर्ष की आयु में अब तक आर्यों का अधिक काल अभ्युदय का बीता है। वेद धर्म पर प्रज्ञा पूर्वक आचरण करने से अब भी उत्कृष्ट अभ्युदय की सम्भावना की जा सकती है।

इस प्रकार सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ने अतिसूक्ष्म प्रकृतिरूप उपादान कारण से जगत् को बनाया, जो असंख्य पृथिव्यादि लोक-लोकान्तरों के रूप में दृष्टि-गोचर हो रहा है। ये समस्त लोक अपनी गति एवं परस्पर के आकर्षण से ऐश्वरी व्यवस्था के अनुसार अनन्त आकाश में अवस्थित हैं। जैसे परमेश्वर इन सब का उत्पादक है, वैसे ही इनका धारक एवं संहारक भी रहता है। हमारी इस पृथ्वी के समान अन्य लोक-लोकान्तरों में भी प्राणी का होना संभव है। जीवात्माओं के कर्मानुष्ठान और सुख-दुःखादि फलों को भोगने तथा आत्म-ज्ञान होने पर अपवर्ग की प्राप्ति जगद्रचना का प्रयोजन है। असंख्य लोकान्तरों की रचना का निष्प्रयोजन होना सम्भव है। अतः लोकान्तरों में भी प्राणी का होना सम्भव है। वेद का ज्ञान सब के लिए समान है। समस्त विश्व पर परमेश्वर का नियन्त्रण रहता है। उसी व्यवस्था के अनुसार सब तत्त्व अपना कार्य किया करते हैं।

मैं आधुनिक भारत के मार्ग-दर्शक उस दयानन्द को आदरपूर्वक श्रद्धांजलि देता हूं, जिसने देश की पतितावस्था में भी हिन्दुओं को प्रभु की भक्ति और मानव-समाज की सेवा के सीधे व सच्चे मार्ग का दिग्दर्शन कराया।

—कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर

विद्या-अविद्या और बन्ध-मोक्ष विषयों की व्याख्या

सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास के आधार पर

श्री जगदेवसिंह 'सिद्धान्ती'

● ● ●

ज्ञान का उत्कर्ष विद्या और अपकष है 'अविद्या'। 'अविद्या' कारण है बन्धन का और विद्या मार्ग खोलती है मोक्ष का।

सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास में ऋषि ने विद्या—अविद्या, बन्ध—मोक्ष में जीव की सत्ता, मोक्ष से पुनरावृत्ति, मोक्ष साधन, परमात्मा की व्याख्या, कर्मफल आदि विषयों का वैज्ञानिक युक्तिसंगत विवेचन कर संसार के सभी पक्षों को राह दिखायी।

सिद्धान्तों के मर्मज्ञ विद्वान् विचारक ने ऋषि-मन्तव्यों को हृदयंगम कराने का लेख में सफल प्रयास किया है। —*सम्पादक*

● ● ●

नवम

विद्यां च ऽविद्यां च यस्तद्वेदोभय ँ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

यजुर्वेद ॥ अ० ४०॥ मन्त्र १४॥

जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ ही साथ जानता है, वह अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तर के विद्या अर्थात् यथार्थ-ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।

अविद्या का लक्षण

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥

योग द० ॥ साधन पाद ॥सूत्र ५॥

जो अनित्य संसार और देहादि में नित्य अर्थात् जो कार्य जगत् देखा सुना जाता है, सदा रहेगा, सदा से है और योग बल से यही देवों का शरीर सदा रहता है—वैसी विपरीत बुद्धि होना अविद्या का प्रथम भाग है, अशुचि अर्थात् मलमय स्त्र्यादि के और मिथ्याभाषण चोरी आदि अपवित्र में पवित्रबुद्धि दूसरा, अत्यन्त विषय सेवन रूप दुःख में सुखबुद्धि आदि तीसरा, अनात्मा में आत्मबुद्धि करना अविद्या का चौथा भाग है, यह चार प्रकार का विपरीत ज्ञान अविद्या कहाती है। इसके विपरीत अर्थात् अनित्य में अनित्य और नित्य में नित्य, अपवित्र में अपवित्र और पवित्र में पवित्र, दुःख में दुःख, सुख में सुख

अनात्मा में अनात्मा और आत्मा में आत्मा का ज्ञान होना मिथ्या है । अर्थात् "वेत्ति यथावत्तत्त्वपदार्थस्वरूपं यया सा विद्या, यया तत्त्वस्वरूपं न जानाति भ्रमादन्यस्मिन्नन्यन्निश्चिनोति यया सा ऽविद्या" जिससे पदार्थ का यथार्थ स्वरूप बोध होवे वह विद्या और जिससे तत्त्वस्वरूप न जान पड़े अन्य में अन्य बुद्धि होवे वह अविद्या कहाती है अर्थात् कर्म-उपासना अविद्या इसलिए है कि वह बाह्य और आन्तर क्रिया विशेष है ज्ञान विशेष नहीं, इसी से मन्त्र में कहा है कि विना शुद्ध कर्म और परमेश्वर की उपासना के मृत्यु दुःख से पार कोई नहीं होता अर्थात् पवित्र कर्म पवित्रोपासना और पवित्र ज्ञान ही से मुक्ति और अपवित्र मिथ्या भाषणादि कर्म पाषाणमूर्त्यादि की उपासना और मिथ्या ज्ञान से बन्ध होता है । कोई भी मनुष्य क्षण मात्र भी कर्म उपासना और ज्ञान से रहित नहीं होता इसलिए धर्मयुक्त सत्यभाषणादि कर्म करना और मिथ्याभाषणादि अधर्म को छोड़ देना ही मुक्ति का साधन है ।

अधर्म अज्ञान में बद्ध हुए जीव की मुक्ति नहीं होती । जीव के बन्ध और मोक्ष स्वभाव से नहीं होते किन्तु निमित्त से होते हैं । स्वभाव से होते तो बन्ध और मुक्ति की निवृत्ति कभी नहीं होती । जीव और ब्रह्म स्वरूप से एक नहीं हैं । नवीनवेदान्तियों का यह कहना सत्य नहीं कि जीव ब्रह्मस्वरूप होने से परमार्थ में बद्ध नहीं तो मुक्ति क्या ? जीव का स्वरूप अल्प होने से आवरण में आता, शरीर के साथ प्रकट होने रूप जन्म लेता, पापरूप कर्मों के फल भोग रूप बन्धन में फँसता, उसके छुड़ाने का साधन करता, दुःख से छुटने की इच्छा करता और दुःखों से छूट कर परमानन्द परमेश्वर को प्राप्त हो कर मुक्ति को भी भोगता है । यह कहना मिथ्या है कि जीव तो पाप-पुण्य रहित साक्षी मात्र है और शीतोष्णादि शरीरादि के धर्म हैं, और आत्मा निर्लेप है, अपितु सत्य यह है कि देह और अन्तःकरण जड़ हैं उनको शीतोष्ण प्राप्ति और भोग नहीं है । जो चेतन मनुष्यादि प्राणी उसको स्पर्श करता है उसी को शीत उष्ण का भान और भोग होता है, वैसे ही प्राण भी जड़ हैं न उनको भूख न पिपासा किन्तु प्राण वाले जीव को क्षुधा तृषा लगती है, वैसे ही मन भी जड़ है न उसको हर्ष न शोक हो सकता है किन्तु मन से हर्ष शोक सुख दुःख का भाग जीव करता है । जैसे बहिष्करण श्रोत्रादि इन्द्रियों से अच्छे बुरे शब्दादि विषयों का ग्रहण करके जीव

सुखी दुःखी होता है, वैसे ही अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार से संकल्प—विकल्प, निश्चय, स्मरण अभिमान का करने वाला दण्ड और मान्य का भागी होता है, जैसे तलवार से मारने वाला दण्डनीय होता है तलवार नहीं होती वैसे ही देहेन्द्रिय अन्तःकरण और प्राणरूप साधनों से अच्छे बुरे कर्मों का कर्त्ता जीव सुख दुःख का भोक्ता है। कर्मों का साक्षी तो एक अद्वितीय परमात्मा है। जो कर्म करने वाला जीव है वही कर्मों में लिप्त होता है, वह जीव है वह ईश्वर नहीं है। इस लिए जीव साक्षी नहीं है।

नवीनवेदान्तियों का कहना सत्य नहीं कि—(१) "ब्रह्म ही एक चेतन तत्त्व है, जीव की पृथक् स्वतन्त्र चेतन सत्ता नहीं। (२) अन्तःकरणावच्छिन्न उपाधि के कारण ब्रह्म ही जीव कहलाता है। (३) ब्रह्म का प्रतिबिम्ब अन्तःकरण में पड़ कर जीव संज्ञा हो जाती है। (४) अध्यारोप=अन्य वस्तु में अन्य वस्तु को आरोप करके जिज्ञासु को बोध कराना होता। वास्तव में सब ब्रह्म ही है।" उपर्युक्त चारों बातें मिथ्या हैं, क्योंकि (१) ब्रह्म से जीव की स्वतंत्र सत्ता है, दोनों के धर्मों में भेद है। ब्रह्म सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी और सत्यसंकल्प आदि गुणों वाला है परन्तु जीव इससे विपरीत एकदेशी, परिच्छिन्न, अल्पज्ञ और अच्छे बुरे गुणों का धारण और कर्मों का करने वाला है। (२) अन्तःकरणावच्छिन्न ब्रह्म जीव नहीं हो सकता। सत्यसंकल्प सर्वव्यापक अन्तःकरण में क्यों बद्ध होवे—कोई कारण नहीं। (३) ब्रह्म का प्रतिबिम्ब हो ही नहीं सकता। प्रतिबिम्ब साकार वस्तु का साकार वस्तु में होता है। ब्रह्म निराकार है तब उस का प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता, जैसा कि आकाश का प्रतिबिम्ब नहीं। अज्ञान से लोग जल में आकाश का प्रतिबिम्ब समझते हैं जो कि नीला-नीला दीखता है। यह आकाश का प्रतिबिम्ब नहीं किन्तु आकाश में पृथ्वी और जल के कणों का प्रतिबिम्ब है। (४) अध्यारोप करने वाला जीव जब नवीनवेदान्तियों के मत में ब्रह्म ही है, ब्रह्म ने ब्रह्म में ही आरोप करके मिथ्या कल्पना क्यों करली ? यह कितना अनर्थ है। चले तो जीव को ब्रह्म बनाने, यहाँ ब्रह्म का स्वरूप ही बिगाड़ डाला। इस प्रकार के दोष ब्रह्म के नहीं हैं। मिथ्या संकल्प करने वाले जीवों के हैं।, जो कि अपने को ब्रह्म माने बैठे हैं। जीव का ब्रह्म मानना मिथ्या है। जो सर्वव्यापक है वह परिच्छिन्न अज्ञान और

बन्ध में कभी नहीं गिरता, क्योंकि अज्ञान परिच्छिन्न एकदेशी अल्प अल्पज्ञ जीव होता है सर्वज्ञ ब्रह्म नहीं ।

मुक्ति और बन्ध

"मुञ्चन्ति पृथग्भवन्ति जना यस्यां सा मुक्तिः" जिसमें छूट जाना हो उस को मुक्ति कहते हैं । जीव इच्छा पूर्वक दुःख से छूट कर सुख को प्राप्त होते हैं और ब्रह्म में रहते हैं ।

परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म—अविद्या—कुसङ्ग—कुसंस्कार-बुरे व्यसनों से अलग रहने और सत्यभाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपात रहित, न्याय धर्म की वृद्धि करने, परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढ़ने, पढ़ाने और धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, सबसे उत्तम साधनों को करने और जो कुछ करे वह सब पक्षपात रहित न्याय धर्मानुसार ही करे इत्यादि साधनों से मुक्ति और इनसे विपरीत ईश्वराज्ञा भंग करने आदि काम से बन्ध होता है ।

मुक्ति में जीव ब्रह्म में रहता है अव्याहतगति अर्थात् उसको कहीं रुकावट नहीं, विज्ञान आनन्दपूर्वक स्वतन्त्र विचरता है । मुक्ति में जीव का स्थूल शरीर न होने पर भी उसके सत्य संकल्पादि स्वाभाविक गुण सामर्थ्य सब बने रहते हैं, भौतिक संग नहीं रहता । जैसे—

शृण्वन् श्रोत्रं भवति, स्पर्शयन् त्वग्भवति, पश्यन् चक्षुर्भवति, रसयन् रसना भवति, जिघ्रन् घ्राणं भवति, मन्वानो मनोभवति, बोधयन् बुद्धिर्भवति, चेतयंश्चित्तं भवति, अहङ्कुर्वाणोऽहंकारो भवति ।। —शतपथ-काण्ड १४ ।।

मोक्ष में भौतिक शरीर वा इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं—जब सुनना चाहता है तब श्रोत्र, स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखने के सङ्कल्प से चक्षु, स्वाद के अर्थ रसना, गन्ध के लिए घ्राण, संकल्पविकल्प करते समय मन, निश्चय करने के लिए बुद्धि, स्मरण करने के लिए चित्त और अहङ्कार के अर्थ अहङ्कार रूप अपनी स्वशक्ति से जीवात्मा मुक्ति में हो जाता है और सङ्कल्प मात्र शरीर होता है । जैसे शरीर के आधार रह कर इन्द्रियों के गोलक के द्वारा जीव स्वकार्य करता है वैसे अपनी शक्ति से मुक्ति में सब आनन्द भोग लेता है ।

जीव की शक्ति मुख्य एक प्रकार की है, परन्तु बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भीषण, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, विभाग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन और गन्ध ग्रहण तथा ज्ञान इन चौबीस प्रकार के सामर्थ्ययुक्त जीव है। इससे मुक्ति में भी आनन्द की प्राप्ति भोग करता है। मुक्ति में जीव का ब्रह्म में लय अथवा नाश नहीं होता अन्यथा मुक्ति का आनन्द कौन भोगता? मुक्ति जीव की यही है कि दुःखों से छूट कर आनन्द स्वरूप सर्वव्यापक अनन्त परमेश्वर में जीव का आनन्द में रहना।

१—अभावं वादरिराह ह्येवम् ॥ वेदान्त ४-४-१० ॥

२—भावं जैमिनि विकल्पामननात् ॥ वेदान्त ४-४११ ॥

३—द्वादशाहवदुभयविधं वादरायणोऽतः ॥ वेदान्त ४-४-१३

इन वेदान्त शारीरक सूत्रों में १—व्यास जी के पिता वादरि मुक्ति में जीव का और उसके साथ मन का भाव मानते हैं अर्थात् जीव और मन का लय पराशर जी नहीं मानते। २—जैमिनि आचार्य मुक्त पुरुष का मन के समान सूक्ष्म शरीर, इन्द्रियों और प्राणादि को भी विद्यमान मानते हैं अभाव नहीं। ३—व्यास मुक्ति में भाव और अभाव इन दोनों को मानते हैं अर्थात् शुद्ध सामर्थ्ययुक्त जीव मुक्ति में बना रहता है। अपवित्रता पापाचरण, दुःख अज्ञानादि का अभाव मानते हैं।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥

कठोपनिषद् अ० २।व० ६। मं०१॥

जब शुद्ध मन युक्त पांच ज्ञानेन्द्रियां जीव के साथ रहती हैं, बुद्धि का निश्चय स्थिर होता है उसको परमगति अर्थात् मोक्ष कहते हैं।

य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ॥

छान्दो० प्र० ८खं० १२ मं० ५-६

स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ।। य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषां सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ।।छान्दो० प्र० ८।खं० १२।मं० ५-६

मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना तदस्याऽमृतस्याशरीरस्यात्मनो-धिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिय-योरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ।।

छान्दो० प्र० ८। खं १२। मं० १।।

जो परमात्मा अपहतपाप्मा सर्वपाप—जरा—मृत्यु—शोक—क्षुधा—पिपासा से रहित सत्यकाम सत्य संकल्प है उसकी खोज और उसी को जानने की इच्छा करनी चाहिये, जिस परमात्मा के सम्बन्ध से मुक्त जीव सब लोकों और सब कामों को प्राप्त होता है ।

जो परमात्मा को जान के मोक्ष के साधन और अपने को शुद्ध करना जानता है सो यह मुक्ति को प्राप्त जीव शुद्ध दिव्यनेत्र और शुद्ध मन से सब कामों को देखता प्राप्त होता हुआ रमण करता है । जो ये ब्रह्मलोक अर्थात् दर्शनीय परमात्मा में स्थित होके मोक्ष सुख को भोगते हैं और इसी परमात्मा को जो कि सबका अन्तर्यामी आत्मा है उसकी उपासना मुक्ति को प्राप्त करने वाले विद्वान् लोग करते हैं इससे उनको सब लोक और सब काम प्राप्त होते हैं अर्थात् जो जो संकल्प करते हैं वह वह लोक और वह वह काम प्राप्त होता है और वे मुक्त जीव स्थूल शरीर को छोड़ कर संकल्पमय शरीर से आकाश में परमेश्वर में विचरते हैं । क्योंकि जो शरीर वाले होते हैं वे सांसारिक दुःख से रहित नहीं हो सकते ।

जैसे इन्द्र से प्रजापति ने कहा है कि हे पूजित धन युक्त पुरुष ! यह स्थूल शरीर मरणधर्मा है और जैसे सिंह के मुख में बकरी होवे वैसे यह शरीर मृत्यु के मुख के बीच है सो शरीर इस मरण और शरीर रहित जीवात्मा का निवास स्थान है इसलिए यह जीव सुख और दुःख से सदा ग्रस्त रहता है, क्योंकि शरीर सहित जीवों की सांसारिक प्रसन्नता की निवृत्ति होती ही है और जो शरीर रहित मुक्त जीवात्मा ब्रह्म में रहता है उसको सांसारिक सुख दुःख का स्पर्श भी नहीं होता किन्तु सदा आनन्द में रहता है ।

१. न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते इति ।। छान्दो० प्र०८।खं० १५।।

२. अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ।। वेदान्त द०।४।४।१३

३. यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ।। भगवद् गीता ।।

इन उपर्युक्त तीन वचनों से विदित होता है कि मुक्ति वही है कि जिससे निवृत्त होकर पुनः संसार में कभी नहीं आता—तो यह बात ठीक नहीं है क्योंकि वेद में इस बात का निषेध किया है—

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम । को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ।।

२. अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम । स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ।। ऋग्वेद० मं १।सूक्त २४ मं १-२

१.हम लोग किस का नाम पवित्र जानें ? कौन नाश-रहित पदार्थों के मध्य में वर्त्तमान देव सदा प्रकाश स्वरूप हैं, हम को मुक्ति का सुख भुगा कर पुनः इस संसार में जन्म देता और माता पिता का दर्शन कराता है ? (२) हम इस स्वप्रकाशस्वरूप अनादि सदा मुक्त परमात्मा का नाम पवित्र जानें जो हमको मुक्ति में आनन्द भुगाकर पृथिवी में पुनः माता पिता के सम्बन्ध में जन्म देकर माता पिता का दर्शन कराता है, वही परमात्मा मुक्ति की व्यवस्था करता सब का स्वामी है । ३ ।।

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः ।। सांख्य अ० १ सू० १५६ ।।

जैसे इस समय बन्ध मुक्त जीव हैं वैसे ही सर्वदा रहते हैं । अत्यन्त उच्छेद बन्ध मुक्ति का कभी नहीं होता किन्तु बन्ध और मुक्ति सदा नहीं रहती ।

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ।।१।। न्याय द० १।१।२२

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ।।२।। न्याय द० १। १ ।।२।।

जो दुःख का अत्यन्त विच्छेद होता है वही मुक्ति कहाती है क्योंकि जब मिथ्याज्ञान अविद्या, लोभादिदोष, विषय, दुष्टव्यसनों में प्रवृत्ति, जन्म और दुःख का उत्तर उत्तर के छूटने के पूर्व पूर्व के निवृत्त होने ही से मोक्ष होता है । यहाँ अत्यन्त शब्द का अर्थ अत्यन्ताभाव नहीं है किन्तु अत्यन्त का अर्थ बहुत है,

जैसे "अत्यन्तं दुःखमत्यन्तं सुखं चास्य वर्त्तते" बहुत दुःख और बहुत सुख इस मनुष्य को है। इसी प्रकार यहाँ भी अत्यन्त शब्द का अर्थ जानना चाहिये। अतः दुःख का अत्यन्त विच्छेद सदा बना नहीं रहता।

ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥

मुण्डक ३।खं० २।मं० ६॥

जो मुक्त जीव मुक्ति में प्राप्त होके ब्रह्म में आनन्द को तब तक भोग के पुनः महा कल्प के पश्चात् मुक्ति सुख को छोड़ के संसार में आते हैं। इस की संख्या यह है कि चार लाख बत्तीस सहस्र वर्ष का कलियुग, आठ लाख चौसठ सहस्र वर्ष का द्वापर, बारह लाख छियानवे सहस्र वर्ष का त्रेता और सतरह लाख अठाईस सहस्र वर्ष का कृतयुग होता है। चारों को मिला कर एक चतुर्युगी होती है अर्थात् त्रितालीस लाख बीस सहस्र वर्षों की। ऐसी दो सहस्र चतुर्युगियों का एक आहोरात्र, ऐसे तीस अहोरात्रों का एक महीना, ऐसे बारह महीनों का एक वर्ष, ऐसे शत वर्षों का एक परान्तकाल होता है। दूसरा प्रकार यह है कि उपर्युक्त एक सहस्र चतुर्युगी की सृष्टि आयु और एक सहस्र चतुर्युगी का प्रलय काल। सृष्टि को "अहः" दिन और प्रलय को रात्रि कहा गया है। इस प्रकार सृष्टि और प्रलय का काल एक अहोरात्र हुआ। ऐसे सौ वर्ष = (३६००० छत्तीस सहस्र अहोरात्रों) का एक परान्त काल होता है। इतना समय मुक्ति में सुख भोगने का है।

मुक्ति से पुनः संसार में आना ही पड़ता है,क्योंकि प्रथम तो जीव का सामर्थ्य शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित हैं—इनका फल अनन्त नहीं हो सकता और मुक्ति से लौट कर संसार में न आवें तो एक समय संसार का विच्छेद हो जाय। यदि यह मानें कि परमात्मा नये जीवों को पैदा करता है तो जीव अनित्य हो जाते हैं, तब उनका नाश भी मानना पड़ेगा। ऐसी दशा में मुक्ति का सुख कौन भोगे ? और मुक्ति में जाते रहें, लौटें नहीं तो मुक्ति में भीड़ भड़क्का हो जावे। इसके अतिरिक्त सुख दुःख सापेक्ष पदार्थ हैं। यदि दुःख की सत्ता न हो तो सुख का भान भी कुछ नहीं हो सकता। कटु रस न होवे तो मधुर क्या कहावे और मधुर रस न होवे तो कटु क्या कहावे ? क्योंकि एक स्वाद के एक रस के विरुद्ध होने से दोनों की परीक्षा होती है। ईश्वर अन्त वाले कर्मों का

फल अनन्त देवे तो न्याय नष्ट हो जाय। नये नये जीवों को उत्पन्न जिस कोष से परमात्मा करे और उस कोष में आय न होवे तो कभी न कभी वह कोष रिक्त हो ही जावेगा। अतः मुक्ति में जाना और वहाँ से लौटना यही व्यवस्था ठीक है। ब्रह्म में लय हो जाना तो समुद्र में डूब मरना है।

जीव मुक्त होकर भी शुद्ध स्वरूप, अल्पज्ञ और परिमित गुण कर्म स्वभाव वाला होता है। परमेश्वर के सदृश कभी नहीं। मुक्ति जन्म मरण के सदृश नहीं अपितु अत्यन्त दीर्घ समय के लिए दुःखों से छूटकर सुख में रहना साधारण बात नहीं। प्रतिदिन हमें भूख लगती है, उसको हटाने के लिए भोजन करते हैं तब मुक्ति के लिए यत्न करना तो अत्यावश्यक है।

मुक्ति के कुछ साधन तो विद्या-अविद्या के प्रकरण में कहे गये हैं, परन्तु विशेष उपाय ये हैं—(१) साधन जो मुक्ति चाहे वह जीवनमुक्त अर्थात् जिन मिथ्या भाषणादि पाप कर्मों का फल दुःख हैं उनको छोड़ सुखरूप फल को देने वाले सत्यभाषणादि धर्माचरण अवश्य करे। अधर्म को छोड़ धर्म अवश्य करे। क्योंकि दुःख का पापाचरण और सुख का धर्माचरण मूल कारण है।

सत्पुरुषों के संग से विवेक अर्थात् सत्यासत्य, धर्माधर्म, कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय अवश्य करें।

पंच कोषों का विवेचन करें। पंच कोष ये हैं—

(१) अन्नमय—त्वचा से लेकर अस्थिपर्यन्त का समुदाय पृथिवीमय है।

(२) प्राणमय—जिस में प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान पाँचों प्राणों हैं।

(३) मनोमय—इसमें मन के साथ अहंकार और पांच कर्मेन्द्रियां हैं।

(४) विज्ञानमय—इसमें बुद्धि, चित्त और पांच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं।

(५) (आनन्दमय)—इसमें प्रीति, प्रसन्नता, न्यून आनन्द, अधिक आनन्द और आधार कारण रूप प्रकृति है। इन पांचों कोषों से जीव सब प्रकार के कर्म उपासना और ज्ञानादि व्यवहारों को करता है।

तीन अवस्था—(१) जागृत, दूसरी स्वप्न और तीसरी सुषुप्ति है।

तीन शरीर—(१) स्थूल जो दीखता है। (२) पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच सूक्ष्म भूत और मन तथा बुद्धि इन सत्तरह तत्वों का समुदाय सूक्ष्म शरीर

कहाता है। यह सूक्ष्म शरीर जन्ममरणादि में भी जीव के साथ रहता है। इसके दो भेद हैं—भौतिक अर्थात् जो सूक्ष्म भूतों के अंशों से बना है और (२) अभौतिक जीव के स्वाभाविक गुण रूप हैं। यह दूसरा स्वाभाविक शरीर मुक्ति में भी साथ रहता है। इसी से जीव मुक्ति में सुख को भोगता है। (३) तीसरा कारण शरीर जिस में सुषुप्ति अर्थात् गाढ़निद्रा होती है। यह प्रकृति रूप होने से सर्वत्र विभु और सब जीवों के लिये एक समान हैं। (४) तुरीय शरीर वह कहाता है जिसमें समाधि से परमात्मा के आनन्द स्वरूप में मग्न जीव होते हैं, इसी समाधि संस्कार जन्य शुद्ध शरीर का पराक्रम मुक्ति में भी यथावत् सहायक रहता है। इन सब कोष अवस्थाओं से जीव पृथक् है। यही जीव सब का प्रेरक सब का धर्त्ता, साक्षी, कर्त्ता, भोक्ता कहाता है। विना जीव के ये सब जड़ पदार्थ हैं।

जब इन्द्रियां अर्थों में मन इन्द्रियों और आत्मा मन के साथ संयुक्त हो कर प्राणों को प्रेरणा करके अच्छे वा बुरे कर्मों में लगाता है। तभी वह बहिर्मुख हो जाता है। उसी समय भीतर से आनन्द, उत्साह, निर्भयता और बुरे कर्मों में भय, शङ्का, लज्जा उत्पन्न होती है वह अन्तर्यामी परमात्मा की शिक्षा है, जो कोई इस शिक्षा के अनुकूल वर्त्तता है वही मुक्ति जन्य सुखों को प्राप्त होता है और जो विपरीत वर्त्तता है वह बन्धजन्य दुःख भोगता है।

(२) दूसरा साधन—वैराग्य है। विवेक से सत्याचरण का ग्रहण और असत्याचरण का त्याग करना।

(३) तीसरा साधन-षट्क सम्पत्ति है अर्थात् शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान (चित्त की एकाग्रता) ये ६ मिलकर तीसरा साधन कहाता है।

४–चौथा साधन—अधिकारी, सम्बन्ध, विषयी और प्रयोजन ये चार अनुबन्ध मिलकर चौथा साधन कहाता है।

५–इनके पश्चात् पांचवां साधन—श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार-ये श्रवण चतुष्टय पाँचवाँ साधन है।

सदा तमोगुण और रजोगुण से पृथक् रहकर सत्य अर्थात् शान्त-प्रकृति, पवित्रता, विद्या और विचारादि गुणों को धारण करे। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इनका यथायोग्य व्यवहार करे। नित्य प्रति न्यून से न्यून दो घण्टा

पर्यन्त मुमुक्षु ध्यान अवश्य करे। जिससे भीतर के मन आदि पदार्थों का साक्षात्कार होवे।

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंच क्लेशाः ॥योग द०। पाद २। सूत्र ३॥

इन पांच क्लेशों को योगाभ्यास विज्ञान से छुड़ा के ब्रह्म को प्राप्त होके मुक्ति के परमानन्द को भोगना चाहिए।

भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय भिन्न प्रकार की मुक्तियां मानते हैं। जैसे मोक्ष शिला, शिवपुर, चौथा आसमान, सातवां आसमान, श्रीपुर, कैलाश, वैकुण्ठ, गोलोक, सालोक्य, सानुज्य, सारूप्य और सायुज्य। ये मुक्तियां नहीं किन्तु एक प्रकार का बन्धन हैं, क्योंकि ये लोग स्थान विशेष में मुक्ति मानते हैं, वहां से छूट जावें, तो मुक्ति छूट गई।

मुक्ति तो यही है, जहाँ इच्छा हो वहाँ विचरे, कहीं अटके नहीं। न भय, न शङ्का, न दुःख होता है।

जन्म एक नहीं, अनेक होते हैं, परन्तु पूर्वजन्म की बातों का स्मरण नहीं होता, क्योंकि जीव अल्पज्ञ है, त्रिकालदर्शी नहीं। इसलिये स्मरण नहीं रहता। जीव का ज्ञान और स्वरूप अल्प है. अतः पूर्व और आगे के जन्म के वर्तमान को जानना चाहे तो भी नहीं जान सकता। यह बात ईश्वर के जानने योग्य है जीव के नहीं। संसार में राज, धन, बुद्धि, विद्या, दारिद्रय, निर्बुद्धि, मूर्खता, सुख, दुःख देखकर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पूर्व जन्म का ज्ञान होता है। जैसे एक वैद्य और अवैद्य को रोग होवे तो वैद्य रोग का कारण जान लेता है। अवैद्य नहीं जान सकता, क्योंकि उसने वैद्यक विद्या नहीं पढ़ी। हां ज्वरादि रोग के होने से अवैद्य भी यह जान लेता है कि मुझ से कोई कुपथ्य हो गया है। वैसे ही जगत् में विचित्र सुख दुःख आदि की घटती-बढ़ती देख के पूर्वजन्म का अनुमान हो सकता है। पूर्वजन्म की व्यवस्था के अभाव में परमेश्वर पक्षपाती हो जावे, क्योंकि विना पाप के दारिद्रय आदि दुःख और विना पूर्व सञ्चित पुण्य के राज्य, धनाढ्यता और निर्बुद्धिता क्यों दी? परमात्मा न्यायकारी है। परमात्मा जीवों के कर्मानुसार ही फल और फल के प्रमुख साधन देता है। जीवों को विना पाप पुण्य के सुख दुःख देने से परमेश्वर पर दोष आता है। विना कर्म फल की न्याय व्यवस्था से सब जीव अधर्म युक्त हो जावें और धर्म क्यों करें?

कहाता है। यह सूक्ष्म शरीर जन्ममरणादि में भी जीव के साथ रहता है। इसके दो भेद हैं—भौतिक अर्थात् जो सूक्ष्म भूतों के अंशों से बना है और (२) अभौतिक जीव के स्वाभाविक गुण रूप हैं। यह दूसरा स्वाभाविक शरीर मुक्ति में भी साथ रहता है। इसी से जीव मुक्ति में सुख को भोगता है। (३) तीसरा कारण शरीर जिस में सुषुप्ति अर्थात् गाढ़निद्रा होती है। यह प्रकृति रूप होने से सर्वत्र विभु और सब जीवों के लिये एक समान हैं। (४) तुरीय शरीर वह कहाता है जिसमें समाधि से परमात्मा के आनन्द स्वरूप में मग्न जीव होते हैं, इसी समाधि संस्कार जन्य शुद्ध शरीर का पराक्रम मुक्ति में भी यथावत् सहायक रहता है। इन सब कोष अवस्थाओं से जीव पृथक् है। यही जीव सब का प्रेरक सब का धर्त्ता, साक्षी, कर्त्ता, भोक्ता कहाता है। विना जीव के ये सब जड़ पदार्थ हैं।

जब इन्द्रियां अर्थों में मन इन्द्रियों और आत्मा मन के साथ संयुक्त हो कर प्राणों को प्रेरणा करके अच्छे वा बुरे कर्मों में लगाता है। तभी वह वहिर्मुख हो जाता है। उसी समय भीतर से आनन्द, उत्साह, निर्भयता और बुरे कर्मों में भय, शङ्का, लज्जा उत्पन्न होती है वह अन्तर्यामी परमात्मा की शिक्षा है, जो कोई इस शिक्षा के अनुकूल वर्त्तता है वही मुक्ति जन्य सुखों को प्राप्त होता है और जो विपरीत वर्त्तता है वह बन्धजन्य दुःख भोगता है।

(२) दूसरा साधन—वैराग्य है। विवेक से सत्याचरण का ग्रहण और असत्याचरण का त्याग करना।

(३) तीसरा साधन-षट्क सम्पत्ति है अर्थात् शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान (चित्त की एकाग्रता) ये ६ मिलकर तीसरा साधन कहाता है।

४–चौथा साधन—अधिकारी, सम्बन्ध, विषयी और प्रयोजन ये चार अनुबन्ध मिलकर चौथा साधन कहाता है।

५–इनके पश्चात् पांचवां साधन—श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार-ये श्रवण चतुष्टय पाँचवाँ साधन है।

सदा तमोगुण और रजोगुण से पृथक् रहकर सत्य अर्थात् शान्त-प्रकृति, पवित्रता, विद्या और विचारादि गुणों को धारण करे। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इनका यथायोग्य व्यवहार करे। नित्य प्रति न्यून से न्यून दो घण्टा

पर्यन्त मुमुक्षु ध्यान अवश्य करे। जिससे भीतर के मन आदि पदार्थों का साक्षात्कार होवे।

अविद्या ऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंच क्लेशाः ।।योग द०। पाद २। सूत्र ३।।

इन पांच क्लेशों को योगाभ्यास विज्ञान से छुड़ा के ब्रह्म को प्राप्त होके मुक्ति के परमानन्द को भोगना चाहिए।

भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय भिन्न प्रकार की मुक्तियां मानते हैं। जैसे मोक्ष शिला, शिवपुर, चौथा आसमान, सातवां आसमान, श्रीपुर, कैलाश, वैकुण्ठ, गोलोक, सालोक्य, सानुज्य, सारूप्य और सायुज्य। ये मुक्तियां नहीं किन्तु एक प्रकार का बन्धन हैं, क्योंकि ये लोग स्थान विशेष में मुक्ति मानते हैं, वहां से छूट जावें, तो मुक्ति छूट गई।

मुक्ति तो यही है, जहाँ इच्छा हो वहाँ विचरे, कहीं अटके नहीं। न भय, न शङ्का, न दुःख होता है।

जन्म एक नहीं, अनेक होते हैं, परन्तु पूर्वजन्म की बातों का स्मरण नहीं होता, क्योंकि जीव अल्पज्ञ है, त्रिकालदर्शी नहीं।इसलिये स्मरण नहीं रहता। जीव का ज्ञान और स्वरूप अल्प है. अतः पूर्व और आगे के जन्म के वर्तमान को जानना चाहे तो भी नहीं जान सकता। यह बात ईश्वर के जानने योग्य है जीव के नहीं। संसार में राज, धन, बुद्धि, विद्या, दारिद्रय, निर्बुद्धि, मूर्खता, सुख, दुःख देखकर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पूर्व जन्म का ज्ञान होता है। जैसे एक वैद्य और अवैद्य को रोग होवे तो वैद्य रोग का कारण जान लेता है। अवैद्य नहीं जान सकता, क्योंकि उसने वैद्यक विद्या नहीं पढ़ी। हां ज्वरादि रोग के होने से अवैद्य भी यह जान लेता है कि मुझ से कोई कुपथ हो गया है। वैसे ही जगत् में विचित्र सुख दुःख आदि की घटती-बढ़ती देख के पूर्वजन्म का अनुमान हो सकता है। पूर्वजन्म की व्यवस्था के अभाव में परमेश्वर पक्षपाती हो जावे, क्योंकि विना पाप के दारिद्रय आदि दुःख और विना पूर्व सञ्चित पुण्य के राज्य, धनाढ्यता और निर्बुद्धिता क्यों दी ? परमात्मा न्यायकारी है। परमात्मा जीवों के कर्मानुसार ही फल और फल के प्रमुख साधन देता है। जीवों को विना पाप पुण्य के सुख दुःख देने से परमेश्वर पर दोष आता है। विना कर्म फल की न्याय व्यवस्था से सब जीव अधर्म युक्त हो जावें और धर्म क्यों करें ?

इसलिए पूर्वजन्म के पाप पुण्य के अनुसार वर्त्तमान जन्म और वर्त्तमान तथा पूर्वजन्म के अनुसार भविष्यत् जन्म होते हैं। सब जीव स्वरूप से एक समान हैं, परन्तु पाप पूण्य के योग से मलिन और पवित्र होते हैं। मनुष्य का जीव पश्वादि में और पश्वादि का मनुष्य के शरीर में और स्त्री का पुरुष के और पुरुष का स्त्री के शरीर में जाता आता है। जब पाप बढ़ जाता पुण्य न्यून होता है तब मनुष्य का जीव पश्वादि नीच शरीर और जब धर्म अधिक तथा अधर्म न्यून होता है तब देव अर्थात् विद्वानों का शरीर मिलता है। जब पुण्य पाप बराबर होता है तब साधारण मनुष्य का जन्म होता है। इसमें भी पुण्य पाप के उत्तम मध्यम निकृष्ट होने से मनुष्यादि में भी उत्तम मध्यम निकृष्ट शरीरादि सामग्री वाले होते हैं और जब अधिक पाप का फल पश्वादि शरीर में भोग लिया है पुन: पाप पुण्य के तुल्य रहने से मनुष्य शरीर में आता और पुण्य के फल भोगकर फिर भी मध्यस्थ मनुष्य के शरीर में आता है।

जब शरीर से निकलता है, उसीका नाम "मृत्यु" और शरीर के साथ संयोग होने का नाम "जन्म" है। जब शरीर छोड़ता है तब यमालय अर्थात् आकाशस्थ वायु में रहता है। पश्चात् परमेश्वर उस जीव के पाप पुण्यानुसार जन्म देता है। वह वायु, अन्न, जल अथवा शरीर के छिद्र द्वारा दूसरे के शरीर में ईश्वर की प्रेरणा से प्रविष्ट होता है। जो प्रविष्ट होकर क्रमश: वीर्य में जा, गर्भ में स्थित हो, शरीर धारण कर बाहर आता है। जो स्त्री के शरीर धारण करने योग्य कर्म हों तो स्त्री और पुरुष के शरीर धारण करने योग्य कर्म हों तो पुरुष शरीर में प्रवेश करता है और नपुंसक गर्भ स्थिति के समय स्त्री पुरुष के शरीर से सम्बन्ध करके रजवीर्य के बराबर होने से होता है। इसी प्रकार नाना प्रकार के जन्म मरण में तब तक जीव पड़ा रहता है जब तक उत्तम कर्मोपासना ज्ञान को करके मुक्ति को नहीं पाता, क्योंकि उत्तम कर्मादि करने में मनुष्यों में उत्तम जन्म और मुक्ति में महाकल्प पर्यन्त जन्म मरण दुखों से रहित होकर आनन्द में रहता है।

मुक्ति अनेक जन्मों में होती है क्योंकि—

> भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
> क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥
>
> मुण्डक २। खं० २। मं० ८॥

जब इस जीव के हृदय की अविद्या अज्ञान रूपी गाँठ कट जाती, सब संशय

छिन्न होते और दुष्ट कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं तभी उस परमात्मा जो कि अपने आत्मा के भीतर और बाहर व्याप रहा है उसमें निवास करता है। मुक्ति में जीव की पृथक् सत्ता रहती है, जो परमेश्वर में मिल जाय तो मुक्ति का सुख कौन भोगे और मुक्ति के सब साधन निष्फल हो जायें। वह तो मुक्ति नहीं किन्तु जीव का प्रलय समझना चाहिये। जब जीव परमेश्वर की आज्ञा पालन उत्तम, कर्म सत्संग योगाभ्यास पूर्वोक्त सब साधन करता है वही मुक्ति को पाता है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति॥

तैत्तिरी० ब्रह्मानन्द वल्ली। अनु० १॥

जो जीवात्मा अपनी बुद्धि और आत्मा में स्थित सत्य ज्ञान और अनन्त आनन्द स्वरूप परमात्मा को जानता है वह उस व्यापक ब्रह्म में स्थित हो के उस "विपश्चित" अनन्त विद्या युक्त ब्रह्म के साथ सब कामों को प्राप्त होता है यही मुक्ति कहाती है।

जैसे साँसारिक सुख शरीर के आधार से भोगता है, वैसे परमेश्वर के आधार मुक्ति के आनन्द को जीवात्मा भोगता है। वह मुक्त जीव अनन्त व्यापक ब्रह्म में स्वच्छंन्द घूमता, शुद्ध ज्ञान से सब सृष्टि को देखता, अन्य मुक्तों के साथ मिलता, सृष्टि विद्या को क्रम से देखता हुआ सब लोक-लोकान्तरों में अर्थात् जितने लोक ये दीखते हैं और नहीं दीखते उन सब में घूमता है। वह सब पदार्थों को जो उसके ज्ञान के आगे हैं देखता है। जितना ज्ञान अधिक होता है उसको उतना ही आनन्द अधिक होता है। मुक्ति में जीवात्मा निर्मल होने से पूर्ण ज्ञानी होकर उस को सब सन्निहित पदार्थों का भान यथावत् होता है। यही सुख विशेष स्वर्ग और विषय तृष्णा में फँसकर दुःख विशेष भोग करना नरक कहाता है। "स्वः" सुख का नाम है "स्वः सुखं गच्छति यस्मिन् स स्वर्गः" "अतो विपरीतो दुःखभोगो नरक इति" जो साँसारिक सुख है वह सामान्य स्वर्ग और जो परमेश्वर की प्राप्ति से आनन्द है वही विशेष स्वर्ग कहाता है। उससे विपरीत दुःख भोग को नरक कहा जाता है। सब जीव स्वभाव से सुख-प्राप्ति की इच्छा और दुःख का वियोग होना

चाहते हैं, परन्तु जब तक धर्म नहीं करते और पाप नहीं छोड़ते तब तक उनको सुख का मिलना और दुःख का छूटना न होगा, क्योंकि जिसका कारण अर्थात् मूल होता है, वह नष्ट कभी नहीं होता। जैसे—

छिन्ने मूले वृक्षो नश्यति तथा पापे क्षीणे दुःखं नश्यति।

जैसे मूल कट जाने से वृक्ष नष्ट होता है, वैसे पाप को छोड़ने से दुःख नष्ट होता है। देखो मनुस्मृति में पाप और पुण्य की बहुत प्रकार की गति।

मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम्।
वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनैव च कायिकम्॥
शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम्॥२॥
सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम्।
एतद् व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रित वपुः॥३॥
वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम्॥४॥
आरम्भरुचिता ऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम्॥५॥
लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम्॥६॥
तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम्॥७॥
देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वञ्च राजसाः।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गति॥८॥

मनुस्मृति—अ० १२। श्लोक ८,९,२६,३१,३२,३३,३८,४०॥

अर्थात् यह जीव मन से जिस शुभ वा अशुभ कर्म को करता है उसको मन, वाणी से किये को वाणी और शरीर से किये को शरीर अर्थात् सुख दुःख को भोगता है॥१॥

जो नर शरीर से चोरी, परस्त्री गमन, श्रेष्ठों को मारने आदि दुष्ट कर्म करता है उसको वृक्षादि स्थावर का जन्म, वाणी से किये पाप कर्मों से पक्षी

ग्रौर मृगादि तथा मन से किये दुष्ट कर्मों से चाण्डाल आदि का शरीर मिलता है ॥२॥

जब आत्मा में ज्ञान हो तब सत्त्व, जब अज्ञान रहे तब तमः और जब रागद्वेष में आत्मा लगे तब रजोगुण जानना चाहिये। ये तीन प्रकृति के गुण सब संसारस्थ पदार्थों में व्याप्त होकर रहते हैं ॥३॥

जो वेदों का अभ्यास. धर्मानुष्ठान, ज्ञान की वृद्धि, पवित्रता की इच्छा, इन्द्रियों का निग्रह, धर्मक्रिया और आत्मा का चिन्तन होता है। यही सत्त्व गुण का लक्षण है ॥४॥

जब रजोगुण का उदय, सत्त्व और तमोगुण का अन्तर्भाव होता है, अब आरम्भ में रुचिता, धैर्यत्याग, असत्कर्मों का ग्रहण, निरन्तर विषयों की सेवा में प्रीति होती है तभी समझना कि रजोगुण प्रधानता से मुझे में वर्त्त रहा है ॥५॥

जब तमोगुण का उदय और अन्य दोनों का अन्तर्भाव होता है तब अत्यन्त लोभ अर्थात् सब पापों का मूल बढ़ता, अत्यन्त आलस्य और निद्रा, धैर्य का नाश, क्रूरता का होना, नास्तिकता। अर्थात् वेद और ईश्वर में श्रद्धा का न रहना, भिन्न अन्त:करण की वृत्ति और एकाग्रता का अभाव किन्हीं व्यसनों में फंसना होवे तब तमोगुण का लक्षण विद्वान् को जानना चाहिये ॥६॥

तमोगुण का लक्षण काम, रजोगुण का अर्थ संग्रह की इच्छा और सत्त्व-गुण का लक्षण धर्म की सेवा करना है, परन्तु तमोगुण से रजोगुण और रजो-गुण से सत्त्वगुण श्रेष्ठ है ॥७॥

अब जिस जिस गुण से जिस जिस गति को जीव प्राप्त होता है उस उस को आगे लिखते हैं—

जो मनुष्य सात्त्विक हैं वे देव अर्थात् विद्वान्, जो रजोगुणी होते हैं वे मध्यम मनुष्य और जो तमोगुणी होते हैं वे नीच गति को प्राप्त होते हैं। इन प्रत्येक गुणों की भी उत्तम, मध्यम और अधम तीन तीन प्रकार की गति होती हैं ॥८॥

इस प्रकार सत्त्व, रज और तमोगुण युक्त वेग से जिस-जिस प्रकार जीव कर्म करता है उस उसको उसी-उसी प्रकार फल प्राप्त होता है। जो मुक्त होते हैं

वे गुणातीत अर्थात् सब गुणों के स्वभावों में न फंसकर महायोगी हो के मुक्ति का साधन करें क्योंकि—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।।१।।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।।२।। योगद० पा० १, सूत्र २-३।।

मनुष्य रजोगुण तमोगुण युक्त कर्मों से मन को रोक [शुद्ध सत्त्वगुण युक्त कर्मों से भी मन को रोक शुद्धसत्त्वगुण युक्त हो पश्चात् उसका निरोध कर एकाग्र अर्थात् एक परमात्मा और धर्म युक्त कर्म इनके अग्र भाग में चित्त को ठहरा रखना निरुद्ध अर्थात् सब ओर से मन की वृत्ति को रोकना ।।१।।

जब चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है तब सब के द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति होती है ।।२।।

इत्यादि साधन मुक्ति के लिए और करें और—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ।।

—सांख्य द० । अ० । १ सूत्र १ ।।

जो आध्यात्मिक अर्थात् शरीर सम्बन्धी पीड़ा, आधिभौतिक जो दूसरे प्राणियों से दुःखित होना, आधिकदैविक जो अतिवृष्टि, अतिताप, अतिशीत, मन इन्द्रियों की चञ्चलता से होता है इस त्रिविध दुःख को छुड़ाकर मुक्ति पाना अत्यन्त पुरुषार्थ है ।

टिप्पणियां

१. कर्म का ही आन्तरिक भेद उपासना है। आन्तरिक क्रिया विशेष होने से ज्ञान विशेष नहीं है। अतः कर्म और उपासना को मन्त्र में अविद्या शब्द से कहा गया हैं। परन्तु मृत्यु दुःख से पार करने के लिए कर्म और उपासना अनिवार्य हैं।

२. मुक्ति का साधन केवल ज्ञान, केवल कर्म अथवा केवल उपासना नहीं है। अपितु शुद्धकर्म, शुद्ध उपासना और शुद्ध ज्ञान तीनों के सहभाव से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है। कर्म की अवहेलना नहीं की जा सकती।

३. मुक्ति में जीव का संकल्पमय शरीर होता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि जब संकल्प किया तब ही स्थूल शरीर बना लिया, अपितु संकल्प का करना मन का धर्म है अतः मुक्ति में जीव का दिव्य मानसिक शरीर होता है। इसी संकल्प के द्वारा जीव मुक्ति के आनन्द को भोगता है।

४. मुक्ति से लौटने के मन्त्रों पर ऋषि दयानन्द ने स्वतः प्रमाण वेदके सम्मुख आर्ष ग्रन्थों की भी वेद विरुद्ध होने से प्रबल शब्दों में उपेक्षा की है।

५. "न च पुनरावर्त्तते"–(छान्दो०) और "अनावृत्तिः शब्दात्" (वेदान्त द०) की नवीनवेदान्तियों ने मुक्ति से न लौटने के पक्ष में ढाल ग्रहण की। ऋषि दयानन्द ने "कस्य नूनं——और अग्नेर्वयं······ऋग्वेद के दो मन्त्रों से इस ढाल का खण्डन कर दिया। इससे एक बहुत बड़ा उपकार यह हुआ कि आर्ष ग्रन्थों में भी वेद विरुद्ध वचन का त्याग करने का साहस विद्वानों को हुआ। यदि इन उपनिषद् और दर्शन में आये "आवर्तन" और अनावृत्ति शब्द का नवीनवेदान्ती शुद्ध अर्थ करते तो ऐसे आग्रह की आवश्यकता न होती। "आवर्त्तन" और "आवृत्ति" का अर्थ है अभ्यास, बार बार, चक्र। "आवर्त्तते" के साथ "न" पृथक् है और "आवर्त्तते" से पूर्व सूचक मिला हुआ ही है, अतः "न आवर्त्तते" और "अनावृत्ति" एक ही भाव को कहते हैं। इनका सीधा अर्थ यह है कि मुक्ति प्राप्त होने पर संसार की भान्ति मुक्ति काल में जन्म-मरण का अभ्यास नहीं होता। मुक्ति काल में जन्म-मरण का बार-बार चक्र नहीं चलता। इसका इतना ही अर्थ है, परन्तु मुक्ति की अवधि समाप्त होने पर इन शब्दों "न आवर्त्तते" और "अनावृत्ति" की गति ही नहीं यदि नवीनवेदान्ती इस सरल और स्पष्ट अर्थ को लेते तो आर्ष ग्रन्थों के शुद्ध भाव को प्रकट कर देते। मिथ्या अर्थ करने से उनके मिथ्या अर्थ का खण्डन करना आवश्यक था।

६. "अत्यन्त" शब्द का अर्थ ऋषि ने "बहुत" किया यह ठीक है। यह सर्वथा ग्राह्य है। इसी समुल्लास के अन्त में सांख्य दर्शन के प्रथम सूत्र में यह बात स्पष्ट है—

"तदत्यन्तदुःखनिवृत्ति रत्यन्तपुरुषार्थः" अर्थात् दुःख का अत्यन्त छुटकारा अत्यन्त पुरुषार्थ से होता है, यहाँ "पुरुषार्थ" शब्द के साथ आये "अत्यन्त" शब्द का अर्थ सब को "बहुत" ही करना पड़ता है। तब इसी भान्ति दुःख निवृत्ति" के साथ पड़े हुये "अत्यन्त" शब्द का भी यही अर्थ होता है। मनुष्य का पुरुषार्थ ससीम ही रहता है चाहे जितना बढ़े, सीमा से बाहर नहीं जा सकता। इसी प्रकार दुःख का छुटकारा भी सीमा तक ही होगा। सीमा से अधिक नहीं। इसीलिये न्याय दर्शन में "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः" कहा है अर्थात् दुःख से

अत्यन्त छुटकारे को मुक्ति कहते हैं । जैसे मोक्ष का अर्थ छुटकारा है वैसे ही "निवृत्ति" का भी है । यदि न्याय दर्शन को यह स्वीकार होता कि मुक्ति के पश्चात् दु:ख कभी नहीं होगा तो "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग: की जगह "तदभावोऽपवर्ग:" लिखते । "विमोक्ष" लिखा "अभाव" नहीं । "विमोक्ष" शब्द ही अपने अर्थ को स्पष्ट करता है । मोक्ष का अर्थ छुटकारा है । यद्यपि सुषुप्ति और समाधि में भी दु:ख से मोक्ष होता है । परन्तु वह थोड़ी देर में फिर आ जाता है इसलिए न्याय में मोक्ष ही नहीं कहा । और यदि 'विमोक्ष' कहते अर्थात् विशेष छुटकारा, तो प्रलय काल में विशेष छुटकारा होता है, तो वहाँ लक्षण व्याप्त हो जाता । इस दोष को भी दूर करने के लिये "अत्यन्तविमोक्ष" कहा । अर्थात् ३६ हजार बार सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का जितना समय है उतने लम्बे काल तक मुक्ति से जीव नहीं लौटता अर्थात् मुक्ति के इस समय में दु:ख की आवृत्ति नहीं होती । मनुष्य की आयु का मान १०० वर्ष माना गया है । इसी भान्ति ब्रह्मलोक प्राप्ति की आयु भी १०० वर्ष है । सृष्टि की आयु और प्रलय की आयु ८ अरब ६४ करोड़ वर्ष है । यह ब्रह्मलोक=मोक्ष में रहने का एक दिन रात्रि है । जैसे १०० वर्ष में ३६००० दिन रात्रि होते हैं वैसे ही ब्रह्मलोक=मोक्ष में आनन्द भोगने के भी १०० वर्ष होते हैं । अत: मुक्ति के १०० वर्ष सृष्टि और प्रलय के ३६००० गुणित हो गये । यही "अत्यन्त विमोक्ष" है । यही "अनावृत्ति" है । यही "न आवर्त्तते" है । जीव के साधन और सामर्थ्य ससीम हैं तो उन साधनों से उत्पन्न फल भी ससीम रहेगा, असीम नहीं हो सकता ।

७. जीव को इन्द्रियजन्य ज्ञान एक काल में अनेक नहीं हो सकते, क्योंकि उनमें मन की सन्निधि आवश्यक है । मन एक समय में एक ही इन्द्रिय के साथ संयुक्त हो सकता है । परन्तु जीव को केवल मानस ज्ञान में यह बन्धन नहीं । तब जीव एक काल में अनेक ज्ञानों की प्राप्ति और स्मरण करता है ।

८. वर्तमान जन्म इससे पूर्व अनेक जन्मों के कर्मों के अनुसार होता है, केवल पूर्वजन्म मात्र से नहीं । इसी भान्ति भविष्यत् जन्म भी वर्तमान तथा पूर्व जन्मों के कर्मों के अनुसार मिलेगा ।

विशेष—ये टिप्पणियाँ ऋषिदयानन्द के मन्तव्य के अनुसार हैं, स्वतंत्र नहीं ।

*

क्या विदेश-यात्रा पाप है?

आचार और अनाचार
भक्ष्य-अभक्ष्य विवेचन

सत्यार्थप्रकाश के दशम समुल्लास
के आधार पर

पण्डिता पवित्रादेवी "विद्याविभूषिता"

पौराणिक मतावलम्बियों ने चूल्हे-चौके, छूआ-छूत और जाति-पाँति के भेद तक ही समस्त धर्म-कर्म को केन्द्रित कर दिया। इसी ने जाति को कूप-मण्डूक बना दिया, जिसका परिणाम गत एक सहस्र वर्ष की दासता के रूप में देश को भोगना पड़ा। ऋषि ने इस समुल्लास में आचार क्या है और अनाचार क्या है तथा भक्ष्य और अभक्ष्य क्या है—इस विषय का मार्मिक विवेचन किया है। प्रसंग से क्या विदेश-यात्रा पाप है, मांस भक्षण निषिद्ध है या नहीं भारत की पराधीनता का कारण क्या है और गोरक्षा के महत्त्व पर भी संक्षिप्त चर्चा आई है। विदुषो लेखिका ने इन्हीं विषयों को प्रस्तुत लेख में उपस्थित किया है।

—सम्पादक

दुस्न

धर्म के दो अंग हैं—विचार और आचार। विचार का सम्बन्ध बुद्धि के साथ है और आचार का सम्बन्ध जीवन के साथ। ईश्वर का स्वरूप, सृष्टि की उत्पत्ति और मोक्ष की प्राप्ति आदि विषयों का विवेचन जहाँ विचार-कोटि में आता है वहाँ वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में मनुष्य को कैसे बर्ताव करना चाहिये यह आचार कहलाएगा। बहुत बार 'आचारः परमो धर्मः' या 'आचारः प्रथमो धर्मः' कहकर आचार को धर्म का मुख्य अंग बताया गया है। आचार धर्म का मुख्य अंग इसलिए है कि जहाँ तक विचार का सम्बन्ध है, उसमें मत-भेद की सम्भावना हो सकती है, परन्तु जहाँ तक आचार का सम्बन्ध है, उसमें मत-भेद की सम्भावना नहीं है। यही कारण है कि भारतीय परम्परा में विचार-भेद को कभी अक्षम्य नहीं माना गया, किन्तु आचार-भेद को सदा घृणा की दृष्टि से देखा गया। विचार-सम्बन्धी सहिष्णुता और आचार सम्बन्धी असहिष्णुता जैसे भारतीय संस्कृति के अंग ही बन गए।

धर्म आचार-प्रधान है

मनुस्मृति में "धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या-सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।" कहकर जो धर्म के दस लक्षण बताए गये हैं उनका सम्बन्ध भी जितना आचार के साथ है, उतना विचार के साथ नहीं। योग दर्शन में "शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि

नियमाः"—और "तत्राहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः" कह कर जो यम और नियमों की परिभाषा की गई है और जो यम और नियम मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की उन्नति के मूल कारण हैं, उनका भी आचार के साथ ही सम्बन्ध है।

आचार एक व्यापक शब्द है। आचार्य शब्द भी आचार से ही बनता है: "आचारम् ग्राहयति इति आचार्यः"—का अर्थ यही है कि आचार्य का मुख्य कर्त्तव्य अपने शिष्य को आचारवान् बनाना है। केवल पुस्तकस्थ विद्या पढ़ाने वाले या परीक्षाएँ पास कराने वाले शिक्षक को आचार्य नहीं कह सकते। भारतीय संस्कृति में आचार्य का महत्त्व इसीलिये है कि वह अपने जीवन के उदाहरण से अपने शिष्य को सदाचार की प्रेरणा देता है। मनुष्य कैसे सोता-जागता है, कैसे खाता-पीता है, कैसे उठता-बैठता है, कैसे बात-चीत करता है—इन सब क्रियाओं से मनुष्य का आचार प्रकट होता है। दैनन्दिन जीवन की प्रत्येक क्रिया से प्रकट होने वाले आचार को सुधारना ही आचार्य का कर्त्तव्य है।

मानव जीवन के विकास के लिए सोलह संस्कारों के रूप में जो सोलह सीढ़ियाँ बताई गई हैं और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों का वर्णन किया गया है वह भी धर्म के आचार-प्रधान होने की ओर ही संकेत है। जिस-जिस कर्म से व्यक्ति, समाज, राष्ट्र जगत का उपकार हो वह मनुष्य का कर्तव्य कर्म है और उसी को धर्म या आचार कहना चाहिये और जो इससे विपरीत कर्म हैं उसको अधर्म या अनाचार कहना चाहिये। जो सत्यवादी धर्मात्मा और परोपकारी लोग हैं सदा उनका संग करना और उनके आचरण के अनुसार अपने आचरण को ढालना सदाचार या श्रेष्ठाचार कहलाएगा और इसके विपरीत आचरण दुराचरण कहलाएगा।

विदेश यात्रा पाप नहीं

आचरण की इतनी व्यापक परिभाषा होने पर भी हिन्दू-समाज में चिरकाल तक समस्त धर्म-कर्म केवल चूल्हे-चौके तक ही व्याप्त रहा और किसी के हाथ का छूआ हुआ भोजन न करने में ही आचार की पराकाष्ठा समझी जाने

लगी। इसी मनोवृत्ति के कारण विदेश यात्रा को भी सबसे बड़ा अनाचार या पाप समझा जाने लगा परन्तु क्या विदेश यात्रा करने से आचार नष्ट हो जाता है ? अब से कुछ दशाब्दियों पहले तक लोगों में यह मिथ्या धारणा बनी रही है कि विदेश यात्रा करने से विधर्मियों और म्लेच्छों से सम्पर्क होता है और उस सम्पर्क के कारण आर्यों का आचार नष्ट हो जाता है इसलिए विदेश यात्रा नहीं करनी चाहिए। और तो और, अंग्रेजी राज्य के प्रारम्भिक काल में कतिपय ऐसे महापुरुषों का जाति से बहिष्कार तक किया, जिन्होंने समाज के विरोध के बावजूद उस समय विदेश यात्रा करने का साहस दिखाया था। छूत-छात और जात-पाँत में आपाद मस्तक मग्न समाज में आये दिन ऐसी घटनाएँ होती रहती थीं। बिरादरियों का मुख्य काम केवल यही हो गया था कि अमुक व्यक्ति ने अमुक के हाथ का छुआ हुआ भोजन कर लिया या पानी पी लिया या अमुक व्यक्ति किसी समुद्र पार देश की यात्रा कर आया है इसलिये उसका बिरादरी में हुक्का-पानी बन्द कर दिया जाये और उसको जाति से बहिष्कृत कर दिया जाये। आजकल तो विदेश यात्रा ऐसा फैशन बन गया है कि वह एक बीमारी की सीमा तक पहुँच गया है इसलिये शायद आज की पीढ़ी उस युग की कल्पना न कर सके, जब केवल विदेश यात्रा करने वाले व्यक्ति का ही नहीं, किन्तु उस व्यक्ति से कुछ भी सम्पर्क रखने वाले अन्य सब व्यक्तियों का भी बहिष्कार कर दिया जाता था। परन्तु आज भी ऐसे अनेक वृद्ध जन विद्यमान हैं, जिन्हें अपनी जवानी के दिनों में समाज-सुधार के किसी भी काम के लिए जाति-बहिष्कार का दण्ड भोगना पड़ा था।

क्या विदेश यात्रा पाप है ? क्या हमारे पूर्वज विदेश यात्रा को पाप समझते थे ? इतिहास इससे सर्वथा उलटी बात कहता है। धृतराष्ट्र का विवाह गान्धार देश की राजकन्या गान्धारी से हुआ था। अर्जुन का विवाह पाताल देश (अमेरिका) के राजा की कन्या उलोपी से हुआ था। श्रीकृष्ण तथा अर्जुन अश्वतरी अर्थात् अग्नियान नौका में बैठकर पाताल देश गये थे और वहाँ से उद्दालक ऋषि को युधिष्ठिर के यज्ञ के निमित्त लेकर आये थे। जब महाराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया था तब अनेक देशों के राजाओं को निमन्त्रण देने के लिए भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव चारों दिशाओं में गये

थे । अगर वे विदेश यात्रा में दोष मानते होते तो ऐसा कभी न करते। प्रत्युत उस समय के आर्य लोग अपने राजकार्य, व्यापार और भ्रमण आदि के लिए देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में घूमने के अभ्यस्त थे ।

भारतवर्ष की विगत एक सहस्र वर्षों की पराधीनता का मुख्य कारण ही यह था कि यहाँ के लोग बाह्य संसार से आँखें बन्द करके, कूप-मण्डूक बनकर, अपने कुल, जाति कबीले, सरदार या राजा के गुणगान में ही मस्त रह कर जीवन की इति कर्तव्यता समझने लगे थे ।

भारतवर्ष के निवासियों में विद्या, बल बुद्धि और पराक्रम की कभी कमी नहीं रही, परन्तु छुआ-छूत स्पर्श मात्र से धर्म नष्ट होने की शंका और कूप-मण्डूकता ने देश को अध:पतन के ऐसे गर्त में गिरा दिया कि वह एक सहस्र वर्ष तक उस गर्त से निकल नहीं सका ।

इतिहास की शिक्षा

कोई भी इतिहासकार पूछ सकता है कि जब बाबर के पास तोप थी तब राणा साँगा के पास तोप क्यों नहीं थी । अत्यन्त पराक्रमी होते हुए भी राणा साँगा को पराजय का मुँह इसीलिये तो देखना पड़ा कि उसके सेना के तीर और तलवार बाबर की तोपों के गोलों का सामना नहीं कर सके । जब संसार में एक बार तोप का आविष्कार हो गया तब वह यदि बाबर को सुलभ हो सकती थीं तो राणा साँगा को भी सुलभ हो सकती थीं परन्तु उन अप्रतिम शूरवीर राजपूत योद्धाओं की कूपमण्डूकता ही पराजय का सदा कारण रही ।

आश्चर्य की बात तो यह है कि जो लोग मांसभक्षण, मद्यपान और वेश्यागमन तक में पाप नहीं समझते वे देश-देशान्तर के उत्तम पुरुषों के साथ समागम द्वारा ज्ञान-विज्ञान की उन्नति को आचार-भ्रष्टता और अधर्म मानते रहे । इस प्रकार की मिथ्या धारणा ही भारत के अध:पतन का इतिहास है—इसी मनोवृत्ति का यह परिणाम है कि जन्म जाति के अभिमानों से ग्रस्त अनेक ऐसे दम्भी लोग आज भी मिल जायेंगे जो छाती ठोक कर यह कहते गर्व अनुभव करेंगे: "बाबू जी हमने चोरी की, डाका ड़ाला, और संसार का कोई ऐसा पाप नहीं छोड़ा जो न किया हो, परन्तु आज तक

अपना धर्म हाथ से नहीं जाने दिया, क्योंकि हमने आज तक कभी किसी दूसरे के हाथ का छुआ भोजन नहीं किया ।" क्या सारा धर्म चूल्हे-चौके तक ही सीमित है ? इससे बढ़कर मूर्खता की बात और क्या हो सकती है । ऋषि ने दर्द भरे वाक्यों में लिखा है—"क्या सब बुद्धिमानों ने यह निश्चय नहीं किया है कि राजपुरुषों में युद्ध समय में भी चौका लगा कर रसोई बना कर खाना अवश्य पराजय का हेतु है ? किन्तु क्षत्रिय लोगों का युद्ध में एक हाथ से रोटी खाते, जल पीते जाना और दूसरे हाथ से शत्रुओं को मारते जाना, अपना विजय करना आचार है और पराजित होना अनाचार है । इसी मूढ़ता से इन लोगों ने चौका लगाते-लगाते, विरोध करते-कराते सब स्वातन्त्र्य, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगा दिया और अब भी हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं······जानो सब आर्यावर्त देश भर में चौका लगा कर नष्ट कर दिया है ।"

भोजन के साथ पाकशाला की सफाई तो आवश्यक है परन्तु छुआ-छूत का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं । जिन बातों को शास्त्रकारों में धर्म बताया है उनका पालन करना स्वदेश में भी आवश्यक है और विदेश में भी यदि कोई व्यक्ति वैसा ही आचरण करता है तो वह उतना ही ग्राह्य है जैसे कोई अपना स्वदेश-बन्धु या जाति बन्धु । विदेश यात्रा में कोई पाप नहीं, प्रत्युत व्यापार-वाणिज्य और अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द तथा विश्व के घटनाचक्र से परिचित रहने के लिये विदेश यात्रा आवश्यक है ।

मांस-भक्षण निषेध

परन्तु एक बात ध्यान देने की है कि विदेश जाने पर भी मांस-भक्षण और मद्यपान आदि व्यसनों से दूर रहना चाहिये । विदेशियों में इन दोनों बुराइयों को बुराई समझने की प्रवृत्ति प्राय: नहीं पाई जाती । इसलिये उनके संग से दुर्बल संकल्प वालों को इन कुलक्षणों के लगने की संभावना हो सकती है । परन्तु इन दुर्गुणों से विदेश में जाकर बचना जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक स्वदेश में भी है । आजकल भारत में भी मांस भक्षण और मद्य-पान के प्रति जैसी रुचि बढ़ती जा रही है वह सर्वथा अनर्थकारी है । इन दुर्व्यसनों के प्रसार में पाश्चात्य शिक्षा बहुत बड़ा कारण है । मनुस्मृति ने

"वर्जयेन्न् मधुमांसंच" कह कर बुद्धि का नाश करने वाले मदकारी द्रव्य का और मांस का सेवन स्पष्ट रूप से निषिद्ध बताया है।

प्राणि-शास्त्र की दृष्टि से इस सृष्टि में मांसाहारियों की शरीर-रचना से वनस्पति-भोजियों की शरीर-रचना बिल्कुल पृथक् है। परमात्मा ने शेर, व्याघ्र आदि हिंस्र पशुओं को स्वभाव से ही मांसाहारी बनाया है। उनको शिकार करने में समर्थ बड़े-बड़े नाखून और नुकीले दाँत दिये हैं। मांसाहारी प्राणियों का आमाशय और अन्तड़ियाँ भी इस ढंग की बनाई गई हैं कि वे मांस को सुगमता से पचा सकें। जो वनस्पति-भोजी प्राणी हैं उनके दाँत, नाखून, आमाशय और अंतड़ियाँ माँसाहारी प्राणियों से भिन्न हैं। शरीर रचना की इस दृष्टि से मानव के दाँत, नाखून, आमाशय तथा अंतड़ियाँ वनस्पति-भोजी प्राणियों से मिलती-जुलती हैं, मांसाहारी प्राणियों से नहीं। प्रकृति में हम नित्य देखते हैं कि जो माँसाहारी जीव हैं वे कभी शाक-पात नहीं खाएँगे और जो वनस्पति-भोजी प्राणी हैं वे कभी मांस नहीं खाएँगे। उनकी शरीर-रचना की यही माँग है। परन्तु मनुष्य ऐसा विचित्र प्राणी है जिसने अपने शरीर की रचना वनस्पति भोजी प्राणियों के अनुकूल होने पर भी, मनुष्य के लिये सर्वथा अस्वाभाविक मांसाहार, को प्रश्रय दिया है। मानव शरीर में नित्य नई व्याधियों का बहुत बड़ा कारण मांसादि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन है। अल्पायु में लगातार बढ़ती मृत्यु संख्या का भी दोष इसी को दिया जा सकता है।

पुरानी कहावत है कि "जैसा खावे अन्न, वैसा बने मन।' यदि मन को शुद्ध और सात्विक बनाना है, जो कि धर्म के पथ पर अग्रसर होने वाले मनुष्य के लिये पहली सीढ़ी है, तो उसे अपने मन को शुद्ध रखने लिए सबसे पहले भोजन पर नियंत्रण करना होगा। तामसिक पदार्थों के खाने से मनुष्य के अन्दर तामसिक वृत्तियाँ पैदा होंगी। तामसिक वृत्तियाँ पाप की ओर ले जाएँगी। और सात्विक वृत्तियाँ धर्म की ओर। मनुष्य को पाप की ओर बढ़ने का प्रयत्न करना चाहिये यह कहने की हिमाकत बुरे से बुरा कूढ़मग्ज व्यक्ति भी नहीं करेगा। संसार के सब समझदार लोग धर्म के पथ पर बढ़ने का प्रयत्न करने का ही उपदेश देंगे। यदि धार्मिक जीवन अभीष्ट है तो मन की सात्विकता अनिवार्य है। और जहाँ मन को सात्विक बनाने का प्रश्न आया वहाँ कदापि

मांसादि तामसिक आहार के सेवन का समर्थन नहीं किया जा सकता।

भारतीयों की विशेषता

मांसादि अभक्ष्य पदार्थों के सेवन से मनुष्य के श्वास तथा त्वचा तक से कितनी दुर्गन्ध आने लगती है। इसके प्रमाणस्वरूप हम यहाँ प्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक श्री विट्ठलदास मोदी की "यूरोप यात्रा" नामक पुस्तक से एक उद्धरण दे रहे हैं। श्री मोदी फ्राँस में जब खेलर-दम्पती से मिले तब श्री खेलर ने उनसे कहा कि "हम दोनों भारत को संसार में सबसे अच्छा देश मानते हैं। हम भारत के भक्त हैं और हमें भारतीय बहुत प्यारे हैं।"

"क्यों, क्या आप कभी भारत हो आये हैं ?

"जी हाँ, पिछले वर्ष हम दोनों बम्बई में होने वाले निरामिष भोजी संघ के विश्व-अधिवेशन के सिलसिले में भारत-यात्रा पर गए थे। यात्रा से पूर्व हमने भारत जाने वाले यूरोपीय यात्रियों के लिये अंग्रेजी में प्रकाशित कुछ साहित्य पढ़ा। पढ़कर हमारी धारणा यह बनी कि हम एक गरम और जंगली देश में जा रहे हैं, जहाँ गन्दे और असभ्य लोग रहते हैं। पर सुनिये, हम दुनिया भर में घूम चुके हैं और हम यह दावे से कह सकते हैं कि भारतीय सब से अधिक साफ होते हैं। आप चौंकते हैं। हमारा मतलब सड़कों की सफाई से नहीं। हम तो यह कहते हैं कि उनके कपड़े भले ही गन्दे हों, किन्तु उनके शरीर में दुर्गन्ध नहीं आती। वे अपनी त्वचा पर सुगन्धित पाउडर आदि कृत्रिम चीजें लपेट कर अपनी गन्दगी को छिपा कर साफ कहलाने का प्रयत्न नहीं करते। हम लोग रेल में बम्बई से दिल्ली जा रहे थे, सर्दी के कारण डिब्बे की सब खिड़कियाँ बन्द कर दी गई थीं और हमारे डिब्बे में पाँच भारतीय और थे। उनकी श्वासवायु इतनी निर्गन्ध थी कि सारी रात हम लोग सोये और सुबह तक भी डिब्बे में दुर्गन्ध नहीं थी। हम अपने अनुभव के आधार पर बताते हैं कि यदि भारतीयों की जगह पाँच माँस भक्षी यूरोपियन व्यक्ति उस डिब्बे में होते तो दो घंटे के अन्दर-अन्दर पूरा डिब्बा असह्य बदबू से भर जाता।" ('यूरोप-यात्रा' पृष्ठ १२४)

विदेशी शासन का कारण—आपस की फूट

बहुत से लोग यह समझते हैं कि विदेशियों ने हम पर शासन इसीलिये किया। क्योंकि वे मद्य-मांसादि का सेवन करने के कारण हमसे अधिक शक्ति-

शाली थे। परन्तु ऋषि ने इस भ्रम का निवारण करते हुए स्पष्ट लिखा है—"आर्यावर्त में विदेशियों का राज्य होने का कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना, न पढ़ाना, बाल्यावस्था में विवाह, विषयाशक्ति, मिथ्याभाषणादि कुलक्षण, वेद विद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं। जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है। क्या तुम लोग महाभारत की बातें जो पाँच सहस्र वर्ष के पहले हुई थीं उनको भी भूल गए। देखो, महाभारत युद्ध में सब लोग लड़ाई में सवारियों पर खाते-पीते थे। आपस की फूट से कौरव पाण्डव और यादवों का सत्यानाश हो गया सो तो हो गया, परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा या आर्यों को सब सुखों को छुड़ाकर दु:खसागर में डुबा मारेगा। उसी दुष्ट दुर्योधन, गोत्र हत्यारे, स्वदेश विनाशक, नीच के दुष्ट मार्ग में आर्य लोग अब तक भी चलकर दु:ख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे कि यह राज रोग हम आर्यों में से नष्ट हो जावे।"

गोरक्षा आवश्यक

इसके पश्चात् गाय आदि दुधारू पशुओं की उपयोगिता का वर्णन करते हुए ऋषि ने लिखा है—"जब आर्यों का राज्य था तब ये गाय आदि महोपकारक पशु नहीं मारे जाते थे। तभी आर्यावर्त वा अन्य भूगोल देशों में बड़े आनन्द में मनुष्यादि प्राणी वर्तते थे। क्योंकि गाय, बैल आदि की बहुताई होने से दूध घी अन्न रस पुष्कल प्राप्त होते थे। जब से विदेशी माँसाहारी इस देश में आके गौ आदि पशुओं के मारने वाले मद्यपानी राज्याधिकारी हुए हैं तब से आर्यों के दु:ख की बढ़ती होती जाती है।" गोरक्षा के लिये ऋषि कितने आतुर थे यह इसी से समझा जा सकता है कि गोरक्षा के निमित्त सबसे पहला आन्दोलन इस देश में ऋषि दयानन्द ने ही किया था। उन्होंने अंग्रेजी राज्य में गोवध बन्द करवाने के लिये लाखों आदमियों से हस्ताक्षर करवा के एक मेमोरेण्डम (स्मरण-पत्र) महारानी विक्टोरिया के पास पहुँचाया था। इसके अतिरिक्त गौ की उपयोगिता पर पूरी तरह प्रकाश डालने के लिये उन्होंने इस विषय पर "गो करुणानिधि" नाम से एक पृथक् पुस्तक भी लिखी थी। परन्तु कितने दु:ख की बात है कि भारत के स्वाधीन हो जाने के बाद भी

गोरक्षा की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जा रहा और अद्यापि गोवध पर पूर्णतः प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया।

भक्ष्य क्या अभक्ष्य क्या ?

अन्त में गुरु-शिष्य, पति-पत्नी, मित्र-मित्र और अन्य किसी के भी परस्पर उच्छिष्ट (जूठा) खाने का निषेध करते हुए और भोजन स्थान की सफाई का महत्त्व बताते हुए ऋषि ने भक्ष्याभक्ष्य विषय का समारोप करते हुए लिखा है—"जितना हिंसा और चोरी, विश्वासघात, छलकपट आदि से पदार्थों को प्राप्त होकर भोग करना है वह अभक्ष्य और अहिंसा धर्मादि कर्मों से प्राप्त होकर भोजनादि करना भक्ष्य है, जिन पदार्थों से स्वास्थ्य, रोगनाश, बुद्धि और बल पराक्रम की वृद्धि और आयु-वृद्धि होवे उन पदार्थों का यथायोग्य पाक करके, यथोचित समय पर, मिताहार भोजन करना सब भक्ष्य कहाता है, इससे अन्यथा अभक्ष्य।

अमर सत्यार्थ

युगों से सुप्त थी धरती अंधेरा घोर छाया था।
निराशा की घनी चादर ने सब कुछ ही मिटाया था।।
प्रबल पाखंड की लहरें, मनुज का मन लुभाती थीं।
मतों की मोह माया में सदा चक्कर लगाती थीं।।

विकल थे, त्रस्त नर-नारी सुखद सौभाग्य सोया था।
निरख कर देश की हालत ऋषि का मन भी रोया था।।
बजाया धर्म का डंका, गुंजायी वेद की वाणी।
नया संदेश पाकर के विहंसते थे सभी प्राणी।।

नयी जब राह देखी तो नया सौभाग्य जागा था।
उगा जब वेद का रवि तो अंधेरा दूर भागा था।।
उठाया सत्य का झंडा, अंधेरा डगमगाया था।
अमर "सत्यार्थ" ज्योति से जगत् जगमगाया था।।

—चन्द्रमोहन शास्त्री

हमारा प्रिय

डा० सूर्यदेव शर्मा साहित्यालंकार एम० ए०

(१)

हमारे गुरु का आशीर्वाद; हमारे ऋषि का अमर विधान।
मिटा कर जग का विषम विषाद; करेगा वही विश्व कल्यान॥

इष्ट फल देगा नित्य नवीन; कल्पपादप का पुण्याभास।
धरा का पुण्य अमर वरदान; हमारा प्रिय सत्यार्थप्रकाश॥

(२)

निगम का, आगम का अवतार; भव्य भावों का शुचि भंडार।
प्रेम के पय का पारावार; ज्ञान का, गुण का गम्यागार॥

चमकते जिसमें रत्न अनेक; नित्य प्रति पाते विविध विकास।
सत्य का सागर बस वह एक; हमारा प्रिय सत्यार्थप्रकाश॥

(३)

वही है दिव्य तेज तिग्मांशु; तोड़ता तमस्-तोम-प्रातान।
वही है सीधा सौम्य सुधांशु; कराता अमृतपय का पान॥

वही है पावस-पुण्य-पयोद; हटाता अघ निदाघ संत्रास।
वही बुध जन का बुद्धि विनोद; हमारा प्रिय सत्यार्थप्रकाश॥

(४)

विविध पंथों का तामस-तोम; भराथा भू पर भ्रम भरपूर।
अखिल आच्छादित था वरव्योम; न कर सकता था कोई दूर॥

गगन में हुआ ज्ञान-विस्फोट; किया अज्ञान अन्ध का ह्रास।
असत् पर मारी भारी चोट; हमारा प्रिय सत्यार्थप्रकाश॥

(५)

किया द्रुत खंड-खंड पाखंड; चला कर तेज तर्क का तीर।
आक्रमण हुआ प्रभूत प्रचंड; दम्भगढ़ गिरा सहित प्राचीर॥

विलखते हैं मतवादी आज; करें किस की कैसे अब आश?
असत् पर गिरा गर्जकर गाज; हमारा प्रिय सत्यार्थप्रकाश॥

(६)

अनिल का अमित अजस्र प्रवाह; बाँध सकता है जग में कौन?
अग्नि का प्रबल प्रचंड प्रदाह; साध सकता है जग में कौन?

"सूर्य" का नभ में प्रखर प्रतप्त; रोक सकता है कौन प्रकाश?
वही "आर्योदय" करे सशक्त; हमारा प्रिय सत्यार्थप्रकाश॥

—"सूर्य"

सत्यार्थ-प्रकाश

ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश महान्
जयति जय ऋषिवर का वरदान ।।

विश्व के ग्रन्थों का शिर-ताज—बहारों का मानो ऋतुराज
बचाई मानवता की लाज—किया है तर्कों का आधान ।।१।।

दयामय आनन्दों का स्रोत, ज्ञान-गरिमा से ओतः प्रोत
मतों के सागर का दृढ़पोत-कर रहा जगती का कल्याण ।।२।।

स्वसंस्कृति-सरणी का पाथेय—धरातल में ध्रुव सा ध्रुव ध्येय
विचारों का यह दुर्ग अजेय—जहाँ पर रक्षित वैदिक ज्ञान ।।३।।

ईश का सुन्दर सत्यस्वरूप-समुज्ज्वल शिक्षा का प्रारूप
अध्ययन-क्रम का नियम अनूप-गृहस्थाश्रम का वरद विधान ।।४

सुशोभित वानप्रस्थ, संन्यास—राज्य-धर्मों का विमल विकास
ईश के वेदों का विन्यास—सृष्टि का सुन्दरतर आख्यान ।।५।।

अविद्या विद्या, मोक्ष-प्रचार—सुभक्ष्याभक्ष्य विदित आचार
प्रभावित जिनसे है संसार—युक्तिमय प्रामाणिक व्याख्यान ।।६

मतों के आलोचन का सार—नास्तिकी मत पर विशद विचार
ईसवी मत पर प्रबल प्रहार—यावनी मत का शल्य-निदान ।।७।।

महर्षि ने करके श्रम साकार—भरा है घट में उदधि अपार
रत्न उल्लासों का यह हार कर रहा आलोकित उद्यान ।।८।।

महर्षि के मन्तव्यों का चित्र—अन्त में अविकल लिखित पवित्र
धरा में सबसे यही विचित्र—प्रशंसित है विवेक की कान ।।९।।

धर्म का धवल यही आधार—वेद के परिचय का प्राकार
इसी का करिए प्रचुर प्रचार—धरा पर हो ऋषि जय
का गान ।।१०।।

—"प्रणव" एम० ए०, शास्त्री

सत्यार्थप्रकाश

श्री पूर्णचन्द एडवोकेट

महर्षि दयानन्द के अमरग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के सम्बन्ध में कुछ विचार नीचे दिए जाते हैं। ये विचार सत्यार्थप्रकाश विशेषांक की भूमिका के रूप में समझे जाने चाहिएँ।

नाम—महर्षि ने पुस्तक का नाम सत्याथप्रकाश रक्खा है इसमें भी एक विशेषता है। इसका नाम सत्यप्रकाश भी हो सकता था परन्तु महर्षि की यह धारणा थी कि सत्य का प्रकाश वेदों द्वारा सृष्टि के आदि में हो चुका है, सत्य का अर्थ लुप्त हो गया है या अर्थ के समझने में भूल की जा रही है और इसलिए सत्य के अर्थ को पुन: प्रकाशित करने के लिए इस पुस्तक की रचना की। इससे उनका प्राचीनता के प्रति प्रेम और वेदों में श्रद्धा प्रकट होती है।

पुस्तक की शैली—सत्यार्थप्रकाश ही एक ऐसी धर्म पुस्तक है जो प्रश्न और उत्तर के रूप में लिखी गई है। इससे ऋषि का तर्क पर बल देना सिद्ध होता है। आरम्भ के दस समुल्लासों में ऋषि ने स्वयं अपने प्रतिवादी के संबन्ध में प्रश्न किए हैं। और उनका समाधान किया है। और इसी प्रकार आखिर के चार समूल्लासों में दूसरों के विचारों पर समीक्षा की दृष्टि से आक्षेप या प्रश्न किये हैं और उनका कारण भी दर्शाया है।

महर्षि दयानन्द की खंडन की शैली—शिक्षक जगत् में और अन्य मतवालों की दृष्टि में महर्षि की खंडन। प्रधान शैली पर बहुधा आक्षेप किया जाता है। मेरी सम्मति में महर्षि की खंडन की शैली सबसे अधिक महत्व की है। महर्षि दयानन्द शिक्षक और चिकित्सक दोनों थे। वह प्राचीन वैदिक धर्म की शिक्षा देना चाहते थे और समाज सुधार की दृष्टि से समाज में प्रचलित त्रुटियों को दूर करना चाहते थे। और इस दृष्टि से वह प्रचलित सामाजिक रोगों के सफल चिकित्सक थे। शिक्षा और चिकित्सा दोनों के लिए समीक्षा आवश्यक है और तब तक कोई चिकित्सा और समीक्षा पूर्ण नहीं हो सकती, जब तक शिक्षा पानेवाले की पूर्व की त्रुटियाँ दूर न करदी जाएँ और न किसी रोगी की

चिकित्सा हो सकती है जब तक उसके रोगों के कारण का निवारण न कर दिया जाए। महर्षि दयानन्द की समीक्षा की यह भी एक विशेषता थी कि वह जीवन के हर विभाग के लिए धर्म को आवश्यक मानते थे और धर्म की आवश्यकता उनकी दृष्टि में केवल परलोक या मुक्ति से सम्बन्धित नहीं थी। इस लोक में सफल उन्नति और जीवन के लिए वह धर्म के क्रियान्वित रूप को आवश्यक समझते थे। इसलिए उन्होंने जितने मत प्रचलित हैं उनको एक सूत्र में बाँधने के लिए यह सिद्ध किया कि सबसे प्राचीन तथामौलिक वैदिक धर्म ही है और इसलिए उन्होंने ये सिद्ध किया कि सब मतों में जो अच्छी बातें हैं वह वैदिक धर्म से ली गयी हैं और माननीय हैं। उनमें देश और काल के प्रभाव से जो नवीन बातें शामिल हो गयी हैं उनका संशोधन करने के लिए महर्षि ने अनुरोध किया। महर्षि का उद्देश्य किसी मत का मिटाना नहीं था। सबको मिलाना था। उनका खंडन यदि इस दृष्टि से देखा जाए तो मंडन ही है।

सत्यार्थप्रकाश सर्वाङ्ग पूर्ण ग्रन्थ है। इसमें व्यक्ति-निर्माण और समाज-निर्माण के सम्बन्ध में जितनी आवश्यक बातें हो सकती हैं उन सब पर विचार किया गया है। इसमें ईश्वर के नाम, काम और धाम पर विचार किया है, शिक्षा विधि पर, वर्ण और आश्रम की मर्यादा पर, चारों वर्णों पर, चारों आश्रमों पर विचार किया गया है और एक विशेष बात यह है कि राजनीति को राजधर्म के नाम से प्रतिपादित किया गया हैं। यह एक पुस्तक ऐसी है जो समाज-सुधार राजनीति और तत्वज्ञान सब पर प्रकाश डालती है।

●

सत्यार्थप्रकाश की

दार्शनिक विशेषतायें

आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री

सत्यार्थप्रकाश के लेखक जगद्विख्यात महान् आचार्य महर्षि दयानन्द सरस्वती हैं। ऋषि साक्षात्कृद्धर्मा होते हैं। उनकी प्रत्येक बात महत्त्वपूर्ण होती है। अतः सत्यार्थप्रकाश में प्रत्येक बात तथ्य पूर्ण है और अपना विशेष महत्व रखती है। दार्शनिक दृष्टिकोण की कुछ बातें यहाँ पर लिखी जाती हैं।

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में परमेश्वर के अनेक नामों का वर्णन है। उनमें विशेष और श्रेष्ठ नाम "ओम्" है। 'ओ३म्' नाम में जगत् की तीनों स्थितियों का वर्णन मिल जाता है। 'ओम्' यह एक अक्षर है और समस्त जगत् उसका व्याख्यान है। परन्तु अन्य नामों के देने का प्रयोजन क्या था ? उत्तर होगा कि एक परमेश्वर की उपासना को दृढ़ करने के लिए ही इस समुल्लास का यह विस्तार किया गया है।

दूसरी बात सत्यार्थप्रकाश में यह मिलती है कि परमेश्वर को प्रत्यक्ष माना गया है। जिस प्रकार जगत् के पदार्थों में गुणों का प्रत्यक्ष इन्द्रियों को होता है द्रव्य का नहीं फिर भी द्रव्य का प्रत्यक्ष स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार परमात्मा के ज्ञान-गुण और ज्ञानपूर्विका क्रिया का प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है। यहाँ समझने की बात यह है कि इन्द्रियों में गुणों का ही प्रत्यक्ष होता है, द्रव्य का नहीं। द्रव्य का प्रत्यक्ष आत्मा और मन से होता है। इसी प्रकार परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष आत्मा से होता है। प्रत्यक्ष लक्षण तो ऋषि ने न्याय का दिया परन्तु उसमें रहस्य क्या है—इसको भी खोल दिया और इस विशेष बात की ओर ध्यान को आकृष्ट किया।

तीसरी बात कारण चर्चा की सत्यार्थप्रकाश में मिलती है। महर्षि ने निमित्त, उपादान और साधारण—ये तीन कारण स्वीकार किये हैं। वे निमित्त समवायि और असमवायि भी नवीन नैयायिकों की तरह कह सकते थे। परन्तु फिर भी साधारण को अलग कार्य मानना ही पड़ता। माता-पिता पुत्र के कौन से कारण हैं ?—इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यदि इन्हें निमित्त कारण माना जावे तो ठीक

नहीं क्योंकि जो जिस कार्य का निमित्त कारण होता है उसका पूरा ज्ञान रखता है परन्तु माता पिता को पुत्र का पूरा ज्ञान नहीं है। निमित्त कारण के रूप आदि कार्य में नहीं आते। परन्तु पुत्र में कई वस्तुयें माता पिता से आती है। अत: ये निमित्त कारण नहीं—निमित्त कारण परमात्मा है। ये उपादान कारण हो नहीं सकते हैं क्योंकि उपादान कारण में ही अन्त में कार्य का लय है। मिट्टी का घड़ा टूट टूटकर बाद में मिट्टी रह जाता है। पुत्र के विना के बाद वह माता पिता में लीन नहीं होता है। अत: माता पिता उपादान कारण भी नहीं हैं। यदि इन्हें असमवायि कारण माना जावे तो भी ठीक नहीं क्योंकि तन्तु में समवेत रूप पट में आता है उसी प्रकार पुत्र माता पिता में समवेत गुण नहीं हैं। ऐसी स्थिति में यही उत्तर बन सकेगा कि माता-पिता साधारण कारण हैं।

चौथी बात ध्यान देने की यह है कि सत्यार्थप्रकाश में जीव को कहीं पर अणु नहीं लिखा गया है। जीव को परिच्छन्न लिखा गया है। जिसका अर्थ यह है कि 'न अणु, न मध्यम और न विभु।' मध्यम परिमाण जीव हो नहीं सकता है क्योंकि फिर तो अनित्य ठहरेगा। विभु परिमाण भी नहीं है क्योंकि विभु तो परमेश्वर है और वह सर्वज्ञ सर्वान्तिर्यामी भी है—जीव वैसा नहीं है। अणु परिमाण भी जीव नहीं है—क्योंकि अणु से भी वह सूक्ष्म है। एक अणु में दूसरा अणु नहीं समा सकता है परन्तु जीव अणु में भी रह सकता है। और एक अणु में कई जीव रह सकते हैं। इसका विशेष विवेचन आर्य सिद्धान्त सागर में हमने किया है।

पांचवीं बात यह मिलती है कि परमात्मा को प्रकृति और जीव से सूक्ष्म माना गया है। प्रकृति से जीव सूक्ष्म है और जीव से भी परमेश्वर सूक्ष्म है। परमेश्वर प्रकृति और जीव दोनों में व्यापक है। उद्योतकर आदि दार्शनिक जीव में परमात्मा को व्यापक नहीं मानते हैं। वे इस प्रश्न को कि आत्मा परमात्मा का व्याप्य व्यापक सम्बन्ध है वा संयोग सम्बन्ध है। अव्याकरणीय कहकर छोड़ देते हैं। परन्तु महर्षि ने व्याप्य व्यापक सम्बन्ध माना है।
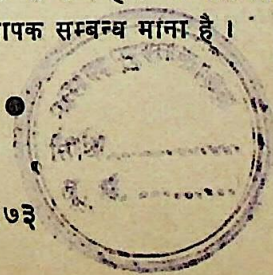
आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रकाशन विभाग का सूची-पत्र

१. वेदों का यथार्थ स्वरूप लें० धर्मदेव जी ६-५०
२. बलिदान जयन्ती स्मृति ग्रन्थ (आर्य शहीदों का जीवन चरित्र) ले० ४-५०
३. धर्मवीर पं० लेखराम जीवन चरित्र : स्वामी श्रद्धानन्द जी १-२५
४. बुद्ध एण्ड दयानन्द—पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय २-००
५. उर्दू सत्यार्थप्रकाश अनुवादक—पं० चमूपति एम०-ए० ३-५०
६. सत्संग पद्धति (नवीन संस्करण) ०-५०
७. भागवत् खण्डनम् ऋषि दयानन्द ०-५०
८. हिन्दी सत्यार्थप्रकाश ,, २-००
९. संस्कार विधि ,, १-२५
१०. सुर्ख आन्धी (अर्थात् कम्युनिज्मि के ढोल का पोल) पं० चिरंजीवलाल प्रेम ०-५०
११. ज्ञानदीप—पं० हरिदेव जी सिद्धान्त भूषण २-००
१२. आर्यसमाज दर्शन—प्रि० रामचन्द्र जावेद २-००
१३. ईशोपनिषद्—पं० हरिदेव शरण सिद्धांतालंकार १-००
२४. वैदिक धर्म की विशेषताएँ पं० हरिदेव जी सिद्धान्तभूषण ००-१२ १०) सैंकड़ा
१५. श्रीकृष्ण जीवन चरित्र ले० लेखराम जी १०) सैंकड़ा ००-१२
१६. स्वाधीनता और नारी—लेखिका सुशीलादेवी आर्या एम०-ए० १०) सैंकड़ा ००-१२
१७. आर्य समाज प्रवेश पत्र १-२५ सैंकड़ा ००-६
१८. खरी बातों का खोटापन—श्री स्वा० रामेश्वरानन्द जी ५) सैंकड़ा
१९. ईसाई पादरियों के कुचक्र से देश को बचाओ २) ,,
२०. ईसाई पादरी उत्तर दें २) ,,

रामचन्द्र "जावेद"
अधिष्ठाता—प्रकाशन विभाग
आर्य प्रतिनिधि सभा गुरुदत्त भवन जालंधर

छप गया .... शीघ्रता करें

प्रचारार्थ मंगायें

प्रसिद्ध लेखक

श्री पं० मदनमोहन विद्यासागर लिखित ट्रैक्ट

आर्य समाज क्या मानता है?

पृष्ठ संख्या ३२-एक प्रति

मूल्य ५ नए पैसे

प्रचार के लिए एक हजार मंगाने पर

३०) हजार मात्र

५००) प्रतियों का मूल्य १८) २५० का १०)

आज ही अपना आदेश भेजिए !

रेलवे स्टेशन का नाम अवश्य लिखें

रामचंद्र जावेद

अधिष्ठाता प्रकाशन विभाग आर्यप्रतिनिधि सभा

गुरुदत्त भवन जालंधर

१५ हनुमान रोड नई दिल्ली

यह सब क्यों ?
सिर दर्द, माथे पर झुर्रियां, आंखों के नीचे 'काली रेखाएँ उठते बैठते नेत्रों के सामने अंधेरा...
क्या आपने कभी सोचा यह सब क्यों है ? यह आंखों के सम्बन्ध में आपकी असावधानी का परिणाम है।
NAG JYOTI
MURARI BROS.
नाग ज्योति
आँखों को ताकत देता है नीरोग बनाता है तथा ज्योति बढ़ाकर चशमा हटाता है।
मुरारी ब्रदर्स कमला नगर, देहली-६
दृढ़ निश्चय कीजिये
अपनी आँखों की सुन्दरता के लिये
भीमसेनी काजल
ही प्रयोग करें
यह आपकी आँखों को निरोग और उन्हें अधिक सुन्दर बनाता है
BHIMSAINI KAJAL
MURARI BROTHERS
मुरारी ब्रदर्स
कमला नगर, देहली-६
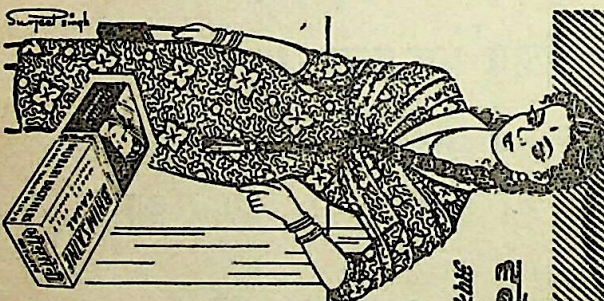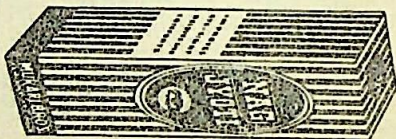
गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, हरद्वार

गुरुकुल कांगड़ी

फार्मेसी की एजेंसियाँ

१. अम्बाला छावनी—डा० हरिप्रकाश आयुर्वेदालंकार मैडिकल हाल, निकट निगार सिनेमा
२. अमृतसर—शांतिस्वरूप, कटरा आहलुवालिया
३. होशियारपुर—निधि फार्मे।
४. जालन्धर—इण्डियन मेड़ीसन हाऊस, भैरों बाजार।
५. पानीपत—जय भगवान् जैन, अत्तार, बड़ा बाजार
६. पटियाला—वेद प्रकाश महता, आर्य समाज।
७. भटिण्डा—गोपाल मैडिकल हाल।
८. रोहतक—आर्य वस्तु-भंडार, रेलवे रोड।
९. लुधियाना—विष्णुदत्त जी, चौक अलेरीगंज
१०. नरवाना मण्डी—काशीराम बृजलाल, रेलवे रोड।
११. जगाधरी—जगदीश औषधालय, बुड़िया अड्डा।
१२. गुरदासपुर—गुप्ता मैडिकल हाल, सदर बाजार।

धार्मिक परीक्षायें

सरकार से रजिस्टर्ड आर्य साहित्य मंडल अजमेर द्वारा संचालित भारतवर्षीय आर्य विद्यापरिषद् की विद्याविनोद, विद्यारत्न, विद्यावाचस्पति की परीक्षायें आगामी जनवरी में समस्त भारत में होंगी। कोई किसी भी परीक्षा में बैठ सकता है। प्रत्येक परीक्षा में सुनहरा उपाधि-पत्र प्रदान किया जाता है। धर्म के अतिरिक्त साहित्य, इतिहास, भूगोल, समाजविज्ञान आदि का कोर्स भी इनमें सम्मिलित है। निम्न पते से पाठविधि व आवेदन-पत्र मुफ्त मंगा कर केन्द्र स्थापित करें।

डा० सूर्यदेव शर्मा एम० ए० डी० लिट्

परीक्षा मन्त्री, आर्य विद्या परिषद् अजमेर

मस्तिष्क एवं हृदय

सम्बन्धी भयंकर पागलपन, मृगी, हिस्टीरिया, पुराना सरदर्द, ब्लडप्रेशर, दिल की तीव्र धड़कन, तथा हार्दिक पीड़ा आदि सम्पूर्ण पुराने रोगों के परम विश्वस्त निदान तथा चिकित्सा के लिए परामर्श कीजिए—

कविराज योगेन्द्रपाल शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य धन्वन्तरि

मुख्याधिष्ठाता—कन्या गुरुकुल हरिद्वार
मुख्य सम्पादक—'शक्ति सन्देश' साप्ताहिक, कनखल
संचालक—आयुर्वेद शक्ति-आश्रम कनखल
पो० आ० गुरुकुल कांगड़ी, (सहारनपुर)
फोन नं० कार्यालय ९०, निवास ७७

१०) और १५) मासिक देकर

रेडियो, साइकिल सिलायी मशीन, ट्राँजिस्टर, सीलिंग फ़ैन और घड़ी प्राप्त करें।

•
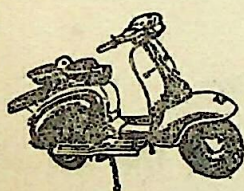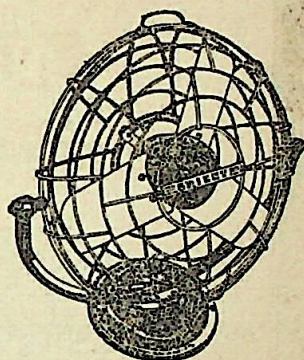
स्कूटर भी लीजिए !

१००) महीना देकर स्कूटर प्राप्त करने को देरी न करें।

यह भी हो सकता है कि आप का भाग्य तेज हो और पहली ही बार में आप इच्छित वस्तु पा लें।

विशेष जानकारी के लिए पत्र लिखें।

व्यवस्थापक—ओरियन्टल सप्लायी कं० दिल्ली गेट गाजियाबाद।

मनुष्य बारह वर्ष के अनुभव से जो सीखता है

पुस्तकें उससे अधिक एक वर्ष में सिखा देती हैं

हिन्दी इंग्लिश पत्र-व्यावहार

आज कल अंग्रेजी में पत्र-व्यवहार एक विशेष अर्थ रखता है। प्रस्तुत किताब इसी दृष्टिकोण को लेकर लिखाई गई है। जीवन के आरम्भ से अन्त तक दैनिक कार्यों में होने वाले पत्रों को इतनी सरल व सुन्दर हिंदी भाषा में समझाया गया कि दांतों तले अंगुली दबानी पड़ती है। किताब की विभिन्न अध्यायों में सामाजिक (Social) व्यापारिक (Commercial) निजी (Private) तथा कार्यालय सम्बन्धी (Official) पत्र सुन्दर ढंग से समझाये गये हैं। मू० २-५० न० पै०।

हिन्दी इंग्लिश ग्रामर

प्रत्येक मनुष्य जानता है कि बिना व्याकरण के भाषा का ज्ञान होना असम्भव है। इस किताब में सरल हिन्दी के माध्यम से इंग्लिश व्याकरण को समझा कर उसे अत्यन्त सरल कर दिया है। मूल्य २०० डाक खर्च सहित।

टैकनीकल सचित्र पुस्तकें

मोटर मैकेनिक टीचर ६·०० बिना बिजली का रेडियो १·७५ इलैक्ट्रिक वायरिङ्ग ५·०० इलैक्ट्रिक गाइड ४·०० भवन निर्माण कला १४·०० फरनीचर बुक १४·०० सीमेंट की जालियां ७·०० आयल इन्जन गाइड ७·०० वर्कशाप गाइड ४·०० खराद शिक्षा ४·०० रेडियो गाइड ५·०० फोटोग्राफी शिक्षा ४·०० क्रूड आयल इन्जन गाइड ६·०० फरनीचर डिजाइन बुक १४·००।

स्वास्थ्य सम्बन्धी

इन्जैक्शन गाइड ५·०० कम्पाउन्डरी शिक्षा ४·०० एलोपैथिक डाक्टरी गाइड ६·०० पुरुष रोग २·००

महिलाओं के लिये

बुनाई शिक्षा ५·०० पाकभारती ६·०० सिलाई कटाई शिक्षा ३·००

इंडस्ट्रीयल सचित्र पुस्तकें

रबड की मोहरें ३·०० मोमबत्ती बनाना ३·०० सिलाई मशीन मरम्मत ४·०० अगरबत्ती बनाना ३·०० रोशनाई साजी ३·०० चित्रकारी ४·०० रंग बिरंगी मिठाइयां बनाना ३·०० बेकरी शिक्षा ३·०० आतिशबाजी ३·०० पान की दुकान ३·०० साबुन तेल बनाना ४·०० घड़ी साजी ४·०० बूट पालिश बनाना ३·००

सूचिपत्र मुफ्त भेजा जाता है।

रंगभूमि फिल्म मासिक ५ दरिया गंज दिल्ली—६

मुद्रक तथा प्रकाशक श्री शिवकुमार शास्त्री द्वारा सम्राट् प्रेस, पहाड़ी धीरज देहली से छपवाकर आर्योदय कार्यालय १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली से प्रकाशित किया

बोध रात्रि
सम्वत् २०२०

११ फरवरी १९६४

सम्पादक
रघुवीरसिंह शास्त्री

सह—
भारतेन्द्रनाथ

वार्षिक मूल्य ८)

एक प्रति का
२० नए पैसे

इस अंक का
७५ नए पैसे

आर्य प्रतिनिधि सभा
पंजाब का मुख पत्र

कार्यालय
१५ हनुमान रोड
नई दिल्ली

फोन ४०६८७

हे प्रभु !

ओ३म् तन्त्वा शोचिष्ठ दीदिवः
सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः ।
स नो बोधि श्रुधी
हवमुरुष्याणोऽघायतः समस्मात ॥

यजु० ३-२६

हे अत्यन्त शुद्ध स्वरूप, स्वयं प्रकाशमान आनन्द देने वाले जगदीश्वर हम लोग वा अपने मित्रों के सुख के लिए आप से याचना करते हैं, तथा जो आ । हम को अच्छी प्रकार विज्ञान को देते हैं, सो आप हमारे सुनने-सुनाने योग्य स्तुति समूह यज्ञ को कृपा करके श्रवण कीजिए । और हम को सब प्रकार पापाचरणों से अर्थात् दूसरे को पीड़ा करने रूप पापों से अलग रखिए—

—महर्षि दयानन्द

हे शुद्ध रूप ज्योतिमान भगवान्,
करो कृपा हे सब विधि कृपा निधान,
प्राणिमात्र को दो प्रभु सच्चा ज्ञान,
सुखकारी हो, खोजपूर्ण विज्ञान,

अधर्म-पाप ना रह पाए अवशेष,
जन-जन में हो व्याप्त धर्म आदेश,
असत्य गूरल का कर दो प्रभु संहार,
मिट जाए धरती से हाहाकार !

*** विषयानुक्रम ***

* कविताएँ *

सम्पादकीय

बोध रात्रि !

ज्ञान पिपासा अंतर में जगाने की प्रतीक है, बोध-रात्रि ! बालक "मूल" को ऋषि दयानन्द बनाने वाली है यह महान् ऐतिहासिक घड़ी !

इस दिन हम भी सत्य-असत्य का विवेक कर, धरती पर फैले मत-वाद-पंथ और अंध-विश्वासों की कालिमा दूर कर ज्ञान विहान के लिए श्रम करें, यह हमारी चाह है।

विभिन्न कल्पित रेखाओं में बंटे हम, कष्ट झेलते हुए भी, कष्टों का कारण खोजने में अपने को असमर्थ पा रहे हैं। यह हमारी क्षमता को तीव्र चुनौती है।

आज इतिहास की निर्णायक घड़ी में, जब विज्ञान के पंख लगाकर हम अंतरिक्ष में तैरने की तैयारी कर रहे हैं, यह भी उतना ही आवश्यक है कि हम सत्य धैर्य को वाहन बना धरती पर चलना भी सीखें।

हमारे विश्वास और संस्कार जो आनन्द के मार्ग की बाधा बन खड़े होते हैं, समाप्त हों और हम नयी प्रकाश किरण के साथ-साथ शांति की ओर आगे बढ़ने का व्रत लें।

जन-जन की पीड़ा, मन का कलुष, अज्ञान की छाया को दूर कर जागें, औरों को जगाएँ और मृत्यु की ओर बढ़ते मानव को बताएँ कि जीवन क्या है, उसका लक्ष्य क्या है ? और क्या है सच्चा आनन्द ? कहाँ मिलेगी शांति ?

उत्कर्ष की ओर प्रयाण मनुष्य की चरम साधना है। प्रभु करे कि हम जीवन के सत्य को जागृत कर सच्चे "शिव" की उपासना में रत हो पावन मंगलमय पर्व मनाएँ।

—रघुवीरसिंह शास्त्री

विचार लो !

चलो चुनौती दें मिल कर अब,
हम सारे संसार को।
उठो, संभालो, आगे बढ़ कर,
दयानन्द पतवार को ।।

पाखंडों की काली छाया धरती पर ना शेष रहे,
महा नाश के प्रेरक मत का, तनिक नहीं अवशेष रहे ।
मिटें वाद भेदों के बंधन, युग का नव निर्माण हो,
मनुज-मनुज के अंतर में, झंकृत वेदों का गान हो ।।

स्वर्ग बने यह वसुन्धरा,
बस ऐसी राह संवार दो।
वीर, बचाओ प्रलय लहर से,
मानव के मधु प्यार को ।।

ऋषि ने हमको मार्ग दिखाया, जीवन का सम्मान का,
मृत्यु पंथ से बचा सभी को, बतलाया पथ ज्ञान का ।
ज्ञान एकता का संगी है, विघटन मृत्यु निमन्त्रण है,
छोड़ो पशुता लघुता अपनी, सबको यह आमन्त्रण है ।।

दिया अमर सन्देश न भूलो,
जागो, अस्त्र संभाल लो।
ऋषि के बोध-दिवस पर अपना,
क्या कर्तव्य विचार लो ।।

—राकेश

अपनी बात

संसार को सत्य, धर्म और संस्कृति का पाठ पढ़ाने वाला देश १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के बाद ब्रिटिश शासन द्वारा कुचल कर रख दिया गया था। जागरण के सभी अंकुर मुरझा चुके थे। आपस की फूट, अन्धविश्वास, पाखंड, का सर्वत्र साम्राज्य था। विदेशी पादरी सभी को ईसाई बनाने का स्वप्न ले रहे थे। राज्य ही उनका था, मुल्ला-मौलवी हिन्दुओं को अपना शिकार बनाने के लिए सभी संभव उपाय बरत रहे थे।

आर्य जाति का नाम शेष था, आत्म विश्वास समाप्त हो चुका था। धर्म के गीत गाए जाते थे पर धर्म लुप्त हो चुका था। वेदानुयायी थे, पर उन के विचारों में वेद को शंखासुर निगल गया था और वेद भारत में अप्राप्य थे।

स्त्रियां तुलसीदास के मतानुसार—

ढोल गंवार शूद्र पशु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी ।।

के अनुसार जीवन बिता रहीं थीं।

राम-कृष्ण ऋषि मुनियों का देश सब भांति दुर्दशा को प्राप्त हो चुका था, जीवन की आशा किसी को भी न थी। ऐसी घड़ी में बालक "मूल" के हृदय में शिवरात्रि के दिन ज्ञान की लौ जागी।

परिणाम स्वरूप "मूल" दयानन्द बना। गुरु विरजानन्द की शिक्षा से मन के सब संशय मिटे। दक्षिणा के समय गुरु को दक्षिणा में लौंग भेंट की। गुरु ने कहा कि दयानन्द, मुझे यह नहीं चाहिये। दे सकते हो तो मुझे यह दो संसार सच्चे वेद ज्ञान को भूल चुका है उसे जीवन का मार्ग बताओ, यही मेरी भेंट होगी। दयानन्द ने सच्चे शिष्य की भांति गुरू के आदेश की पूर्ति का संकल्प लिया और लग गया सत्य के प्रसार में।

उसी आदेश की पूर्ति का व्रत 'सत्यार्थप्रकाश' के रूप में प्रकट हुआ। जो ज्ञान गुरु विरजानन्द ने दयानन्द को दिया, उसी ज्ञान को अपने अनुभव और बुद्धि से अनुप्राणित कर दयानन्द ने "सत्यार्थ प्रकाश" रूप में संसार को दिया।

"सत्यार्थ प्रकाश" एक ऐसा अनमोल रत्नदीप बन गया जिसका प्रत्येक समुल्लास वस्तुत: प्रकाश-प्रभा से युक्त हो अंधकार को विदीर्ण करने की सामर्थ्य रखता है।

खड़ी बोली के उषाकाल में लिखा गया यह वह अमर ग्रन्थ है जिसमें जीवन के हर भाग का विवेचन केवल सत्य की दृष्टि से किया गया है। ऋषि का उद्देश्य "सत्य" केवल सत्य का प्रकाश करना था।

उन्हीं के शब्दों में मेरा इस ग्रन्थ को बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्या-सत्य अर्थ का प्रकाश करना है।

सत्य की परिभाषा ऋषि ने स्वयं की है। वे लिखते हैं कि—

"वह सत्य नहीं कहाता जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाय। किन्तु जो पदार्थ जैसा है उस को वैसा ही कहना लिखना और मानना सत्य कहाता है"

ऋषि ने प्रथम दस समुल्लासों में वैदिक-मतानुमोदित सच्चा मार्ग दिखाया और पश्चात् चार समुल्लासों में अवैदिक मतों के दोष संक्षेप में प्रकट किए। दोष दिखाने में ऋषि का लक्ष्य किसी के भी हृदय को चोट पहुँचाना नहीं अपितु उनके दोष छुड़ाना था। उनके हृदय में मानव मात्र के प्रति ममता का सागर उमड़ रहा था। वे यह नहीं सह सकते थे कि अमोघ औषधि के होते हुए भी रोगी तड़प-तड़प कर मर जाएं। अत: उन्होंने पुराणी-किरानी व यवन मतों की सच्ची समीक्षा कर सबको पतन के मार्ग से हटा कर उन्नति की राह पर चलने का निमंत्रण दिया। उनका खंडन, ज्ञान के बीज बोने के लिए जमीन से झाड़-झंकाड़ उखाड़ फेंकने के समान है।

ऋषि की आंतरिक इच्छा थी कि मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए पक्षपात और जिद्द छोड़ कर विचार हों। वे लिखते हैं कि—

"पक्षपात छोड़कर इसको देखने से सत्या सत्य सबको विदित हो जायगा"

ऋषि ने किसी भी मत की आलोचना एक पक्ष बनकर नहीं की अपितु लिखा है—

मैं पुराण, जैनियों के ग्रन्थ, बाईबिल और कुरान को प्रथम दृष्टि में ही बुरा न देखकर उनमें से गुणों का ग्रहण और दोषों का परित्याग तथा अन्य मनुष्य जाति की उन्नति के लिए प्रयत्न करता हूं वैसा सब को करना योग्य है"

सत्यार्थप्रकाश के खंडनात्मक भाग का उद्देश्य यही है। ऋषि की दृष्टि में तो "मनुष्य जन्म का होना सत्या सत्य निर्णय के लिए है न कि वाद-विवाद विरोध करने कराने के लिए।" अतः ऋषि के ऊपर किसी भी प्रकार कटुता या द्वेष का आरोप नहीं लगाया जासकता। पक्षपात से ऋषि कोसों दूर थे, उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि "पक्षपात से क्या क्या अनर्थ जगत् में न हुए और न होते हैं। सच तो यह है कि क्षणभंगुर जीवन में पराई हानि करके लाभ से स्वयंरिक्त रहना और अन्य को रखना मनुष्यपन से बहिः है"

ऋषि का लक्ष्य तो संसार में एक ऐसे समाज की स्थापना करना था जिस में न कोई मत हो, न जाति, पंथ, फिरका या वाद। अपितु भूगोल के सभी मनुष्य सच्चे अर्थों में मनुष्य बन, पक्षपात स्वार्थ छोड़, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से वेद के आदेश की पूर्ति कर 'यत्र विश्वं भवत्येक नीडम्' के स्वप्न को साकार बनाएं।

ऋषि चाहते थे कि "सब का विचार एक होकर परस्पर प्रेमी होके एक सत्यमतस्थ होवें।"

संसार के इतिहास के पृष्ठ साक्षी हैं कि भूमण्डल पर दयानन्द जैसा अन्य क्रांतिकारी मिलना कठिन है जिसने मनुष्य-मनुष्य के बीच मतभेद की दीवारों को गिराने के लिए किसी भी प्रकार का कोई समझौता पसंद नहीं किया। मानव मात्र की एकता उनका लक्ष्य था, शाँति और आनन्द सभी पाएँ, यही उनका चरम साध्य था।

ऋषि की महत्ता उनके अमर ग्रन्थ में सूर्य की भाँति स्पष्ट है। उनका मातृ तुल्य स्नेह, ममत्व भरा हृदय, मनुज मात्र के प्रति समान रूप से अमृत बरसाता था।

उनकी यह 'पाखंड-खंडिनी पताका' चारों ओर वह अमृत संजीवनी विकीर्ण करती है जो संसार को दुःख-कष्ट, अशान्ति और युद्ध की ज्वालाओं से छुटकारा दिलाकर शाश्वत सुख और आनन्द के लोक में पहुंचाती है।

इसी भावना से सत्यार्थ प्रकाश का उत्तरार्द्ध अनेक विद्वानों के विचार मंथन के साथ इस अंक में हम प्रस्तुत कर रहे हैं। ऋषि के अगाध ज्ञान की कुछ छाया इस विशेषांक से प्रकट होगी। वैसे तो ऋषि के एक-एक मन्तव्य पर ऊहापोह पूर्वक विशाल ग्रन्थ की आवश्यकता है। हमारे क्षुद्र प्रयत्न से यदि पाठकों को सत्यार्थ प्रकाश का अध्ययन और मनन करने की प्रेरणा प्राप्त हो तो हम अपना प्रयत्न सफल समझेंगे।

शिवरात्रि के दिन सत्य के प्रति जिज्ञासा जागी थी, इसी से यह भेंट शिवरात्रि के अवसर पर ही हम दे रहे हैं।

आज अंधविश्वास और अज्ञान को समाप्त करने के लिए सर्वत्र उपेक्षा का भाव दृष्टिगोचर होता है। यह स्थिति किसी भी दृष्टि से उचित नहीं। हम सत्य की रक्षा और उसके प्रसार के लिए कटिबद्ध हों।

सोई धरती जागे, सुप्त मानवता जागे, अंधकार विदीर्ण करने का उत्साह जागे! आत्माहुति देकर भी सत्य की रक्षा का संकल्प जागे! यह उदात्त अभिलाषा ही बोधरात्रि का संदेश है।

क्षमा प्रार्थना ! धन्यवाद

अनेक कारणों से यह अंक भी पाठकों की सेवा में इच्छित योजना के अनुसार नहीं दे पा रहे। फिर भी विद्वान् लेखकों के सहयोग से जो कुछ बन पड़ा, प्रस्तुत है। इसमें जो भी श्रेय है वह आर्य जनता के उत्साह को और विद्वानों के परिश्रम को। त्रुटियों का ज्ञान हमें है, और उनके लिए हम सभी से क्षमा प्रार्थी हैं।

श्री पं० कृष्णचन्द्र विद्यालंकार, श्री पं० राजेन्द्र, डा० श्रीराम शर्मा, श्री रघुनाथ प्रसाद पाठक व श्री भवानीलाल 'भारतीय' एम० ए० श्री ओम्प्रकाश शास्त्री प्रभृति विद्वानों के लेख स्थानाभाव के कारण नहीं दे सके। अतः उनसे इस विश्वास के साथ क्षमा चाहते हैं कि भविष्य में भी हम उनके सहयोग से वंचित नहीं रहेंगे। उन लेखों को पाठक आगामी अंक में पढ़ सकेंगे।

आर्य जनों से विशेष

यह अंक हजारों की संख्या में छप रहा है १५-२० हजार से अधिक व्यक्ति तो इसे पढ़ेंगे ही। यदि इसमें से एक चौथाई भी हमारी प्रार्थना स्वीकार

कर ८) भेज आर्योदय के स्थायी सदस्य बन जाएँ, तो हमारी अनेक समस्याएँ सुलझ सकती हैं।

हमारी सदा से इच्छा रही है कि आर्य समाज का एक सुदृढ़ साप्ताहिक हो। इसीलिए 'आर्योदय' जालन्धर से दिल्ली आया भी। फिर भी यह खेद की और लज्जा की बात है कि अभी तक 'आर्योदय' भारी घाटे में चल रहा है। हमारे पास प्रशंसा के ढेरों पत्र आते हैं, पर हम कोरे प्रशंसा पत्रों का क्या करें? आर्य जनता का क्रियात्मक सहयोग हमें चाहिए।

आप सहयोग दो प्रकार से कर सकते हैं—

१—अधिक से अधिक ग्राहक बना कर। जो आर्य समाजें ६ सदस्यों का धन इकट्ठा भेजदेंगी उन्हें ४०) भेजने होंगे। इससे जहाँ समाजों को ८) का लाभ होगा। वहाँ 'आर्योदय' को भी अपने पैरों पर खड़े होने का बल मिलेगा।

२—अपनी समाज में १० प्रतियाँ प्रति सप्ताह मंगाकर भी आप 'आर्योदय की लोकप्रियता बढ़ा सकते हैं। ऐसी हतभाग्य समाज कौन सी होगी जो प्रति सप्ताह २० पैसा देने वाले दस सदस्य भी न बना सके। इस तरह आप को ६) मासिक में १० प्रतियां प्रति सप्ताह मिलेंगी।

३—आर्य व्यापारी अपना विज्ञापन देकर भी सहयोग दे सकते हैं।

क्या समस्त आर्य जगत् मिलकर 'आर्योदय' को अपने पैरों पर खड़ा नहीं कर सकता

—भारतेन्द्र नाथ

आवश्यक-सूचनाएँ

१—१६ फरवरी का अंक बोधरात्रि के अवकाश के कारण प्रकाशित नहीं होगा। अगला अंक २३ फरवरी का होगा। पाठक व एजेंट अंकित कर लें।

बोधरात्रि पर आकाशवाणी कार्यक्रम

११ फरवरी को सायं ७-४५ पर दिल्ली 'क' से श्री भारतेन्द्रनाथ 'साहित्यलंकार' की 'राष्ट्रवादी दयानन्द' शीर्षक एक वार्ता अखिल भारतीय आकाशवाणी से प्रसारित होगी।

वह बोधोत्सव !

—रमाकान्त—

जब नीरव अंधकार
भूमण्डल के वक्ष पर
चतुर्दिक पहरा दे रहा था।
अनजाने पथिक की भाँति
सांसों का सरगम
भटक रहा था।
आशा पतन के गत में
आँसू बहा रही थी।
बाह्याडम्बरों के अहम् में
अवैदिक मतों का अन्धड़
चरणों में
बेड़ियाँ डाल रहा था।
तब
पाखंड-खंडिनी पताका लिये
'आर्योदय' की वेला में
गंगा के सुरम्य तट पर
हरिद्वार में खड़ा
दयानन्द !
दिशाओं के तिमिर को
वेद-विहित-विधान से
बर्फ के टुकड़े सा
गला रहा था।
सांसों का सरगम
वेद-मन्त्रों की
सुमधुर गूँज लेकर
मुखरित हो रहा था।
आशा का उपवन
सुवासित सुमनाँजलि लिये
मंगलमय भोर की
सुमधुर किरणों का
पूजन-अर्चन कर रहा था।
दिशाएँ खिल उठी थीं।
अभिशाप का कुहासा
ज्ञान-दिवकार से
छँट रहा था।
सच्चे सुख की
स्रोतस्विनि पावन धारा
कल-कल छल-छल करती
सुधा-बिन्दुओं का
वरद आलोक लिए
जीवन में लहराने लगी थी !
रात बीत गई थी
दिन निकल आया था।
जिसका प्रकाश
सीमा को लाँघकर
असीम हो गया था।
वह दिव्य प्रकाश
मेरा तुम्हारा सबका
आज भी पथ प्रदर्शक है।
जिसने दयानन्द को
ज्ञान-संजीवनी दी
वह बोधोत्सव शिवरात्रि पर्व
अमूल्य क्षण
कितनाभव्य था,
कितना निर्मल, कितना पुनीत !!!

पुकारती यह रात्रि है

ससीम क्या, असीम क्या, सत्य क्या, असत्य क्या,
प्रश्न है विराट रूप, प्रश्न का स्वरूप क्या,

प्राण साधना करे, किसे, कहां, वह कौन है,
दीप, ज्योति-पुंज, लक्ष्य, साध्य, मंत्र कौन है,
कौन है महान् दिव्य शक्ति का अजस्र स्रोत,
कोटि-कोटि देह का सुबंद्य भाव कौन है?

भावना उठी कि प्रश्न क्रांति रूप बन गया,
धर्म का स्वरूप त्याज्य-ग्राह्य क्या, उलझ गया,
भेद-भाव, फूट-द्वेष, भोग ही क्या इष्ट है,
सृष्टि का यह चक्र क्यों, चक्र जाल क्लिष्ट है।

थीं अनेक भ्रान्तियां, भ्रांत मार्ग सामने,
अग्नि कुंड जल रहे, युग चरण नापने,
झुलस रही शांति लता-सत्य शून्य था बना,
पुण्य भाव लग गए थे थर-थरा के कांपने

वेदज्ञान सूर्य को उठा के तब बढ़ा ऋषि,
पाप-ताप खंड-खंड होगए, चला ऋषि,
'सत्य किरण रश्मि' से अधर्म, कांपने लगा
पंथ वाद मत पुराण भूमि मापने लगा।

एकता के गीत सब मिल के गा सकें यहां,
सुख-दुखों को बांट के स्वर्ग ला सकें यहाँ,
भेद भावना जला, सब मनुष्य बन सकें,
मनुष्य बन के प्रेम से इस धरा पे रह सकें,

इस लिए जगा रही हमें यह बोध रात्रि है।
क्रान्ति साधना करो पुकारती यह रात्रि है॥

—भारतेन्द्र

उत्तरार्द्ध की रचना क्यों ?

—आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री

महर्षि दयानन्द सरस्वती सत्यार्थ प्रकाश के दश समुल्लासों में वैदिक धर्म और मंतव्य भूतसिद्धान्तों पर अपनी व्याख्या दी है। सिद्धान्तों का वर्णन 'स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' में किया है। यहाँ एक प्रश्न सहजतया उठाया जाता है कि फिर उत्तरार्ध की रचना उन्होंने क्यों की ? इसका उत्तर उनकी उत्तरार्ध की अनुभूमिका में दिया गया है जो संक्षेप में निम्न दृष्टिकोण और हेतुओं को प्रस्फुट करता है:—

१—पांच सहस्र वर्ष से पूर्व वेदमत से भिन्न कोई दूसरा मत नहीं था।

२—वेदोक्त सब बातें विद्या से अविरुद्ध हैं।

३—वेद के अप्रचार से ये मत फैले।

४—पुराणी जैनी किरानी और कुरानी वेद विरुद्ध मत हैं और अन्य सब वेद विरुद्ध मतों के मूल हैं।

५—सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना तब हो सकता है जब सत्य का निर्णय कर लिया जावे। और सत्यासत्य का निर्णय करना मनुष्य जन्म का उद्देश्य है।

६—लुप्त हुए विज्ञान का मिलना दुर्लभ है।

७—मतमतान्तर के विवाद से जगत् में जो-जो अनिष्ट फैले हुए हैं व विद्वज्जनों को परिज्ञात हैं।

इन उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुये यह समाधान पूर्वोक्त प्रश्न का हुआ कि सत्य के निर्णय के लिये मानव का जीवन है और उस निर्णय के अनन्तर वह सत्य को ग्रहण करे तथा असत्य को छोड़े और सत्य वह है जो कि विद्या के विरुद्ध नहीं है और वेदोक्त सभी बातें इस कोटि में आने के कारण निश्चित सत्य हैं। अतः इस सत्य के स्वरूप को प्रकट करने के लिए यह आवश्यक है कि वेद विरुद्ध और विद्या विरुद्ध मतों का निराकरण किया जावे क्योंकि ऐसा करने से धर्म विज्ञान लुप्त नहीं होता है और मततान्तर के विवाद से

संसार में जो अनिष्ट जो फैलता है उसका अवरोध हो जाता है। ऐसे वेद विरुद्ध और विद्या विरुद्ध मतों के उपर्युक्त चार मत हैं अत: उनका खण्डन कर अन्त में स्वमन्त व्यामन्तव्य प्रकाश में वेदोक्त, और विद्या से अविरुद्ध सत्य की स्थापना की।

महर्षि ने इसी भावना को लेकर उत्तरार्ध की रचना की—किसी का कार्य विरोध करने के लिए नहीं। वैदिक सिद्धान्तों को प्रकट करने में पारिमार्जन तब होता है जब उनका पक्ष और प्रतिपक्ष रूप में विचार किया जावे। अत: इस स्पष्टीकरण के लिए उत्तरार्ध का लिखा जाना परमावश्यक ही था। बिना उसके लिखे सत्यार्थ प्रकाश का उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता था। सत्य और असत्य दोनों के निर्णय करने में सत्य का प्रकाश करते हुये असत्य का अप्रकाश प्रकारान्तर से होता ही है। अत: इन अनद्यभूत मतों पर विचार करना सत्य के निचारने के लिए आवश्यक था।

जब महाभारत से पूर्व यह निश्चित है कि वेद के अतिरिक्त कोई मत नहीं था तो यह आवश्यक हो जाता है कि इन नवीन मतों का जो महाभारत के बाद फैले हैं और वेद काल की सी अवस्था को संसार में लाने में बाधक हैं, उसका निराकरण किया जावे। काल की दृष्टि से भी ये मत नवीन हैं। सत्य की दृष्टि से भी ये ग्राह्य नहीं हैं। संसार के कल्याण की दृष्टि से भी ये उचित नहीं अतः जगत् के कल्याण को चाहने वाले ऋषि का यह कर्तव्य था कि इस कठिन कार्य को वह स्वयं अपने हाथ में ले और सम्पन्न करे।

इसके अतिरिक्त मानव में एक. शक्ति कार्य करती है जो सत्य को सदा बिखराना चाहती है। इस शक्ति को ही 'ऊहशक्ति' कहा जाता है। 'ऊह' का ही उद्भूत धर्म तर्क है। यह तर्क मानव को पशु जगत् से भिन्न रखता है। मनोविज्ञान के अनुसार मानव और पशु में रक्षण, भक्षण की समानता है। परन्तु रक्षण गुण केवल मानव हैं—पशु में नहीं। महर्षि ने इस शक्ति को प्रकट करने के लिए निम्न प्रकारों को उपस्थित किया है—

परीक्षा पांच प्रकार से होती है। १—जो ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और वेदों के अनुकूल हो वह सत्य और उससे विरुद्ध असत्य है। २—जो सृष्टि क्रम से अनुकूल वह सत्य और जो सृष्टि क्रम से विरुद्ध है वह असत्य, ३—'आप्त, अर्थात् जो धार्मिक विद्वान सत्यवादी निष्कपटियों का संग

उपदेश के अनुकूल है। वह ग्राह्य और जो विरुद्ध वह अग्राह्य है। ४—चौथी अपनी आत्मा की पवित्रता विद्या की अनुकूलता प्रतिकूलता निर्णय करना है। ५—पाँचवी परीक्षा आठों प्रमाणों द्वारा होती है।

इन्हीं आधारों पर उत्तरार्ध में दिये गये मतों की परीक्षा की गई है।

इस प्रक्रिया से जहाँ मतों की परीक्षा करके असत्य का निराकरण किया गया है वहां कुछ ऐसे मौलिक सिद्धान्त भी स्थापित किए गए हैं। जो सदा आर्यों की प्रेरणा के स्रोत रहे हैं।

१—इतिहास को विदेशी मान्यताओं से शुद्ध करना पड़ेगा।

क—महाभारत हमारे पतन का इतिहास है।

ख—इसीलिए राजवंशावली ११ वें समुल्लास के अन्त में दी गई है।

ग—मूर्तिपूजा जैनियों से चली।

ङ—व्यास ने वेदों को नहीं बनाया।

घ—हमारे देश में अनेक चक्रवर्ती राजे हो चुके हैं।

च—पुराणों की रचना व्यास ने ही की—इनके कोई भी प्रमाणभूत सामग्री नहीं है।

दर्शन सम्बन्धी बातें:—

२—(क) न जड़ाद्वैतवाद (Materialistic Monrism)

(ख) न चेतनाद्वेवाद(SPeritualistic Monism)

(ग) न क्षणिक एवं विज्ञानवाद

(घ) न बाह्यन्तर भोगवाद

(ङ) न शून्यवाद

(च) न सप्त भगीनयं और नास्तिक वाद—जगत् की पहेली को सुलझाने में समर्थ हैं।

धर्म सम्बन्धी:—

३—(क) अविद्या माया वा शैतान का अस्तित्व मानना

(ख) पुनर्जन्म को न स्वीकार करना

(ग) बिना उपादान कारण के जगत् की उत्पत्ति मानना

(घ) कुछ भौगोलिक आचार को ही धर्म मानना

(ङ) कर्मफल को न स्वीकार करना

(च) ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों को न मानना

(छ) संसार को भोग का साधन मानना और मोक्ष का साधन न मानना ईश्वरीय ज्ञान को किसी देश विदेश की भाषा में अवतरित होना स्वीकार करना और परमात्मा की प्राप्ति के लिए कोई एजेन्सी स्वीकार करना। आदि तर्क और विद्या तथा युक्ति के विरुद्ध हैं

० ०

विवरण आर्योदय के स्वामित्व का

फार्म IV

प्रकाशन स्थान......नई दिल्ली
प्रकाशन की अवधि......साप्ताहिक
मुद्रक का नाम......शिवकुमार शास्त्री
राष्ट्रीयता......भारतीयता
पता......१५ हनुमान रोड़ नई दिल्ली
प्रकाशक का नाम......शिवकुमार शास्त्री
राष्ट्रीयता......भारतीय
पता......१५ हनुमान रोड नई दिल्ली
सम्पादक का नाम......रघुवीरसिंह शास्त्री
राष्ट्रीयता......भारतीय
पता......सम्राट् प्रेस, पहाड़ी धीरज दिल्ली

एक प्रतिशत से अधिक भागीदारों के पते—आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब गुरुदत्त भवन जालंधर।

मैं घोषित करता हूँ कि उक्त सब विवरण सत्य है।

शिवकुमार शास्त्री
हस्ताक्षर प्रकाशक

ता० ६-२-६४

शिवरात्रि महिमा

महाबोध-शिवरात्रि का पर्व पावन, मनाते रहे हैं, मनाते रहेंगे।

इसी दिन चढ़ा देख शिवलिङ्ग चूहा,
हृदय में उठी भक्त के भावनाएँ।

नहीं कर सका जो कि रक्षा स्वयं की,
करे पूर्ण क्या विश्व की कामनाएँ?

इसी दिन जड़ें हिल गईं अज्ञता की,
इसी दिन बढ़ीं विज्ञता की लताएँ।

इसी दिन परब्रह्म की ज्योति-जागी,
इसी दिन मिली मुक्ति को मान्यतायें।

पड़े सो रहे जो कि सदियों से, उनको जगाते रहे हैं, जगाते रहेंगे।

इसी दिन खुले सुप्त दृग् मानवों के,
इसी दिन उठा प्रश्न 'शिव' कौन सा है?
इसी दिन प्रकृति पूजने की प्रथा पर—
गिरी गाज, पूछा 'अशिव' कौन सा है?

इसी दिन उठी कर्ण-कुहरों से प्रतिध्वनि,
नहीं उस नियन्ता की प्रतिमा कहीं पर।

अजर है, अमर है, अभय, सृष्टिकर्त्ता,
न ऐसी अलौकिक है महिमा कहीं पर।

अमर वेद की ये समुत्तम ऋचाएँ, सुनाते रहे हैं, सुनाते रहेंगे।

इसी दिन लिए ज्ञान-घट बुद्धि वधुएं,
चली तर्क के तोय में पुनि डुबाने।

इसी दिन गिरा मन्द-अभिमान का गढ़,
बढ़े, सत्य-विज्ञान का गीत गाने।

इसी दिन कुटिल दम्भ, दृढ़ रूढ़ियों की,
कड़क कर गिरी भूमि पर अर्गलाएँ।

इसी दिन मिटा अन्ध-विश्वास का तम,
इसी दिन उठी कर्म की कल-कलाएँ।

निराकार की एक सत्ता मनोरम, सिखाते रहे हैं, सिखाते रहेंगे।

—कुसुमाकर एम० ए०

एकादश समुल्लास के अनुसार

आर्यावर्त देशीय मत-मतान्तर समीक्षा

- विहंगावलोकन
- वाम-मार्ग
- शांकर-मत
- मूर्ति-पूजा
- श्राद्ध
- तीर्थ
- पुराण
- पोप-लीला
- ब्राह्म-समाज, प्रार्थना समाज
- इतिहास

● ● ●

युग प्रवर्त्तक ऋषि दयानन्द ने प्रथम दस समुल्लासों में वैदिक धर्म के अनुसार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम के कर्तव्याकर्तव्य का तथा राजनीति, ईश्वर वेद, मोक्ष और भक्ष्याभक्ष्य का वर्णन करने के पश्चात् यह आवश्यक समझा कि धर्म के नाम पर जो अधर्म और वेद के नाम पर जो अवैदिक मत-मतान्तर देश में फैले हुए हैं उनका खण्डन भी किया जाए।

पहले वैदिक मत का मंडन फिर अवैदिक मतों का खण्डन यही ऋषि की शैली हैं। मंडन जितना आवश्यक है खंडन उससे कम आवश्यक नहीं। किसी सुन्दर उद्यान के निर्माण के लिए उसमें सुन्दर वृक्षों का आरोपण जितना आवश्यक है जंगली घास फूस और कंटीली झाड़ियों का उच्छेदन भी उतना ही आवश्यक है।

इसी भावना से ऋषि ने ११ वें समुल्लास में उन सभी मतों का खण्डन किया है जो आस्तिक तो हैं किन्तु वेद विरुद्ध मान्यताओं के पोषक हैं।

ऋषि का उद्देश्य किसी के भी हृदय को चोट पहुँचाना नहीं, प्रत्युत सत्यासत्य का निर्णय कर जनता में नीर-क्षीर विवेक बुद्धि पैदा करना हैं।

एकादश समुल्लास में वर्णित प्रमुख विषयों पर विद्वानों के लेख आगे दिए जा रहे हैं। यद्यपि यह लेख ऋषि के लेख का स्थान नहीं ले सकते परन्तु लेखकों ने अपने ढंग से ऋषि के पद-चिन्हों पर चलते हुए उनके सफल मंतव्यों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। हमें आशा है कि इन के प्रकाश में ग्यारहवें समुल्लास का सत्यार्थ समझने में पाठकों को सुविधा होगी—

—सम्पादक

● ● ●

विहंगावलोकन !

श्री मदनमोहन विद्यासागर

युग प्रवर्त्तक ऋषि दयानन्द द्वारा निर्मित सत्यार्थप्रकाश पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भागों में विभक्त है। पूर्व के दश समुल्लास पूर्वार्द्ध और पीछे के चार समुल्लास उत्तरार्द्ध कहाते हैं। पूर्वार्द्ध में 'वेदमत' का स्थापन मण्डनात्मक प्रमाणों और युक्तियों से किया गया है और उत्तरार्द्ध में 'वेदमत' से भिन्न और उसके विरोधी, दोनों प्रकार के मत-मतान्तरों का निराकरण खण्डनात्मक प्रमाणों और युक्तियों से किया गया है।

साधारण तौर पर इसे यों कहा जाता है कि ऋषि ने पूर्वार्द्ध में स्वमत-मण्डन और उत्तरार्द्ध में 'परमत-खण्डन' किया है अर्थात् पहले दशसमुल्लास 'मण्डनात्मक' और पिछले चार समुल्लास 'खण्डनात्मक' हैं। इसका इतना ही भाव है कि पूर्वार्द्ध का उद्देश्य 'सत्य वेदधर्म' के सिद्धान्तों के स्वरूप का मुख्य रूप से प्रतिपादन है। इसलिये यत्र-तत्र यदि किसी बात के खण्डन की आवश्यकता पड़ी, तो ऋषि ने वहीं उसका खण्डन भी साथ-साथ कर दिया है। प्रथम समुल्लास में उदाहरणार्थ सृष्टिकर्त्ता ईश्वर के मुख्य नाम ओंकार के अर्थों का दिग्दर्शन और अन्य सौ नामों की व्याख्या बताई है। साथ ही 'ब्रह्मा विष्णु महादेव' इन तीन नामों में 'देवता विशेषों' का तथा अग्नि, वायु आदि शब्दों से, प्रसिद्ध, आग, हवा अर्थों का ही सदा ग्रहण करना चाहिये, इसका खण्डन कर

दिया है। ऐसे ही मंगलार्थक 'ओ३म्' और 'अथ' के विधान का अनुमोदन करते हुए, जो आधुनिक ग्रन्थों में पाये जाने वाले "श्री गणेशाय नमः" 'नारायणाय नमः' आदि मंगलाचरणों को वहीं मिथ्या बतलाया है; क्योंकि वेद और ऋषियों के ग्रन्थों में कहीं ऐसा मंगलाचरण देखने में नहीं आता और आर्ष ग्रन्थों में 'ओ३म्' तथा 'अथ' शब्द से ही मंगलाचरण देखने में आता है।

इसी प्रकार उत्तरार्द्ध में वेदविरोधी मतमतान्तरों का खण्डन करते समय जहाँ आवश्यकता पड़ी वहाँ स्वमत का स्पष्ट स्थापन भी कर दिया है। उदाहरणार्थ एकादश समुल्लास में 'तीर्थ' और 'नाम स्मरण' का विषय है। ऋषि ने काशी आदि तीर्थों के माहात्म्य का खण्डन किया है और फिर सच्चे तीर्थों का सत् स्वरूप बताया है। वहाँ लिखा है कि "वेदादि सत्य शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, धार्मिक विद्वानों का संग, परोपकार, धर्मानुष्ठान, योगाभ्यास, सत्याचरण, ब्रह्मचर्य, आचार्य-अतिथि-माता-पिता की सेवा, ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना, उपासना, शान्ति, जितेन्द्रियता, धर्मयुक्त पुरुषार्थ, ज्ञान-विज्ञान आदि शुभ कर्म दुःखों से तारने वाले होने से 'तीर्थ' हैं। जो स्थान विशेष जल या स्थलमय हैं, वे तीर्थ कभी नहीं हो सकते।" ऐसे ही नाम स्मरण का विषय है। अवैदिक नामों और उनकी अवैदिक नाम स्मरण की पद्धति का खण्डन करके वहीं वेदोक्त नाम स्मरण की रीति बतला दी है कि "जैसे 'न्यायकारी', यह ईश्वर का एक नाम है, जिसका अर्थ है न्याय करने वाला। जैसे परमात्मा पक्षपात-रहित होकर सबका यथावत् न्याय करता है, वैसे उसको ग्रहण करके सबसे न्याययुक्त व्यवहार सर्वदा करना, अन्याय कभी न करना। इस प्रकार परमेश्वर के नामों का अर्थ जानकर परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल अपने गुण, कर्म, स्वभाव करते जाना ही परमेश्वर का नाम स्मरण है।"

इस प्रकार ज्ञात होता है कि स्वमत स्थापक पूर्वार्द्ध में भी यत्र-तत्र 'खण्डन' है और परमतोन्मूलक उत्तरार्द्ध में यत्र तत्र "मण्डन" है।

मण्डन-खण्डन का प्रयोजन

'वेदमत' के स्थापन=पुनरुद्धार=मण्डन का "मुख्य प्रयोजन सत्य २ अर्थ का प्रकाश करना है अर्थात् जो सत्य है, उसको सत्य और जो मिथ्या है, उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना।........जो पदार्थ मत, सिद्धान्त) जैसा

है, उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है।.........मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य (मतों, सिद्धान्तों, विषयों) का जानने वाला है। तथापि अपने प्रयोजन (=स्वार्थ) की सिद्धि (के निमित्त) दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है।"......"इस ग्रन्थ में ऐसी बात नहीं रक्खी है और न किसी का मन दुखाना वा किसी की हानि" करना इसका तात्पर्य है। इसका प्रयोजन यही है कि—जिससे मनुष्य जाति की उन्नति और उपकार हो, सत्यासत्य को (सब) मनुष्य जानकर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें।'[१].........ऐसी बातों को चित्त में धर कर ऋषि ने "सत्यार्थप्रकाश" को रचा है।

पूर्वार्द्ध के दस समुल्लासों में "विशेष खण्डन-मण्डन" (अर्थात् तर्क-वितर्क) इसलिये नहीं लिखा है कि जब तक मनुष्य सत्यासत्य के विचार में कुछ भी सामर्थ्य नहीं बढ़ाते, तब तक स्थूल और सूक्ष्म खण्डनों (=गहरी निषेधात्मक समालोचना) के अभिप्राय को नहीं समझ सकते। इसलिये प्रथम (पूर्वार्द्ध में) सबको सत्य-शिक्षा का उपदेश (अर्थात् वेदमत का मण्डन) करके उत्तरार्द्ध के चार समुल्लासों में विशेष खण्डन"[१] किया गया है। "परन्तु सामान्य करके कहीं २ दश समुल्लासों में भी कुछ थोड़ा सा खण्डन-मण्डन किया है।"[१] इन चारों में से प्रथम (अर्थात् एकादश) समुल्लास में आर्यावर्त्तीय मतमतान्तर, दूसरे (१२वें) में जैनियों के, तीसरे (१३वें) में ईसाइयों और चौथे (१४वें) में मुसलमानों के मतमतान्तरों के खण्डन-मण्डन के विषय में" लिखा गया है।" "और पश्चात् चौदहवें समुल्लास के अन्त में स्वमत भी दिखलाया"[१] गया है।

"पाँच सहस्र वर्षों के पूर्व वेदमत से भिन्न दूसरा कोई भी मत (संसार में) न था।".........वेदों की अप्रवृत्ति होने से.........मनुष्यों की बुद्धि भ्रमयुक्त होकर जिसके मन में जैसा आया, वैसा मत चलाया। उन सब मतों में...........वेद विरुद्ध पुरानी, जैनी (+बौद्ध) किरानी और कुरानी सब

---

१. सत्यार्थ प्रकाश उत्तरार्द्ध भूमिका।

मतों के मूल हैं। वे क्रम से एक के पीछे दूसरा, तीसरा, चौथा चला है।...... इनमें से जो पुराणादि ग्रन्थों से शाखा-शाखान्तर रूप मत आर्यावर्त्त देश में चले हैं, उनका संक्षेप से गुण-दोष ११वें समुल्लास में दिखाया" १ गया है।

ऋषि दयानन्द ने—जो-जो सब मतों में सत्य-सत्य बातें हैं,......(वेद-अविरुद्ध होने से) उनका स्वीकार करके, जो-जो मत-मतान्तरों में मिथ्या बातें हैं, उनका खण्डन किया है।"२

ऋषि दयानन्द ने आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न होकर भी, इस देश के मत-मतान्तरों की झूठी बातों का निर्भय हो, पक्षपातशून्य हृदय से, यथातथ्य प्रकाश किया; वैसे ही दूसरे देशस्थ व मतावलम्बियों के मत-मतान्तरों के पाखण्ड की पोल खोली। और जैसे स्वदेश वालों की सर्वविध उन्नति के विषय में प्रयत्न किया, वैसे ही विदेशियों के साथ भी।

समालोचना या खण्डन

आजकल 'समन्वयवाद' नाम का बड़ा प्रचार है। 'खण्डन' शब्द कुछ बदनाम है। ऋषि दयानन्द के सब पाखण्डमतों के खण्डन से आजकल के नेता और विचारक घबराते हैं। वे कहते हैं कि 'खण्डन' करके ऋषि दयानन्द ने अच्छा नहीं किया।

सत्य यह है कि 'खण्डन' के अर्थ और उसके प्रयोजन को इन सब लोगों ने ठीक नहीं समझा। वे कहते हैं कि एक को दूसरे की 'समालोचना करने' का हक तो है, पर 'खण्डन का नहीं।' इनके मन में अंग्रेजी के दो शब्द चक्कर काटते रहते हैं; एक है 'क्रिटिसिज्म' और दूसरा है 'कण्डेमेशन'। पहले का अर्थ है किसी सिद्धान्त या मत या वाद की समालोचना करना और दूसरे का भाव है उसकी दूषणा करना या उसका खण्डन करना।

भारत में दार्शनिक सम्प्रदायों में खण्डन-मण्डन हमेशा चलता रहा है। यहाँ खण्डन करने में दो भाव निहित हैं। यदि कोई सिद्धान्त दोषयुक्त या बुद्धिविरुद्ध है, तो पहला काम है कि हम उसका अच्छी तरह 'विवेचन' करें

१. सत्यार्थ प्रकाश उत्तरार्द्ध, भूमिका ११वाँ समुल्लास
२. सत्यार्थ प्रकाश भूमिका

और फिर जब उसके दोषों का ज्ञान हो जावे, तो उसका 'निराकरण' करदें। एक सिद्धान्त का विवेचन अर्थात् उसके गुणदोषों की सम्यग् परिशीलना और तदनन्तर सदोष एवं हानिकर पाये जाने पर उस सिद्धान्त का निराकरण या निषेध। इस सारी प्रक्रिया का नाम खण्डन है। क्योंकि यह 'परमत' है, इस लिये स्वीकार्य नहीं, सो इसका 'खण्डन' हो, यह अर्थ खण्डन का नहीं। यही कारण है कि ऋषि ने जिस निर्भयता एवं पक्षपातरहित बुद्धि से विदेशस्थ मतों का खण्डन किया है, उतनी ही निर्भयता एवं पक्षपातशून्य बुद्धि से स्वदेशस्थ पाखण्ड मतों का खण्डन भी किया है।

इसी प्रकार मण्डन का उद्देश्य है। उसमें विवेचन के बाद यदि वह दोष-रहित एवं सर्वजनहितकारी है, तो उसका ग्रहण करना चाहिए। मण्डन तभी पूरा होगा, जब कि वह विवेचनापूर्वक हो। ऋषि दयानन्द ने 'वेदमत' का मण्डन इसलिये नहीं किया कि यह स्वदेशस्थ मत है। तीन सहस्र ग्रन्थों तथा इन चारों मतों के मूल ग्रन्थ देखने से जैसा उन्हें बोध हुआ, वैसा पक्षपातरहित मन से निश्चय कर सबके उपकार की भावना से और सबको परस्पर सत्या-सत्य के विचार करने में अधिक परिश्रम न हो, इसलिये "सत्यार्थप्रकाश" ग्रन्थ द्वारा वेदमत की पुन: स्थापना की।

एकादश समुल्लास : सार

उत्तरार्द्ध के भी दो भाग किये जा सकते हैं। प्रथम के दो अर्थात् ग्यारहवां और बारहवां समुल्लास आर्यावर्त्त में उत्पन्न हुए मत-मतान्तरों के वेद-विरुद्ध सिद्धान्तों के खण्डन में हैं; तथा पिछले दो अर्थात् तेरहवाँ और चौदहवाँ समु-ल्लास भारतेतर देशों में प्रसिद्ध ईसाई और मुसलमानी मतों के समालोचनात्मक खण्डन में हैं।

इनमें भी जो ग्यारहवाँ समुल्लास है, वह विशेष महत्व रखता है। इसका सार यों है:—

१. पांच सहस्र वर्षों से पूर्व वेदमत से भिन्न दूसरा कोई मत भूमण्डल पर नहीं था।

२. सृष्टि से लेकर पांच सहस्र वर्षों से पूर्व समय पर्यन्त आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य भूमण्डल पर था अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि एकमात्र राज्य था।

३. महाभारत युद्ध के कारण सर्वत्र 'वेदों की अप्रवृत्ति' हो गई। इनकी अप्रवृत्ति से भूगोल में अविद्यान्धकार छा गया। जिससे मनुष्यों की बुद्धि भ्रमयुक्त होकर जिसके मन में जैसा आया उसने वैसा मत चला दिया।

४. इनमें से जो पुराणादि ग्रन्थों से शाखा-शाखान्तर रूप मत आर्यावर्त्त देश में चले हैं, उनमें मुख्य रूप से चार्वाक और वाममार्गी हैं। ये नास्तिक मत हैं।

५. इनके बाद शैव, वैष्णव आदि मतों ने अपना जाल फैलाया। ये सब आस्तिक मत हैं। परन्तु इन मतों में वेदोक्त ईश्वर का सच्चा स्वरूप बदल गया और भिन्न २ देवों को अपना इष्टदेव माना जाने लगा। वेद के स्थान पर पुराणों का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। ईश्वर पूजा की जगह गुरुपूजा, अष्टांग-योग व पंचमहायज्ञों के स्थान पर नाम-स्मरण, तीर्थ-माहात्म्य चल पड़े।

६. इसी समय जैन (+बौद्ध) मत चल पड़ा। जैनियों ने मूर्तिपूजा चलाई। शैव और वैष्णवादि मत यद्यपि सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर को मानते थे, तथापि उनके प्रचार के साथ २ नास्तिक मत का प्रचार भी जोर पर था। नास्तिकता के प्रचार को जैन मत के कारण बहुत प्राबल्य मिला।

७. उस समय शैव वैष्णव मतवालों ने जैनों के प्रभाव से जन साधारण को बचाने के लिये स्वयं भी नाना देवों की मूर्तियों की स्थापना की और बड़े २ मन्दिर बनवाये और अपना पाखण्ड-जाल फैलाया, पर वे नास्तिकों का मुकाबला न कर सके।

८. इस नास्तिक मत का खण्डन करके द्रविड़ देशोत्पन्न श्री शंकराचार्य ने केवल ब्रह्मवाद अर्थात् अद्वैतवाद का प्रचार किया। नास्तिकों का नारा था—

यावज्जीवेत्सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

शंकर का नारा था—

ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः

९. शंकराचार्य ने अपने प्रबल तर्क से नास्तिक बौद्धमत का उन्मूलन कर दिया। 'जैन' और 'चार्वाक' मत यद्यपि नास्तिक मत हैं,तथापि क्योंकि ये मूर्ति-पूजा के प्रसार के कारण जनसामान्य के हृदय में गड़ गये थे, परिणामतः श्री

शंकराचार्य इन मतों को उखाड़ न सके। मूर्तिपूजा और वाममार्ग दोनों अद्वैत-वाद के साथ २ चलने लगे। अद्वैतवादियों ने मूर्तिपूजा को स्वीकार कर लिया और वाममार्ग हठयोग का परिष्कृत नाम धारण कर पनपता रहा।

१०. इसके साथ २ पुराणों का जोर बढ़ने लगा। श्री शंकर ने निस्सन्देह 'वेदमत-स्थापन' का प्रयत्न किया, परन्तु अपने आन्दोलन का आधार 'उप-निषद्, गीता और वेदान्त दर्शन रक्खा। भारत देश में 'धर्म की व्यवस्था और 'आचरण' के लिये श्रुति व स्मृति प्रमाण थे। 'ऋग्, यजुः, साम, अथर्व' का विरोध चार्वाक और जैन बौद्ध कर रहे थे, सो श्री शंकर ने उन्हें छोड़, उसके स्थान पर 'उपनिषद्' को अपना प्रमाण बनाया। स्मृतियों व पुराणों में वर्णित धर्म के स्वरूप और ब्राह्मण नामधारियों के माहात्म्य से भी प्रजा को विरोध था, सो श्री शंकर ने स्मृति के स्थान पर गीता को ले लिया। विचार-प्रणाली के लिए षड् दर्शनों में से वेदान्त को ले लिया और इस प्रस्थानत्रयी पर अद्वैतवाद=केवल ब्रह्मवाद, का झण्डा खड़ा किया। परिणामतः प्रजा में वेदों की अप्रवृत्ति कुछ बढ़ गई। और भारत अन्धन्तम में प्रवेश कर गया। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि शंकराचार्य के आन्दोलन के परिणामस्वरूप भारत में वेदों के प्रति उपेक्षा बढ़ी, वेदों का प्रचलन कम हो गया। इसी-लिये उनके पश्चाद्वर्त्ती श्री रामानुजाचार्य, श्री मध्व आदि ने भी प्रस्थान त्रयी को ही अपने आन्दोलन का आधार बनाया।

११. नाना मतमतान्तर चल पड़े। मतवादियों ने नाना ग्रन्थ बनाये। गुसाईं मत, रामसनेही आदि मत इसी की उपज हैं।

१२. इसी समय इस्लाम का प्रवेश आर्यावर्त्त में हुआ। इस्लाम ने भारत की 'हर बात' का विरोध किया। उस समय 'गुरुनानक' ने हिन्दू मत की रक्षा का प्रयत्न किया। क्योंकि वे पढ़े-लिखे नहीं थे, परिणामतः श्री शंकर की तरह किन्हीं संस्कृत ग्रन्थों को अपना आधार न बना सके और दादू, कबीर आदि साधुसन्त फकीरों की अपौलिग वाणियों के द्वारा स्वमत-रक्षण में तत्पर हो गये। उनका एक पृथक् 'सिख मत' बन गया। एक पृथक् 'गुरुग्रन्थ' चल पड़ा।

१३. उधर सौराष्ट्र-गुजरात की ओर सहजानन्द ने वैष्णवमत एवं वैष्णव आचार को लेकर अपना ही एक नया सम्प्रदाय "नारायणमत" नाम से

प्रारम्भ कर दिया। इसी प्रकार राजपूताने में "रामसनेही" मत का प्रारम्भ हुआ।

१४. १७ वीं शताब्दी में विदेशी योरोपीय जातियों का प्रभुत्व भारत में बढ़ने लगा। उन्होंने ईसायत को प्रश्रय दिया, अंग्रेजी भाषा के द्वारा पाश्चात्य विचारों का प्रभाव बढ़ने लगा। परिणामतः सभी पर नया रंग चढ़ने लगा। इस प्रभाव से पर्याप्त प्रभावित श्री राजाराम मोहनराय ने बंगदेश में "ब्राह्म समाज" की स्थापना की और भारत देश में नये प्रकार के 'नामरूप' वाले मत व सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। बम्बई में "प्रार्थना समाज" भी ऐसे ही चला।

१५. महाभारत से श्री शंकराचाय तक, यद्यपि धीरे २ वेदों में अप्रवृत्ति रही, परन्तु फिर भी वेद और उसका धर्म ही आर्य जाति के प्रेरक रहे। उधर विदेशों में वेदमत का लोप होता रहा। श्री शंकराचार्य से लेकर इस्लाम के आने तक, भारत में 'वेदमत' का नाम रह गया और उसके स्थान पर उपनिषद्, गीता और दर्शनों का प्रभाव बढ़ गया। इस्लाम के प्रवेश से ऋषि दयानन्द के प्रादुर्भाव तक, इस बीच के समय में वेद और वैदिक आचारों का प्रायः लोप हो गया, केवल नाम रह गया। इतना ही नहीं, वेद का नाम ले-लेकर मतमतान्तर अलग २ राग अलापने लगे। ऐसे समय ऋषि दयानन्द का जन्म हुआ।

१६. उन्होंने इन सब मतमतान्तरों का खण्डन किया और फिर वेद-व्यास महर्षि की तरह वेदों का पुनरुद्धार किया। आर्यावर्त्तीय पाखण्ड मतों का खण्डन कर, इस देश में पुनः 'वेदमत' का मण्डन किया।

उपसंहार

वेदों का प्रादुर्भाव सृष्टि के आदि में मानव की उत्पत्ति के साथ-साथ हुआ। मानव उत्पत्ति हिमालय के समुन्नत प्रदेश में हुई। इसलिये वेदों का धर्म भी आर्यावर्त्त प्रदेश में जैसे तैसे चलता रहा, वेद सृष्टिकर्त्ता परमात्मा की प्रेरणा से सर्गादि में अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा इन चार ऋषियों के हृदय में अवतरित हुए। इनके आधार पर भारत के 'जीवन' की व्यवस्था हुई। इसके

तीन आधार स्तम्भ हैं, ईश्वरीय ज्ञान वेद, वेदानुमोदित ईश्वर की पूजा और वेद प्रतिपादित 'धर्म'।

काल क्रम से तीनों के सम्बन्ध में मतिभ्रम हो गया। वेदों के स्थान पर पुराणादि ग्रन्थ चले, ईश्वर की पूजा से स्थान पर नाना देवी-देवों की पूजा चली और वह भी बुद्धि विरुद्ध तरीके मूर्तिपूजा के रूप में तथा धर्म के स्थान पर तीर्थ माहात्म्य, श्राद्ध, पशुबलि, पंचमकार सेवा, पंचायतन सेवा, भस्मलेपन, कण्ठी रुद्राक्ष माला आदि।

एकादश समुल्लास में जिन मतमतान्तरों का खण्डन किया गया है, उनके खण्डित सिद्धान्तों=निराकृतवादों=परित्याज्य मतों को इन तीनों के अन्तर्गत कर सकते हैं। इनमें 'वेदों' के स्थान पर अनार्ष ग्रन्थों पर विशेष जोर दिया गया है। इनमें ईश्वर के निराकार सच्चे रूप के स्थान पर साकार रूप की पूजा का विधान है। इनमें अष्टांग योग एवं मनुप्रतिपादित दशलक्षण धर्म के स्थान पर हठयोग, झूठे तप, तीर्थ, नामस्मरण, गुरुपूजा, आदि को धर्म बताया है।

ऋषि दयानन्द ने इन सबका युक्तियुक्त खण्डन करते हुए सोते आर्यावर्त्त वासियों को जगाया और कहा—

"यह आर्यावर्त्त देश ऐसा है, जिसके सदृश भूगोल में कोई दूसरा देश नहीं। इसका नाम सुवर्ण भूमि है। सृष्टि के आदि में (तुम्हारे पूर्वज) आर्य लोग इसी देश में आकर बसे।............

"सृष्टि से लेकर पाँच सहस्र वर्षों से पूर्व समय पर्यन्त (इन) आर्यों का ......भूगोल में सर्वोपरि एकमात्र राज्य था।......स्वायम्भव राजा से लेकर पाण्डव पर्यन्त आर्यों का (यह) चक्रवर्ती राज्य रहा।

"यह निश्चय है कि जितनी विद्या और मत भूगोल में फैले हैं, वे सब (इस) आर्यावर्त्त देश से ही प्रचरित हुए हैं।"........."जितनी विद्या भूगोल में फैली है, वह सब (इस) आर्यावर्त्त देश से मिश्र वालों, उनसे यूनानी, उनसे रोम और उनसे यूरोप देश में, उनसे अमरीका आदि देश में फैली है।" "जैसी पूरी विद्या (पवित्र भाषा) संस्कृत में है, वैसी (अंग्रेजी आदि) किसी भी भाषा में नहीं।"........(और) अब तक जितना प्रचार संस्कृत विद्या का आर्यावर्त्त देश में है, उतना अन्य किसी देश में नहीं।"—"परन्तु ऐसे शिरोमणि

देश को महाभारत के युद्ध ने ऐसा धक्का दिया कि अब तक (१९वीं शताब्दी तक) भी यह अपनी पूर्वदशा में नहीं आया।

"वेदों की अप्रवृत्ति होने से ही नाना मतमतान्तर और पाखण्ड मत चल पड़े हैं।......पोपों अर्थात् छल-कपट से दूसरों को ठग कर अपना प्रयोजन साधने वालों ने झूठे-झूठे वचन युक्त ग्रन्थ बनाकर उनमें ऋषि मुनियों के नाम धर के उन्हीं के नाम से यह सब वेदविरुद्ध पाखण्ड लीला चलाई है।...जैनियों ने भी वेद का अर्थ न जानकर पोपलीला फैलाई, मूर्तिपूजा चलाई और वेदों की निंदा की; वेदों के पठन-पाठन, यज्ञोपवीतादि ब्रह्मचर्यादि नियमों का नाश किया; जहाँ जितने पुस्तक वेदादि के पाये नष्ट किए। आर्यों (वेदमतावलम्बियों) पर बहुत सी राजसत्ता भी चलाई, दुःख दिया।

"ऐसा तीन सौ वर्ष पर्यन्त आर्यावर्त्त में जैनों का राज्य रहा। (आर्यावर्त्तवासी) प्राय: वेदार्थ ज्ञान से शून्य हो गये। इस बात को अनुमान से (आज २० वीं सदी से) अढ़ाई सहस्र वर्ष व्यतीत हुए होंगे।"

"तब से आर्यावर्त्त देश की जो दशा बिगड़ी, वह सुधरी नहीं।"

"जो बाल्यावस्था में एक सी शिक्षा हो, सत्यभाषणादि धर्म का ग्रहण और मिथ्याभाषणादि अधर्म का त्याग करें, तो एकमत अवश्य हो जाय।...जब सब विद्वान् एक सा उपदेश करें, तो एकमत होने में कुछ भी विलम्ब न हो।"—"यही......सब विद्वानों और संन्यासियों का काम है कि सब मनुष्यों को सत्य (वेदमत) का मण्डन, असत्य (वेदविरुद्ध चार्वाक, शैव. वैष्णव, गुंसाई, कबीरपन्थ, सिक्खमत, प्रार्थना समाज, ब्राह्मसमाज, आदि २) का खण्डन पढ़ा-सुना के सत्योपदेश से (सब संसार को) उपकार पहुँचाना चाहिये।"

देखो! तुम्हारे सामने अब इस बीसवीं सदी में भी पाखण्ड मत बढ़ते जाते हैं। अब भी ईसाई मुसलमान तक होते जाते हैं। तनिक भी तुम (भारतीय आर्यों) से अपने घर की दशा और दूसरों को अपने मत में मिलाना नहीं बन सकता।............

"इसलिये जो उन्नति करना चाहो, तो आर्य समाज के साथ मिलकर उस के उद्देश्यानुसार आचरण करो। जैसा आर्यसमाज देश की उन्नति का कारण है, वैसा दूसरा नहीं हो सकता।

वाममार्ग का उद्भव, स्वरूप और विकास

श्री क्षितीश वेदालङ्कार

o o o

वाममार्ग का उद्भव जिन तन्त्रग्रन्थों से हुआ उनके पठन-पाठन की परम्परा अब प्रायः विद्वानों में भी नहीं रही। उसके कारण अनेक हो सकते हैं, किन्तु उनके बिना वाममार्ग के स्वरूप पर उचित प्रकाश भी नहीं पड़ सकता। स्वाध्यायशील लेखक ने इस दुरूह विषय पर अद्भुत रूप से प्रकाश डाला है जिस से अनेक गुत्थियाँ सुलझती दृष्टिगोचर होंगी। —सम्पादक

o o o

सांख्यदर्शन का सूत्र है—उपदेश्योपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः। इतरथान्धपरम्परा।। [अ० ३। सूत्र ७९।] अर्थात् जब उत्तम उपदेशक होते हैं तब उनके उपदेश से जनता में धर्म और सदाचार के मूल्यों की यथावत् स्थापना रहती है और लोग धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों की सिद्धि की ओर, बिना एक दूसरे का अतिक्रमण किए अग्रसर रहते हैं, किन्तु जब उत्तम उपदेशक या उनके उपदेश पर आचरण करने वाले नहीं रहते तब जनता में अन्ध परम्परा चल पड़ती है। जो जिसके जी में आए करने लग जाता है और वह अपने आचरण को ही प्रमाण मान कर उसे धर्मानुमोदित सिद्ध करने में ही अपनी बुद्धि का प्रयोग करने लगता है।

कालक्रम से जब वेदों का पठन-पाठन लुप्त हो गया, स्वाध्याय के प्रति ब्राह्मणों की रुचि नहीं रही, तब वे स्वयं भी विद्या-विहीन हो गए और उनके

यजमान भी। पहले ब्राह्मण अपनी विद्या और धर्माचरण के कारण जनता में पूजित थे, किन्तु जब ये दोनों बातें उनके जीवन में न रहीं तब ब्राह्मणकुल में जन्म के कारण ही वे अपने आपको श्रेष्ठ सिद्ध करने लगे। अपने आपको 'भूसुर' बताकर उन्होंने निज को पूजार्ह करार दिया और जातिवाद को प्रश्रय दिया। स्त्री, शूद्र तथा अन्य निम्नवर्ग के लोगों को उन्होंने विद्या का अनधिकारी घोषित किया। गुरु की महत्ता सिद्ध कर गुरु की सेवा को ही मोक्ष का परम साधन बताया। वेदों के नाम पर उन्होंने यज्ञों में पशुहिंसा आदि नितरां अवैदिक काम प्रारम्भ कर दिए। अपने आपको सब प्रकार के धर्म, कर्म से ऊपर बताकर मद्य मांसादि का स्वच्छन्द सेवन प्रारम्भ कर दिया और प्राचीन ग्रन्थों में मद्य-माँस-समर्थक श्लोक प्रक्षिप्त कर दिए एवं स्वयं भी ऐसे अनेक नए ग्रन्थ लिखे जिनमें इनके सेवन को सदोष तो माना ही नहीं गया, प्रत्युत इनके सेवन को धर्म का अंग बताया गया। धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ी कि वेदों की दृष्टि में जो अनाचार और अधर्म था वही आचार और धर्म बन गया। उन्होंने 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' अर्थात् ब्राह्मण अवध्य है—इस बात की घोषणा करके अपने अनाचार के लिये अपने को दण्ड से भी मुक्त कर लिया। उन्होंने राजाओं को निश्चय करा दिया कि ब्राह्मण चाहे जो करे, उसे दण्ड देने की बात कभी मन में नहीं लानी चाहिए। (नेपाल के कानून में ब्राह्मण अभी तक अवध्य है।) उनका यथेष्टाचार बढ़ चला। उन्होंने दूसरों के लिए इतने कठोर नियम बनाए कि पुरोहित, गुरु या ब्राह्मण की आज्ञा के बिना यजमान अपना नित्य कर्म भी नहीं कर सकता था। वे अपने चरणों की और अपनी पूजा कराने लगे और लोगों को बताने लगे कि इसी में तुम्हारा कल्याण है। प्रमाद और विषयासक्ति में निमग्न होकर उन्होंने भेड़चाल की तरह गुरु-शिष्य परम्परा चलाई। धीरे-धीरे राष्ट्र में से बल, विद्या, बुद्धि और पराक्रम के शुभ गुण नष्ट होते गए।

आरम्भ काल !

यद्यपि यह प्रवृत्ति महाभारत काल से कुछ पूर्व ही देश में प्रारम्भ हो गई थी, किन्तु महाभारत के पश्चात्, खास कर महात्मा बुद्ध के पश्चात्, तो यह प्रवृत्ति बाढ़ की तरह बढ़ चली। उसी युग में श्राद्ध, मूर्तिपूजा, यज्ञों में पशुहिंसा और

मूर्तियों पर बलि, अनेक देवता, अपने इष्ट देवता के नाम से अलग सम्प्रदाय, प्राचीन ग्रन्थों में मिलावट, आगम-निगम-संहिता और तंत्र ग्रन्थों की रचना एवं अष्टादश पुराणों का निर्माण हुआ। बौद्धधर्म के विभिन्न 'यान' नामक सम्प्रदायों (जिनमें ये चार मुख्य थे-हीनयान, महायान, वज्रयान और सहजयान) और हिन्दुओं के वैष्णव, शैव, शाक्त आदि सम्प्रदायों के सम्मिश्रण से उस युग में एक नए मत का प्रचलन हुआ, जिसे वाममार्ग या वामाचार नाम दिया गया।

महात्मा बुद्ध अब से लगभग ढाईसहस्र वर्ष पूर्व पैदा हुए थे। बौद्धमत कभी इस देश में इतना लोकप्रिय हुआ था कि राजा और प्रजा इसी के अनुयायी बनने में गौरव अनुभव करते थे। बौद्धों में अपने नए मत के प्रचार के लिए 'मिशनरी स्प्रिट' भी कमाल की थी। बौद्ध भिक्षुओं ने अपनी इसी मिशनरी भावना के बल पर बौद्ध मत का प्रचार भारत के बाहर के देशों म भी किया था। जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया, बालि, बोर्निया, स्याम और हिन्देशिया आदि पूर्वी एशिया के देशों में तथा ईरान, अफगानिस्तान, लंका, तिब्बत, चीन और जापान आदि अन्य एशियाई देशों तक ये बौद्ध भिक्षु बुद्ध का 'चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजन-हिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय' आदेश मस्तक से लगाकर गए, हिमाच्छादित पर्वतों को लांघकर और अगाध जलराशि से युक्त समुद्रों के तूफानों की विभीषिकाओं को झेलते हुये उन्होंने शारीरिक कष्टों की बिना परवाह किए अपने मत का प्रचार किया। भारतीय संस्कृति के प्रसार की दृष्टि से वह युग भारत के इतिहास का स्वर्ण युग कहा जा सकता है।

परन्तु धीरे-धीरे बौद्ध धर्म का वह क्रान्तिकारी रूप लुप्त हो गया। बुद्ध के एक सहस्र वर्ष पश्चात् नाना सम्प्रदायों में विभक्त होकर बौद्ध मत इतना जीर्ण-शीर्ण, व्यामिश्रित और अनाचार-प्रधान हो गया कि बुद्ध ने जिस आचार पर सर्वाधिक बल दिया था वही आचार उसमें कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता था। हिन्दुओं में भी उस समय जो नाना सम्प्रदाय उभरे वे बौद्धों की उसी अनाचार, प्रधानता से प्रभावित थे। परवर्ती बौद्ध धर्म और विभिन्न तांत्रिक मतों में आचार और दर्शन की इतनी अधिक समानता है कि उनमें भेदक रेखा खींचना कठिन है। जिस देश में बौद्ध धर्म ने जन्म लिया उसी देश में वह नामशेष हो गया—इतिहास की इस अघटनीय घटना की व्याख्या भी यही है कि जब हिन्दू

तांत्रिक मतों में और बौद्ध सम्प्रदायों में कोई भेद न रहा, तब बौद्धों के अलग अस्तित्व की भी आवश्यकता न रही। वास्तव में कहना चाहिए कि दोनों ही समान रूप से अनाचार के समुद्र में डूब गए। वर्तमान में जो तथाकथित विशाल हिन्दू समाज का पारावार है, वह वही अनाचार का समुद्र है, जिसमें हिन्दू और बौद्ध तांत्रिकों की मनमानी रुढ़ियों की कुनदियाँ आकर गिरती हैं। इसी अनाचार के समुद्र को ऋषि दयानन्द ने आचार के पारावार में परिवर्तित करने के लिए आर्य समाज को जन्म दिया था।

महाभारत में तंत्र ग्रन्थों को धार्मिक ग्रन्थों के रूप में कहीं स्मरण नहीं किया गया। अलबत्ता पुराणों में उनकी चर्चा है। इससे भी पुराणों के साथ उनकी समकालीनता और महाभारत से अर्वाचीनता सिद्ध होती है। इतना ही नहीं, बुद्ध के लगभग १,००० वर्ष पश्चात् भी पुराणों का या तन्त्र-ग्रन्थों का कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु उसके बाद के एक हजार साल में तो जैसे इनका ही बोलबाला बना रहा और १२ वीं सदी तक वे ही सर्वत्र छाए रहे।

अश्लील मूर्तियां क्यों ?

जगन्नाथपुरी, भुवनेश्वर, खजुराहो और द्वारिकापुरी आदि मन्दिरों की दीवारों पर जितनी अश्लील मूर्तियाँ पाई जाती हैं उनका औचित्य सिद्ध करने के लिये बताया जाता है कि मन्दिर पर बिजली न गिरे, इसलिए ये अश्लील मूर्तियाँ बनाई गई हैं, क्योंकि विद्युतकुमारी कन्या है, वह इन मिथुन मूर्तियों को देखकर संकोच के कारण इनकी तरफ आंख नहीं उठाएगी। किन्तु उसी काल के बने नेपाल के बौद्ध मन्दिरों में ये अश्लील मूर्तियाँ नहीं हैं, प्रत्युत दीवारों पर सर्वत्र ध्यान मग्न बुद्ध की मूर्तियाँ हैं। जब एक पौराणिक पण्डित से मैंने अपनी नेपाल-यात्रा में इस विपर्यास का कारण पूछा, तब उसने कुछ गर्व के साथ कहा कि "हिन्दुओं के मन्दिरों में अश्लील मूर्तियाँ यह दिखाने के लिए हैं कि हिन्दू साधक इस प्रकार की कामोत्तेजक मूर्तियों से भी विचलित नहीं होता और मन्दिर में जाकर अपने इष्ट देवता की आराधना में लीन हो जाता है, इस प्रकार वह बौद्ध साधक से श्रेष्ठ है। बौद्धों स हिन्दुओं की साधना की श्रेष्ठता बताने के लिए ही अश्लील मूर्तियाँ बनाई

गई हैं।" परन्तु वस्तु स्थिति भिन्न है। आज के युग में, उन मूर्तियों का औचित्य यूरोप की सी नग्न कलाप्रियता के नाम पर किया जाए तो किया जाय, धर्म के नाम पर कदापि नहीं किया जा सकता। वास्तविकता यह है कि इस प्रकार के जितने भी मन्दिर हैं उनमें से एक हजार साल से अधिक पुराना एक भी नहीं है। ये सब मूर्तियां उस युग की देन हैं जब अश्लीलता धर्म का अंग मानी जाती थी। वह वाममार्ग का युग था। वाममार्ग के उस युग में ही मूर्तियों की षोडशोपचार पूजा, देवदासियों की प्रथा, अवतारवाद, राधा और कृष्ण की प्रेमलीला, अष्टधा भक्ति, नाम संकीर्तन आदि की अवैदिक और पौराणिक कल्पनाओं का विकास हुआ, उनको धर्म का अंग माना गया और आज भी पौराणिक धर्म में उन्हीं का प्राबल्य है।

वाममार्ग नाम क्यों

वाममार्ग को वाम मार्ग इसलिये तो कहा ही गया कि वह उल्टा रास्ता था, किन्तु उसे वाममार्ग या वामाचार इसलिए भी कहा गया कि इसमें वामा अर्थात् स्त्री का महत्त्व था। इसमें स्त्री को शक्ति का प्रतीक माना गया। शक्ति अर्थात् आद्याशक्ति, आद्याशक्ति अर्थात् जगज्जनन्नी। 'शक्ति' केवल वैयाकरण की दृष्टि से ही स्त्रीलिंगी नहीं है, किन्तु उसमें मानव मन की यह अनुभूति भी समाविष्ट है कि जैसे माता के पेट से शिशु जन्म लेता है, उसी प्रकार समस्त सृष्टि का अभ्युदय जगज्जननी के पेट से होता है। उस शक्ति को समस्त देवताओं का आराध्या माना गया। उसी शक्ति में जगत रचयिता ब्रह्मा का, जगत्पालयिता विष्णु का और जगत्-संहर्ता महाकाल का आवास माना गया। वह शक्ति ही जगत्-कारिका, जगत् पालयित्री और महाकाल की स्वामिनी—उसके शव पर नृत्य करने वाली—सब देवताओं की अधिष्ठात्री मानी गई। एक ओर उमा, पार्वती, काली, दुर्गा, चण्डी और दूसरी ओर लक्ष्मी और राधा को उसी शक्ति का प्रतिरूप समझा गया। इतना ही नहीं, स्त्रीमात्र को उस शक्ति का प्रतिरूप मान कर उसकी पूजा का विधान किया गया। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से स्त्रीमात्र में मातृ-बुद्धि करने से मानव मन में उदात्त भावनाओं की सृष्टि हो सकती थी, किन्तु उसके साथ जो पंच मकार की साधना रखी गई उसके कारण व्यवहार में वह मन की निम्नतम वृत्तियों को ही उद्बुद्ध करने में चरितार्थ हुई।

तांत्रिक मतों का उदय

तांत्रिक मत को वाममार्ग का पर्यायवाची समझना चाहिए। जिन ग्रन्थों में पार्वती शिष्य बनकर प्रश्न करती हैं और महादेव या भैरव गुरु बनकर प्रश्नों के उत्तर देते हैं, वे आगम कहलाते हैं। जिन ग्रन्थों में महादेव शिष्य बनकर प्रश्न करते हैं और पार्वती गुरु बनकर उत्तर देती है, वे निगम कहलाते हैं। शैवों के इन आगम और निगमों की संख्या सैंकड़ों में है। यद्यपि तंत्रों में शैवों के आगम और निगम दोनों शामिल किये जाते हैं, किन्तु खास-तौर से शाक्तों के धर्मग्रन्थ ही तन्त्र शब्द से अभिहित हाते हैं। इस तरह शाक्त मत का अध्ययन करने से ही वाममार्ग का असली स्वरूप सामने आ सकता है। परन्तु ये तंत्र ग्रन्थ संख्या में विपुल होने पर भी अधिकांश अप्रकाशित हैं। बहुत से तंत्र ग्रन्थ नेपाल और तिब्बत में ही प्राप्य हैं। (स्व० श्री राहुल सांकृत्यायन मूल या अनूदित रूप में काफी तंत्र ग्रन्थों का तिब्बत से उद्धार करके लाए थे। वे भी अभी तक अप्रकाशित हैं और पटना म्यूजियम में सुरक्षित हैं।) इन मतों के अनुयायी अपने ग्रन्थ किसी अन्य मतावलम्बी को तो दिखाते ही नहीं, किन्तु अपने मतावलम्बी को भी तब तक नहीं दिखाते जब तक इनके गुह्य समाज के दीक्षित चक्र में शामिल होकर वह अपनी दृढ़ अनुरक्ति सिद्ध नहीं कर देता। 'गुह्यसमाज तंत्र' में तो यहाँ तक लिखा है कि यदि कोई अनधिकारी व्यक्ति उस ग्रन्थ का दर्शन करले तो दर्शन करने वाला और दर्शन करवाने वाला दोनों नरक में जाते हैं। अपनी इस गुह्यता को बनाए रखने के लिए ही लोग अपने मन्दिर पर्वत-शिखरों पर या सघन वनों में बनाते हैं ताकि इनके दीक्षित-चक्र की साधना निर्विघ्न रूप से चलती रहे। कहीं-कहीं ये मन्दिर भूगर्भ में या गुफाओं में मिलते हैं। मन्दिरों में अन्धकाराच्छन्न गर्भगृहों की व्यवस्था भी कदाचित् इसी कारण की गई थी। इस प्रकार के अनाचार को देखकर कुपित होने वाले जन-सामान्य के कोप की आशंका से बचने के लिये भी ये अपने साधना-केन्द्र ऐसे स्थानों पर रखते हैं जहाँ दिन में तो अन्य लोग भले ही पहुँच जाएँ, किन्तु रात में कोई पहुँचने का साहस नहीं करता। (उदाहरण के लिए गोहाटी के कामाख्या मन्दिर और जम्मू के वैष्णवदेवी तीर्थ का नाम लिया जा सकता है।)

कुछ तंत्रो में तंत्र संख्या ६४ बताई जाती है। कहीं-कहीं ऐसा भी उल्लेख है कि विश्व के तीन विभिन्न भागों में ६४, ६४ तंत्र मिलते हैं। किन्तु हस्त-लिखित प्रतियों के रूप में भी उपलब्ध तंत्रों की संख्या इससे कहीं अधिक है। ऐसा प्रतीत होता है कि तंत्रों की मूलभूमि बंगाल रही है। वहीं से असम, नेफा, नेपाल में और फिर उससे भी परे तिब्बत और चीन में बौद्ध धर्म के माध्यम से उनका प्रचार हुआ है। सामान्यतः तंत्रों की रचना शिव पार्वती के संवाद के रूप में ही हुई है। शाक्त मत की उदात्त और निम्न वृत्तियाँ आज के बंगाल में भी देखी जा सकती हैं। जिस धूम धाम से दुर्गा पूजा वहाँ मनाई जाती है, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं। शाक्त मत का उत्कृष्ट रूप रामकृष्ण मिशन के रूप में प्रस्फुरित हुआ और निकृष्ट रूप आज भी काली के मन्दिर में बकरों की बलि चढ़ाने की परम्परा में दृष्टिगोचर होता है। अद्वैत का उपासक रामकृष्ण मिशन भी शाक्तमत की ही देन है, यह बात कदाचित् कुछ लोगों को अटपटी प्रतीत हो, परन्तु हम यहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन कर रहे हैं। यद्यपि रामकृष्ण मिशन का अद्वैत इस समय शांकर अद्वैत से प्रभावित है, परन्तु रामकृष्ण परमहंस की आध्यात्मिक प्रेरणा का स्रोत जगज्जननी के रूप में प्रतिष्ठित शाक्तों का शक्ति तत्व ही है, यह निर्विवाद है। एक दृष्टि से तांत्रिक लोग भी अद्वैत के उपासक है—इसका विवेचन हम आगे करेंगे जब वाममार्ग के दार्शनिक पक्ष पर विचार का प्रसंग आएगा।

पांच मकार

वाममार्गियों ने जिन पांच मकारों को सृष्टि का नियामक तत्व स्वीकार करके उनकी आराधना को चरम लक्ष्य माना है वे पांच मकार ये हैं:(१) मद्य, (२) मांस, (३) मीन, (४) मुद्रा, और (५) मैथुन। मद्य ऐसी परमौषधि मानी गई है, जो व्यक्ति को संसारिक सुख-दुख से परे पहुंचा देती है। मांस से अभिप्राय है ग्राम्य, वायव्य तथा वन्य पशुओं का मांस जिसे बल का स्रोत माना गया है। मीन अर्थात् मछली जिसे स्वादु तथा बुद्धिवर्धक और वीर्यवर्धक माना गया है। मुद्रा का अर्थ है भुना हुआ या पकाया हुआ या तला हुआ अन्न—जैसे मुरमुरे (बंगाल और बिहार में जिसे 'लाई'

कहते हैं), पूरी-कचौरी, बड़े-पकौड़ी या मिष्टान्न। हाथों से की जाने वाली विभिन्न मुद्राओं की ओर भी मुद्रा शब्द का संकेत है। ह्रीं, क्लीं, फट् आदि बीज क्षरी मंत्रों का जाप करते हुए जो तरह तरह की हस्तमुद्राएं की जाती हैं—वे इस शब्द से अभिप्रेत है। परवर्ती नृत्यशास्त्र का विकास भी मुद्रा के आधार पर ही हुआ है। आधुनिक भारत में प्रचलित कथकली और भरत-नाट्यम आदि नृत्यशैलियों में हस्तमुद्रा और मुखमुद्रा के इस विकास का अध्ययन किया जा सकता है।

मुद्रा का अर्थ

परन्तु वाममार्गियोंके विधान में मुद्रा शब्द का एक विशेष अभिप्राय भी है जो अन्य किसी शास्त्र द्वारा समझ में नहीं आ सकता। मुद्रा का अर्थ है पात्राधार या स्त्रीन्द्रिय योनि, या वह योगिनी साधिका स्त्री जिसके विना तांत्रिक साधक दीक्षितचक्र में प्रवेश नहीं पा सकता। किसी भी तांत्रिक के लिए गुरु के पास दीक्षार्थ जाने से पूर्व यह आवश्यक है कि वह अपने साथ एक साधिका को भी अवश्य ले जाए--फिर वह चाहे उसकी पत्नी हो, या कन्या हो, या अन्य कोई भी स्त्री हो। वह स्त्री ही मुद्रा है। वज्रयानी उसे वज्रकन्या या वज्रधारिणी कहते हैं। शिष्य और शिष्या के रूप में साधक और साधिका पहले गुरु की सेवा करके उसे प्रसन्न करते हैं, जब गुरु प्रसन्न हो जाता है, तब वह इन दोनों का 'अभिषेक' करता है। अभिषेक यहां पारिभाषिक शब्द है। यह अभिषेक भी कई प्रकार का होता है। सामान्यतया इस अभिषेक का अर्थ वीर्य-सिंचन समझा जा सकता है। इस अभिषेक के बाद ही शिष्य और शिष्या दीक्षितचक्र में शामिल समझे जाते हैं। (साधक साधिका की इस सदैव अनिवार्यता की झलक रवि बाबू की इस कविता-पंक्ति में भी दिखाई देती है: "न हूँगा न हूंगा मैं तापस, यदि न मिली तपस्विनी।")

मैथुन का अर्थ है भैरव और भैरवी का—शिव और पार्वती का—स्त्री और पुरुष का—संभोग, क्योंकि दीक्षितचक्र में उपस्थित सब स्त्रीपुरुष 'अहं भैरवस्त्वं भैरवी ह्यावयोरस्तु संगमः' की प्रतिज्ञा को चरितार्थ करने के लिए ही उपस्थित होते हैं? प्रत्येक पुरुष भैरव माना जाता है और प्रत्येक स्त्री भैरवी।

इस मैथुन को जीवन के परमानन्द का स्रोत माना जाता है। प्रकृति और पुरुष के संयोग को कभी 'ब्रह्मानन्द सहोदर' गया था, किन्तु तांत्रिकों ने उस उपमा के काव्यत्व को भूलकर आध्यात्मिक अनूभूति को भी विशुद्ध भौतिक धरातल पर उतार लिया और अपने कामाचार को खुली छूट देने के लिए मैथुन को ही परमानन्द की संज्ञा दे डाली। इन पंच मकारों को काली तंत्र में "एते पंच मकारा: स्यु: मोक्षदा हि युगे युगे" कह कर प्रत्येक युग में मोक्ष का परम साधन बताया गया।

चाहे कोई पुरुष हो और कोई स्त्री हो, वाममार्गी उनके समागम में दोष नहीं मानते। कुलार्णवतंत्र में तो डंके की चोट कहा गया है कि "मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत्सर्वयोनिषु"-अर्थात् अपनी माता को छोड़कर शेष स्त्रियों से समागम किया जा सकता है। और तो और, शास्त्रों में रजस्वला आदि के स्पर्श का निषेध किया, है किंतु वाममार्गियों ने उनको भी अति पवित्र माना है। उनके एक अंड-कण्ड श्लोक में कहा गया है कि रजस्वला के साथ समागम पुष्करतीर्थ में स्नान के समान, चाण्डाली से समागम काशीयात्रा के समान, चमारी से समागम प्रयाग-स्नान के समान, रजक-दुहिता से समागम यथुरा-यात्रा के समान और कंजरी के साथ काम-क्रीड़ा अयोध्यावास के समान है। अन्य लोगों से अपनी परिभाषाओं को गुप्त रखने के लिए इन लोगों ने मद्य का नाम रखा 'तीर्थ', मांस का नाम रखा 'शुद्धि' या 'पुष्प' (मांसाहारी पंजाबियों में मांस को 'परसादा' या 'प्रसाद' कहने की प्रथा के साथ इसकी तुलना करिए), मीन का नाम रखा 'ततीया' या'जलतुरम्बिका' (बंगाल में मछली को 'जलतुरई' कहने का आम रिवाज है), मुद्रा का नाम रखा 'चतुर्थी' और मैथुन का नाम रखा 'पंचमी'। जो लोग वामाचार को नहीं मानते उन्हें ये लोग 'कण्टक' 'विमुख' या 'शुष्कपशु' आदि शब्दों से सम्बोधित करते हैं। ये मानते हैं कि भैरवीचक्र में उपस्थित ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल पर्यन्त लोग द्विज होते हैं और भैरवी-चक्र से अलग हो जाने पर सब अपने अपने वर्ण में पहुँच जाते हैं।

भैरवीचक्र में वाममार्गी लोग भूमि पर या लकड़ी के पट्टे पर एक बिन्दु, या त्रिकोण, या चतुष्कोण या वृत्त बनाकर उस पर शराब से भरा घड़ा रखते हैं और उसकी पूजा करते हैं। (बिन्दु या त्रिकोण के पीछे भी उनकी तथाकथित

फिलासफी है)। पूजा करते हुए वे मंत्र पढ़ते हैं—'ब्रह्मशापं विमोचय'—हे मद्य, तू ब्रह्मा के शाप से रहित हो। निर्दिष्ट गुप्त स्थान पर सब स्त्री-पुरुष इकट्ठे होते हैं, वाममार्गियों से इतर वहां कोई नहीं जा सकता। वहां एक स्त्री को नंगी करके पुरुष उसकी योनि की पूजा करते हैं और स्त्रियां किसी पुरुष को नंगा कर उसके शिश्न की पूजा करती हैं। पुनः एक पात्र में मद्य भरकर और थाली में मांस के वड़े रखकर आचार्य के सामने ले जाते हैं। आचार्य 'भैरवोऽहम्' 'शिवोऽहम्' कह कर पात्र में से मद्य पीता है और बड़े खाता है, फिर उसी भूठे पात्र में से सब लोग बारी बारी से मद्य पीते हैं और मांस खाते हैं। जब मद्य के नशे में माता-भगिनी आदि का वियेक लुप्त हो जाता तब कोई भी पुरुष और कोई भी स्त्री परस्पर कुकर्म में लिप्त हो जाते हैं।

आधुनिक-भैरवी-चक्र

कुछ मास पूर्व ब्रिटेन में डा० वार्ड और कुमारी कीलर के जिस काण्ड की चर्चा अखबारों में हुई थी और जिस काण्ड ने एक बार तो ब्रिटिश मंत्रिमन्डल को भी डावांडोल कर दिया था, उस काण्ड का विवरण पढ़ने से वाममार्गियों के भैरवीचक्र की सही तस्वीर सामने आ सकती है: शहर से दूर लार्ड एस्टर की विशाल किलानुमा जागीर—उसमें निर्मल जल से भरा तालाब—उस तालाब में तैरती हुई नग्न सुन्दरियां और उनके साथ तैरते हुए विभिन्न मन्त्री, लार्ड और अन्य भद्र जन (जिनमें पाकिस्तान के राष्ट्रपति जनरल अयूब खां का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है)—फिर शानदार डिनर—उसमें शराब परोसती नग्न युवतियां और युवक—फिर कीलर का नग्नावस्था में मद्य-स्नान, फिर कीलर को कपड़े पहनाने के इच्छुक व्यक्तियों की भीड़ में से किसी एक पुरुष का चुनाव—फिर जिस मद्य से कीलर ने स्नान किया उसका सबमें वितरण और उस मद्य की लूट-खसोट—और फिर सबका स्वैराचार:—यह सब आधुनिक भैरवी-चक्र नहीं तो और क्या है?

उड्डीस तंत्र के अनुसार मद्यपान का एक आदर्श प्रयोग इस प्रकार है: घर में चारों ओर आले बने हों और हरेक आले में एक-एक बोतल शराब रखी

हो। साधक एक आले वाली बोतल पीकर फिर दूसरे आले की ओर जाए, दूसरी बोतल खाली कर तीसरे आले की ओर, फिर चौथे आले की ओर, और इस प्रकार खड़ा-खड़ा तब तक मद्य पीता रहे जब तक लकड़ी के तख्ते के के समान भूमि पर न गिर पड़े। जब नशा उतरे तो फिर उसी प्रकार पीना जारी रखे जब तक गिर न पड़े। जो इस प्रकार पीते-पीते तीसरी बार भूमि पर गिर पड़े उसका पुनर्जन्म नहीं होता —वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। सच तो यह है कि ऐसे मनुष्य को दुबारा मनुष्य योनि मिलने की कोई सम्भावना नहीं, वह मलमूत्र की किसी गन्दी नाली का कुत्सित कीड़ा ही अगले जन्म में बन सकता है, मनुष्य नहीं।

भैरवी चक्र में उपस्थित ये भैरव-भैरवी कभी-कभी अधिक नशे में लड़ भी पड़ते हैं —इनमें परस्पर लतियाव, जूतमपैजार, केशाकेशी और मुक्का-मुक्की और धर-पटक हो जाती है। किसी-किसी को वहीं कै भी हो जाती है। उनमें जो सबसे बड़ा सिद्ध माना जाता है, वह प्रायः पहुँचा हुआ अघोरी होता है और वह कै को भी खा जाता है। उसे विष्ठ-भक्षण और मूत्रपान तक न परहेज नहीं होता। इनमें सन्त शिरोमणि, सदाशिव और सबसे बड़ा जो सिद्ध माना जाता है उसका लक्षण यों किया गया है: "हालां पिबति दीक्षितस्य मन्दिरे सुप्तो निशायां गणिकागृहेषु। विराजते कौलव चक्रवर्ती।" इनकी परिभाषा में 'कौल' शब्द का अर्थ है सन्त—उसी को ये कुलीन और अच्छे कुल में पैदा हुआ मानते है जो उनके वाममार्ग से दीक्षित होकर सिद्धावस्था तक पहुँच जाए। उन कौलों में चक्रवर्ती अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है वह व्यक्ति जो लोक लज्जा, शास्त्र-लज्जा और कुल लज्जा को तिलांजलि देकर कलार के घर जाकर खूब शराब पीवे, वारांगनाओं के यहाँ जाकर निश्शंक होकर कुकर्म करे और रातभर वहीं सोवे। अर्थात् उनके यहाँ जो जितना कुकर्मी हो वहाँ वह उतना ही सिद्ध माना जाता है।

ऐतिहासिक पक्ष

भारतीय इतिहास में महात्मा बुद्ध का काल ऐसा सुनिश्चित है कि उसके बारे में आज तक कभी किसी विद्वान् ने विप्रतिपत्ति उपस्थित नहीं की। महात्मा बुद्ध का जन्म ५३५ ई० पू० में और उनकी मृत्यु ४८६

ई० पू० में हुई। जब तक महात्मा बुद्ध जीवित रहे, तब तक शास्ता के स्वयं विद्यमान रहने के कारण जब किसी विषय में शंका होती तो शिष्य गण शास्ता की सेवा में उपस्थित होकर उन शंकाओं का निवारण कर लेते। परन्तु बुद्ध के उपदेश कभी भी लिखे नहीं गए, इसलिए उनके महापरिनिर्वाण के पश्चात् बुद्ध के मन्तव्यों के विषय में सन्देह पैदा होने लगे। सन्देह से विवाद बढ़ा और उस विवाद के उपशमन के लिए उनके शिष्यों ने समय-समय पर पांच संगीतियाँ (गायन, संरक्षण, उद्धरण और आवृत्ति की सभाएँ) आयोजित कीं। प्रथम संगीति में तो केवल बुद्ध के वचनों का ही संग्रह किया गया। किन्तु बाद में नवीन विचार तथा मतभेद पैदा हुए और वे मतभेद संगीतियों में भी वादविवाद के रूप में उभर कर सामने आने लगे। पीछे तो यह परम्परा बन गई कि कोई भी विचार बौद्ध समाज में तब तक मान्यता प्राप्त नहीं करता था जब तक वह किसी संगीति में मान्य न हो जाए। प्रथम संगीति बुद्ध के अवसान के कुछ सप्ताह पश्चात् ही बुलानी पड़ी, जिसमें ५०० शिष्य उपस्थित हुए। फिर जब विनय और नैतिक नियमों का खुल्लम खुल्ला विरोध प्रारम्भ हो गया तब सौ वर्ष के अन्दर-अन्दर दूसरी संगीति बुलानी पड़ी जिसमें दस सहस्र भिक्षु सम्मिलित हुए। इसी समय बौद्ध धर्म दो सम्प्रदायों में विभाजित हो गया-एक महासांघिक और दूसरा स्थविरवादी। बुद्ध के उपदेशों में जो किसी भी प्रकार के परिवर्तन के विरोधी थे वे स्थविरवादी और जो परिवर्तन के पक्षपाती थे वे अधिक संख्या में होने कारण महासांघिक कहलाए। यही अपरिवर्तनवादी आगे जाकर हीनयान और परिवर्तनवादी महायान में रूपान्तरित हो गए। हीनयान आडम्बर के विरुद्ध था और धर्म की शुद्धता का पक्षपाती था, परन्तु महायान आडम्बर और समयानुसार परिवर्तन का पक्षपाती था। दोनों शब्दों के अर्थ से ही यह बात ध्वनित होती है—हीनयान अर्थात् छोटी सवारी अर्थात् निराडम्बर उपासना; महायान अर्थात् बड़ी सवारी अर्थात् विपुल आडम्बर के साथ शोभायात्रा निकालना, बड़े-बड़े मन्दिर और विशाल विहार तथा चैत्य बनवाना। बौद्धों का महायान ही मन्दिर और मूर्ति-प्रधान पौराणिक हिन्दूधर्म का पूर्व रूप है।

मूर्ति पूजा का श्री गणेश

बुद्ध की सबसे पहली मूर्ति कदाचित्- यूनानियों के सम्पर्क से गान्धार देश के लोगों ने बनाई थी। आज भी बुद्ध की प्राचीनतम मूर्तियां अफगानिस्तान और ईरान में ही पाई जाती हैं। अफगानों और ईरानियों ने बुद्ध को अपनी भाषा में 'बुत' कहा। यही बुत शब्द मूर्ति का पर्यायवाची है। बौद्धों की देखादेखी पीछे हिन्दुओं ने भी अपने अवतारों की कल्पना करके उनकी मूर्तियां और मन्दिर बनाने प्रारम्भ कर दिए। इस काल के पूर्व कहीं भी मन्दिर या मूर्ति का वर्णन नहीं मिलता। यह ईसवी सन् के आरम्भ की और कनिष्क के कालकी बात है। कुषाण-सम्राट् कनिष्क बौद्धराजा था जिसका आधिपत्य ईरान और अफगानिस्तान तक फैला हुआ था।

तीसरी संगीति अशोक के समय २५१ ई० पू० में पाटलिपुत्र में बुलाई गई थी। सारनाथ और सांची की स्तम्भलिपियों से ज्ञातहोता है कि अनाचार-परायण भिक्षुओं को अशोक ने श्वेत वस्त्र पहनाकर निकाल देने का आदेश दिया था। ये सब हीनयान-विरोधी थे। इन निष्कासित भिक्षुओं ने राजगृह और नालन्दा के पास ही अपना अड्डा जमाया और बाद में नालन्दा विश्वविद्यालय इनका प्रमुख केन्द्र बना। पहले महासांघिक, फिर महायानी और उसके बाद वज्रयानी ये सब बौद्ध धर्म के अवांछनीय लोग थे, परन्तु इनकी संख्या अनल्प थी और वर्चस्व प्रचुर, इसलिए धीरे-धीरे ये ही बौद्ध धर्म का प्रतिनिधित्व करने लगे और नालन्दा विश्वविद्यालयके माध्यम से उन्होंने अपने मतको दृढ़ दार्शनिक भित्ति प्रदान कर अपने विद्वानों द्वारा अपने मत का प्रचार किया। तिब्बत में बौद्ध धर्म के महायानी और वज्रयानी रूप का प्रचार करने वाले दीपंकर श्रीज्ञान और स्मृतिज्ञान कीर्ति इसी विश्वविद्यालय के आचार्य थे। दीपंकर श्रीज्ञान को ही तिब्बती लोग 'अतिशा' के नाम से पूजते हैं।

ईसवी सन् के आरम्भ में, कनिष्क के समय तक (७८ ई०) आते आते महायान धर्म ने कला में बुद्ध के चरण, बोधिवृक्ष, रिक्त आसन और छत्र आदि के स्थान पर इनकी मूर्तियों को प्रश्रय दिया। महायान का पूर्ण प्रकाशित रूप कनिष्क के समय ही सामने आया और उसके लगभग ५०० वर्ष बाद तो

वह पूर्ण प्रतिष्ठित हो गया। धीरे धीरे महायान की लोकप्रियता का असर हीनयान पर भी पड़ने लगा और वह भी उससे बिना प्रभावित हुए नहीं रह सका। हीनयान के अधिकांश ग्रन्थ पालि में हैं और महामान के ग्रन्थ मिश्र-संस्कृत में या शुद्ध संस्कृत में। महायान का मान्य ग्रन्थ है 'ललित विस्तर'। इस ग्रन्थ के नाम से ही प्रकट है कि इसमें 'बुद्ध की लीला का ललित और सविस्तर वर्णन' है। बुद्ध के जीवन को अलौकिक व्यक्ति की लीला के रूप में चित्रित किया गया है और बुद्ध के मुख को प्रभा मंडल से आलोकित बताया गया है। बाद में बुद्ध का यह अलौकिकत्व और मुख के चारों ओर का प्रभामंडल पौराणिक अवतारों में ज्यों का त्यों उतर आया। महायान के ग्रन्थों में कहा गया था कि जो लोग बुद्धमूर्ति या किसी प्रकार के स्तूप का निर्माण करते हैं, भित्तिचित्र खींचते हैं (जैसे अजन्ता और एलोरा में), स्तूपों पर पुष्पार्पण या सुगन्धि अर्पण करते हैं या उसके सामने गायन वादन करते हैं, या बुद्ध के प्रति अचानक भी आदर की भावना व्यक्त करते हैं, यहां तक कि जो बालक अनजाने या क्रीड़ा में भी बुद्ध के अंगों का आकार दीवार पर खींचते हैं, वे सब बोधि तक पहुंच जाते हैं। महायान की यह विचारधारा ही पौराणिक हिन्दू धर्म में भक्तिमार्ग की जननी है। महायानियों के साहित्य में जिस लोक में अभिताभ प्रतिष्ठित हैं उसे 'सुखावती व्यूह' नाम दिया गया है। इसी सुखावती व्यूह लोक के आधार पर पुराणों और तन्त्रों में स्वर्ग और नरक की कल्पना अधिक प्रगल्भ रूप में सामने आई हैं।

महायान पर भी हिन्दू साहित्य, धर्म, दर्शन और साधना का कम प्रभाव नहीं पड़ा। इसी कारण कुछ लोग महायान को हिन्दू बौद्ध धर्म या हिन्दूधर्म को बौद्ध महायान का रूपान्तर कहते हैं। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि महायान का मूल स्रोत श्रीमद्भगवद् गीता ही है। जो भी हो, यह निर्विवाद है कि हिंदू धर्म और बौद्धधर्म के परस्पर सम्मिश्रण के बाद ईसा की पहली सहस्राब्दी में जो भावधारा भारतीय जनमानस में बह रही थी वह इसी प्रकार की थी। बाद में जब औपनिषदिक और पातंजल योग की सहायक नदियां भी इस धारा में मिल गईं तब रहस्यात्मक साधनापद्धति का प्रचार हुआ। इसी रहस्यात्मक योगपद्धति ने आगे जाकर तांत्रिक शैव और शक्तिसाधना के प्रारम्भिक रूप का काम किया।

'परावृत्ति' शब्द का अर्थ

इसी महायन से बौद्धों के दो और परवर्ती सम्प्रदाय निकले जिनमें एक था वज्रयान और दूसरा सहजयान। तांत्रिक महायान धर्म का आदिप्रवर्तक कौन था, इस विषय में विवाद है। परन्तु महायान के 'सूत्रालंकार' ग्रन्थ में बुद्धत्व अर्थात् निर्वाण अर्थात् विश्व और विचार की एकात्मता(अद्वैत) अर्थात् तथता (बुद्ध को तथता प्राप्त करने के कारण ही 'तथागत' कहा जाता है)की प्राप्ति के लिए जो पाँच प्रकारकी परावृत्तियाँ बताई गई हैं (पंञ्चेन्द्रिय परावृत्ति,मानस सर्थोद्ग्रह परावृत्ति, विकल्प परावृत्ति, प्रतिष्ठा परावृत्ति और मैथुन परावृत्ति) उनमें 'परावृत्ति' शब्द के अर्थ पर भारी विवाद है। फ्रांस के प्रसिद्ध प्राच्यशास्त्री प्रो० एस० सिल्वाँ लेवी ने 'मैथुन परावृत्ति' का अर्थ किया है: 'केन्द्र के चतुर्दिक् परिभ्रमण' (Rvolution)। इस शब्द का सम्बन्ध बुद्धों और बोधिसत्त्वों के साधनात्मक रहस्यमय युग्मों से जोड़ा गया है। जापान के प्रसिद्ध विद्वान् डा० सुजुकि ने मैथुन परावृत्ति शब्द का अर्थ किया है: 'आत्मा की आकस्मिक जागृति या उत्पाद'। जर्मनी के विद्वान् प्राच्य-शास्त्री डा० विंटरनित्ज ने इसका सामान्य अर्थ किया है: 'मैथुन से विरति या विरोध' और विशेष अर्थ किया है: 'संसार सम्बन्धी सामान्य विचारणा से अलग रहने की वृत्ति।' परन्तु डा० प्रबोधचन्द्र बागची ने इसका "मैथुन से विराग' अर्थ न लेकर अर्थ किया है 'मैथुन जनित आनन्द के समान सुख का उपभोग।' यह औपम्य विधान औपनिषदिक साहित्य के 'ब्रह्मानन्द सहोदर' शब्द के समकक्ष जा पड़ता है। निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि परावृत्ति चित्त की वृत्तियों वा वह परिवर्तन है जिसमें साधक संसार के प्रति अपने सामान्य दृष्टिकोण को बदल देता है। पदार्थों को सस्व-भाव और संसार को माया मानना सामान्य दृष्टि है। इस सामान्य दृष्टि और व्यवहार से उलट कर पुनः चित्त के नैसर्गिक बिन्दु की ओर चित्त का आवर्तन ही परावृत्ति है। इसी परावृत्ति शब्द के कारण महायान में मैथुन और शक्ति-तत्त्व का प्रादुर्भाव समझा जाता है।

बौद्ध धर्म में तांत्रिकता का समावेश करने वाला आचार्य असग था या नागार्जुन, यह विवादास्पद है, किन्तु यह निश्चित है कि छठी शताब्दी तक

मंत्र, यंत्र, कुंडलिनी, मंडल, शक्तितत्त्व और पञ्चमकार आदि तांत्रिक बात महायान में सम्मिलित हो चुकी थीं और सातवीं शताब्दी तक व्रजयान के रूप में बाकायदा प्रतिष्ठित हो चुकी थीं।

महायान का काल ईसवी सन् के प्रारम्भ से छठी शताब्दी तक रहा और उसके बाद ७ वीं से १० वीं शताब्दी तक गुरु-शिष्य परम्परा के रूप में गुप्त रूप से वज्रयान प्रचलित रहा। उसके बाद बारहवीं शताब्दी तक सहजयान का बोलबाला रहा। छठी शताब्दी के बाद ही ८४ सिद्धों का समय आता है जिन्होंने अपने उपदेशों और रहस्यगीतों से तथा अपने शिष्यों की परम्परा द्वारा सहजिया मत का प्रचार किया। सिद्धों का समय ८वीं शताब्दी से १२ वीं शताब्दी तक माना जाता है। कुछ विद्वानों ने आदि सिद्ध सरहपाद (या सरहपा) को वज्रयानी साधना का आद्य आचार्य माना है।

८४ सिद्धों का युग

इन सिद्धों के नामों के अन्त में प्राय: पाद या नाथ शब्द जुड़ा होता है। बौद्ध तांत्रिकों से ही धीरे-धीरे नाथ सम्प्रदाय का जन्म हुआ। नाथ सम्प्रदाय के सिद्ध हिन्दू हैं और शेष सिद्ध प्राय: बौद्ध। इन ८४ सिद्धों में से कितने बौद्ध थे और कितने हिन्दू, यह निर्णय करना भी कठिन है। परन्तु भारतीय इतिहास में एक युग ऐसा रहा है (८वीं से १२वीं शताब्दी तक) जब इन सिद्धों का ही बोल-बाला था और धार्मिक क्षेत्र में इन्हीं की मान्यता थी। इन सिद्धों में यद्यपि कोई-कोई ब्राह्मण और क्षत्रिय भी थे। किन्तु अधिकांश लोग नीच वर्णों के थे और शिक्षित भी बहुत कम थे। वज्र-यानियों तक के ग्रंथ संस्कृत में लिखे गये हैं, किन्तु इन सहजयानी सिद्धों के ग्रंथ लोक-भाषा में लिखे गये हैं। लोक-भाषा का आश्रय लेने के कारण ही जन-सामान्य में इनके मत का प्रचार भी अधिक हुआ। समाज में इन सिद्धों की मान्यता का जहाँ तक प्रश्न है वह इसी से सिद्ध है कि अमर-कोष में इन्हें देवयोनि कहा गया है। सिद्धों का एक पर्यायवाची 'गुह्यक' भी है जो उनकी तंत्र साधना की गुह्यता का द्योतक है। महाकवि कालिदास के मेघदूत में सिद्धांगनाओं और सिद्धवधुओं का भी, किन्नरियों के साथ वर्णन आया है।

इन सिद्धों में सरहपा, लुईपा, कान्तपा, दारिपा, गोरखनाथ, मत्स्येन्द्र-नाथ, नागार्जुन और कृष्णमूर्ति आदि प्रसिद्ध हैं। सिद्धों ने वज्रयान द्वारा प्रतिपादित साधना को भी कठोर बता कर सहज साधना का प्रचार किया। ये ८४ सिद्ध ही वाममार्ग के असली आचार्य हैं। इनका कहना था कि वेदादि शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित धर्म का निर्वाह करना कठिन तो है ही, साथ ही कलियुग के लिए वह वर्जित भी है, इसलिए पाप-प्रधान कलियुग में मोक्षप्राप्ति का उपाय केवल सहज सुख की प्राप्ति ही है।

इन ८४ सिद्धों की संख्या ८४ ही क्यों है, इसका भी निश्चित उत्तर नहीं है। अनेक विद्वानों ने सिद्धों कीजो नाम-सूची दी है वह जहाँ नामों की दृष्टि से भिन्न है वहां सख्या की दृष्टि से भी भिन्न है। परन्तु किसी भी सूची के अनुसार इनकी संख्या ८४ नहीं बनती। ८४ संख्या का अभिप्राय काम-शास्त्र के ८४ आसनों से है या ८४ लाख योनियों से, यह कहना भी कठिन है। विद्वानों का अन्तिम निष्कर्ष यही है कि १०८ की तरह (माला में १०८ मनके होते हैं।) यह ८४ संख्या भी रहस्य संख्या (Mystic Number) है।

सिद्धों की भाषा

इनमें से कई सिद्धों की रचनाओं का अनुवाद वापिस संस्कृत में भी हुआ है। ये सिद्ध जिस प्रकार अपने आचार-व्यवहार में ऊटपटांग थे वैसे ही इनकी भाषा भी अटपटी थी, केवल शब्दों की दृष्टि से ही नहीं बल्कि अर्थ की दृष्टि से भी। गोपनीयता रखने के लिए ही उन्होंने ऐसी भाषा का प्रयोग किया जिसका अर्थ बहुत बार तो केवल उसकी संस्कृत-टीका से ही समझ में आ सकता है, मूल अपभ्रंश भाषा से नहीं। बाद में कबीर की वाणी में जो 'बरसे कम्बल भीगे पानी' के ढंग की उलट बाँसियाँ आई हैं, उनका मूल भी सिद्धों की भाषा ही है। कुछ प्रकाशित और कुछ अप्रकाशित-आलोक-निरालोक-सी इनकी भाषा को 'संध्या भाषा' का नाम दिया गया है। परन्तु डा० विधुशेखर महाचार्य ने अनेक युक्ति प्रमाणों से सिद्ध करके लिखा है कि उनकी भाषा का नाम 'संध्या भाषा' नहीं, किन्तु 'संधा-भाषा' है। 'संधा' शब्द का अर्थ उन्होंने किया है—'अभिसंधाय' अर्थात् 'अभिप्रेत्य' अर्थात्-जानबूझकर किसी खास मतलब से वैसी भाषा रखी गई है, जिनसे

जानकर लोग उसका अर्थ समझ सकें, गैर जानकार नहीं। इन सिद्धों की भाषा ही आधुनिक समय में प्रचलित विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं की जननी हैं, इसीलिए उनकी भाषा का यहां उल्लेख किया गया है। भारत की अधिकांश आधुनिक प्रान्तीय भाषाओं (तमिल को छोड़कर) के इतिहास का पर्यालोचन करतें हुए सिद्धों की भाषा का अध्ययन अनुपेक्षणीय है। पहले बुद्ध ने संस्कृत का तिरस्कार कर तात्कालिक लोक भाषा पालि (जिसे कदाचित् ग्राम्य भाषा होने के कारण ही पालि नाम दिया गया। पल्ली-गाँव) को प्रश्रय दिया था, किन्तु बाद में उसके अनुयायियों ने पालि की उपेक्षा करके पुनः संस्कृत का आश्रय लिया। इसीलिए महायानियों या वज्रयानियों के ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गए। किन्तु सहजयानी सिद्धों ने पुनः बुद्ध कीं प्रवृत्ति को अपनाया और उस समय की अपभ्रंश भाषाओं में ग्रन्थ भी लिखे प्रचार भी किया, तभी वे लोकप्रिय भी हुए।

हठयोग प्रदीपिका यद्यपि संस्कृत में लिखा ग्रन्थ है, किन्तु सिद्ध-युग का है। उस समय की प्रचलित धर्मपद्धति का आभास पाने के लिये हठयोग प्रदीपिका का निम्न श्लोक देखिए:—

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः॥

"कुलीन (जिसे पहले हमने 'कौल' कहा है) मैं उसे मानता हूँ जो रोज गोमांस खाये और अमरवारुणी पिये, अन्य लोग तो कुल घातक हैं।" गनीमत है कि फिर अगले श्लोक में ही उसकी यों व्याख्या कर दी गई है:—

गो शब्देनोदीपिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम्॥

"गो का अर्थ है जिह्वा, उस जिह्वा को उलटा कर तालु में प्रविष्ट करना (हठयोग की एक क्रिया) ही गो मांस का भक्षण है जो बड़े से बड़े पाप का नाश करने वाला है।" गोमांस भक्षण का यह यौगिक अर्थ तो पता नहीं किसी ने लिया या नहीं लिया, किन्तु इससे कितनों ने गोमांसभक्षण के समर्थन में प्रेरणा पाई, यह कल्पना सहज ही की जा सकती है।

दार्शनिक पक्ष

हिन्दू (वैदिक) धर्म के प्रति बौद्धों की आम धारणा क्या थी, यह इस उक्ति (सम्भवत: आचार्य धर्म कीर्ति की यह उक्ति है) से पता चल जायगा :

वेद प्रामाण्यं कस्यचित्कर्तृवादः
स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
सन्तापारम्भः पापहानाय चेति
ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्चलिङ्गानि जाड्ये ।।

"अक्लमारों की पांच निशानियाँ है: वेद को प्रमाण मानना, इस सृष्टि के कर्ता के रूप में किसी ईश्वर को मानना, स्नान करने में धर्म समझना, उच्च वर्ण का अभिमान करना, और पाप नष्ट करने के लिये तपस्य करना।" अर्थात् वेद तथा ईश्वर के प्रति जन-सामान्य की आस्था को विचलित वे कर ही चुके थे। फिर समाज में आई रिक्तता को भरने के लिये बुद्ध की मूर्ति और नाना बोधितत्त्वों की उपासना के रूप में जो आडम्बरवाद उन्होंने चलाया वह हिन्दू धर्म में भी नाना देवी देवताओं के रूप में ज्यों का त्यों उतर आया। फिर मानव की बौद्धिक तृप्ति के लिये जो दार्शनिक आधार तैयार किया गया उसमें मंत्र तंत्र और योग की चामत्कारिक सिद्धियों का ही प्रमुख स्थान रहा। हमने ऊपर लिखा है कि वज्रयान और सहजयान का ही रूपान्तर वाममार्ग है। परन्तु तांत्रिक साधना की दृष्टि से जो आध्यात्मिकता का आवरण उन लोगों ने अपने क्रियाकलाप पर चढ़ाया है, वह योगदर्शन से ही प्रसूत प्रतीत होता है। योगदर्शन में यदि अष्टांग योग का विधान है तो बौद्ध तांत्रिक साहित्य में षडंग योग का वर्णन है।

बिन्दु की सिद्धि

तांत्रिक साधना का मुख्य लक्ष्य है बिन्दु सिद्धि। बौद्धतांत्रिक परिभाषा में बिन्दु ही बोधिचित्त नाम से प्रसिद्ध है। जैसे मनोमय कोश का सारांश मन है! और प्राणमय कोष का सारांश प्राण, वैसे ही अन्नमय कोश का सारांश शुक्र धातु या वीर्य है। अज्ञानी जीव के मन-प्राण-शुक्र ये तीनों ही

चंचल होते हैं तथा मलिन होते हैं। बिन्दु शब्द से इन तीनों का ही अभिप्राय है। गुरु की कृपा से और अभिषेक-क्रिया से इन तीनों की शुद्धि होती है। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम में बिन्दु साधना का स्थान ही सर्वोच्च है। प्रथम आश्रम में बिन्दु प्रतिष्ठा होती है, उस समय बिन्दु क्षोभ निषिद्ध है। अशुद्ध बिन्दु क्षुब्ध होने पर प्राकृतिक नियम से अधोगति की ओर उन्मुख होता है। यही उसकी च्युति या पतन है, जिसका फल है मृत्यु। यदि इस बिन्दु को कोई ऊर्ध्व-गामी कर सके तो वह अमरत्व लाभ कर सकता है। (मरणं बिन्दु पातेन जीवनं बिन्दु धारणात्।) ऊर्ध्वरेता की अवस्था प्राप्त करने के लिए बिन्दु का ऊर्ध्वगामित्व आवश्यक है। ऊर्ध्वरेता बन जाने पर मनुष्य का अन्त: स्रोत सदैव ऊर्ध्वगामी रहता है। यही दिव्य अवस्था है।

इसके अलावा योग दर्शन की तरह शरीर को आठचक्रों में विभाजित किया गया है। इन आठचक्रों में सबसे नीचे है मूलाधार चक्र। इसी मूलाधार चक्र में निहित बिन्दु को ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए मेरुदण्ड के नीचे मूलाधार के पास ही अवस्थित कुण्डलिनी को जागृत करना होता है। गुरु कृपा से इस कुण्डलिनी के जागृत होने पर जब ब्रह्मरन्ध्रचक्र में कुण्डलिनी और बिन्दु का मेल होता है, तब मनुष्य ऊर्ध्वरेता की अवस्था तक पहुँच जाता है। ब्रह्मरन्ध्र चक्र ही उष्णीष चक्र या सहस्रदल कमल है। बिन्दु को उद्बुद्ध कर कुण्डलिनी के सहयोग से वहाँ तक पहुँचाना ही सिद्धि का चरम लक्ष्य है। ऊर्ध्वरेता बन जाने पर साधक का बिन्दु अधोगामी न रहने के कारण सन्तति-प्रजनन नहीं करता, अर्थात् जन्म मरण का चक्कर छूट गया—यही मोक्ष है। उष्णीष कमल में कुडंलिनी और बिन्दु के समागम से अमृत का झरना झरने लगता है—वही अमरता या सदाशिवत्व है।

शिव, शक्ति, त्रिशूल

तांत्रिकों की परिभाषा में बोधित्त्व अपने निर्वाण के पश्चात् इस अवस्था में जब पहुँचते हैं तब सदा प्रज्ञापारमिता के संग आलिंगित रहते हैं। प्रज्ञापारमिता हा तारा है—अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में पहुँची हुई कुडंलिनी। इसी कुण्डलिनी को उमा या पार्वती कहा गया। बौद्धों ने इस कुण्डलिनी को प्रज्ञा नाम दिया, शैवों ने पार्वती, वैष्णवों ने राधा, और वाममार्गियों ने ललना, रसना अवधूती या चाण्डाली। ब्रह्मरन्ध्र में कुडंलिनी और बिन्दु का समागम ही

बौद्धों की दृष्टि में तथागतत्व—असली बुद्धत्व, शैवों की दृष्टि में सदाशिवत्व, वैष्णवों की दृष्टि में आनन्दकन्दत्व और वाममार्गियों की दृष्टि में सिद्धत्व है। बौद्धों के अनुसार प्रज्ञा ही शक्ति है। इसी प्रज्ञा को कुडंलिनी या इड़ा पिंगला कहा गया है। ब्रह्मरन्ध्र में प्रज्ञा और उपाय (करुणाप्रेरित, बुद्धत्व की ओर अग्रसर बोधिचित्त) दोनों का एकत्र अवस्थान ही निर्वाण या अद्वय है। 'अद्वय-वज्र संग्रह' में लिखा है—'शिवशक्ति समायोगात् जायते चाद्भुतं सुखम्' शिव और शक्ति के समागम से अद्भुत सुख होता है शक्तिका प्रतीक है त्रिकोण या त्रिशूल। त्रिशूलधारी साधु आज भी चाहे जहां देखे जा सकते हैं। कुछ तांत्रिकों ने ओ३म् को भी त्रिशूल का ही रूप सिद्ध किया है। इस त्रिकोण की विस्तृत व्याख्या है। इसी त्रिकोण को, जो प्रज्ञा या शक्ति का दूसरा नाम है, 'हेवज्रतंत्र' में भग भी कहा गया है। इस भग को महासुख का आवास माना गया है। यही वज्रालय या वज्रासन भी कहा जाता है। इसको सिंहासन बना कर जो आसीन होते हैं, उन्हें भगवान् कहा जाता है।

वज्रयानियों ने बोधिचित्त को वज्रसत्त्व नाम दिया है। उनके निर्वाणावस्थापन्न वज्रसत्त्व की एक मूर्ति तिब्बत में मिलती हैं जो तिब्बती भाषा में 'याब्-युम्' यायुगनद्ध मूर्ति कहलाती है। यह युगनद्ध ही, जिसमें अवलोकितेश्वर और प्रज्ञापारमिता तारा वज्रासनस्थ और परस्पर दृढ़ालिंगित अवस्था में दिखाए गए हैं, वज्रयानियों का चरम आराध्य है। शैवों की अर्धनारीश्वर की कल्पना और वैष्णवों के लक्ष्मी-नारायण, राधा-कृष्ण या सीता-राम के युग्मों की कल्पना का मूल यही युगनद्ध है। वज्रयानियों का अद्वैत भी यही है।

वज्र शब्द के अनेक अर्थ हैं ? तिब्बती भाषा में वज्र का पर्यायवाची शब्द है 'दोर्जे'। जो आजकल दार्जीलिंग के नाम से विख्यात पर्वतीय स्थान है उसका असली नाम है 'दोर्जेलिङ्'। ऐसा प्रतीत होता है कि वह वज्रयानियों का स्थान रहा है। भूतान में 'भूत' शब्द भी इसी वज्र का पर्यायवाची है। वज्र का अर्थ है कठोर, हीरा या मणि, चमकीली बिजली। यह भी शून्य का प्रतीक है। बौद्धों का विश्वास है कि बुद्ध ने इन्द्र से वज्र छीन कर इसे बौद्धधर्म का प्रतीक बना लिया। बुद्ध इसीलिए वज्रपाणि कहलाए। वज्र के तीन शूल हैं: बुद्ध, धर्म और संघ जो बौद्धधर्म में 'त्रिरत्न' कहलाते हैं।

परन्तु वज्रयानियों की परिभाषा में इसका एक और अर्थ भी है। 'ज्ञानसिद्धि' नामक ग्रन्थ में लिखा है:

शुक्रं वैरोचनं ख्यातं वज्रोदकं तथा परम् ।
स्त्रीन्द्रियं च यथा पद्मं वज्रं पुंसेन्द्रियं तथा ॥

—अर्थात् वज्र का अर्थ पुंसेन्द्रिय और पद्म का अर्थ है स्त्रीन्द्रिय। बाद में भारतीय संस्कृति में कमल के महत्त्व का उद्गम यही प्रतीत होता है। खजुराहो आदि मन्दिरों में अश्लील मूर्तियाँ वज्र और पद्म के मेल के ही द्योतक हैं। वज्र और पद्म का मेल ही युगनद्ध है। वज्रयानियों का जो सबसे बड़ा मंत्र है: "ओं मणिपद्मे हुँ"— वह भी मणि (वज्र) और पद्म के मेल—युगनद्ध की उपासना का चरम साधन माना गया है। वाममार्ग युगनद्ध का ही उपासक है—वह उसे 'शिवशक्ति समागम' कहता है।

वाममार्ग के ग्रन्थों के ध्यान में सम्बन्ध में उपदेश इस प्रकार किया गया है: "भक्त को चाहिए कि वह अपना सर्वस्व देवी को अर्पण करने के लिए पहले भावना द्वारा अपने हृदय-कमल को देवी का सिंहासन बना ले, फिर हृदय-कमल से टपकने वाले अमृत से देवी के चरणों का प्रक्षालन करे, फिर इन्द्रियों और विचारों की चंचलता को नृत्यवत् प्रस्तुत कर दे। फिर स्वार्थ-शून्यता और वासना-शून्यता के पुष्प उपहार में चढ़ाए। फिर वह सुरा का समुद्र, मांस और भुनी मछलियों का पहाड़, भात-दूध-चीनी और घी का ढेर देवी के सम्मुख धर दे। फिर त्रिपुण्ड्र के अमृत में देवी को स्नान कराए।" इस सब ध्यान की प्रक्रिया से भक्तों में आध्यात्मिक भावना के बजाय इन्द्रियों को उन्मादित करने वाली वृत्ति ही अधिक जागृत होती होगी, इसमें सन्देह नहीं। फिर जब घण्टे-घड़ियाल बजते हैं, धूप जलती है, फूल महकते हैं, दीपक टिमटिमा कर कुछ प्रकाश और कुछ अप्रकाश का आलम पैदा कर देते हैं और मलाएं लहराने लगती हैं, तब साधिकाओं के जमघट को देखकर साधक भी उद्दाम वासना के सागर में लहराने लगें तो क्या आश्चर्य ! फिर तो सूक्ष्म दार्शनिक तत्त्व किसी ज्ञानी के मन के किसी निभृत कोने में भले ही झांकता रहे, किन्तु जनसाधारण को तो वाममार्ग की ओर ही जाने की प्रेरणा मिलती है।

आधुनिक भाषा में कहना हो तो वाममार्ग को विशुद्ध शिश्नोदरवाद या यौनवाद का मार्ग कहा जा सकता है। इस विषय में वामपन्थी (कम्युनिस्ट) भी ऐतिहासिक वाममार्ग के भूले बिखरे अवशेष ही प्रतीत होते हैं परन्तु ऋग्वेद में लिखा है—"या शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः" (ऋक् ७।२१ ५) शिश्न को देव मानने वाले कभी सत्य को नहीं पा सकते।

शांकर-मत समीक्षा

आचार्य श्री उदयवीर शास्त्री

o o o

शंकराचार्य ने अपने वेदान्त द्वारा जिस भ्रम की सृष्टि की, उसने बौद्धों के पैर भले ही उखाड़ दिए हों किन्तु सत्य वैदिक धर्म के स्वरूप को विकृत रूप में संसार के समक्ष प्रस्तुत कर सत्य को भुलाने का प्रयास किया। प्रस्तुत लेख में दर्शनों के प्रकांड पंडित लेखक ने शंकर के असत्य मत की आलोचना कर 'सत्य' स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है। —सम्पादक

o o o

ऋषि ने 'सत्यार्थप्रकाश' नामक ग्रन्थ की रचना अपने मन्तव्यों को स्पष्ट करने और अमन्तव्यों की विवेचना व समीक्षा के लिए की, जिससे सत्य अर्थों-सिद्धान्तों का प्रकाश यथार्थरूप में हो सके, और जिसके अनुसार अनुष्ठान कर प्रत्येक मानव अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए अनायास प्रयासशील हो सके। इस भावना से ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम दस समुल्लासों में अपने मन्तव्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, और अन्तिम चार समुल्लासों में अमन्तव्य मतों व विचारों की समीक्षा प्रस्तुत की है। ऐसी समीक्षा सच्चे सिद्धान्तों पर लपेटे हुए मलिन आवरणों को हटाकर उन्हें सामने प्रकाश में लाकर खडा कर देती है। ऐसी विवेचना की उपादेयता का सदा से लोककर्त्ता आचार्यों ने अभिनन्दन किया है।

सत्यार्थप्रकाश के इस समीक्षा भाग के पहले एवं ग्रन्थक्रम के अनुसार ग्यारहवें समुल्लास में उन विचारों व मतों की विवेचना प्रस्तुत की गई है, जिनमें भारतीय आर्यजनता के मूलभूत वैदिक सिद्धान्तों को रूपान्तरित कर दिया गया है, पर उन्हीं को आज मूलभूत सिद्धान्तों के रूप में माना जा रहा है। मूल सिद्धान्तों में यह विकार सहस्रों वर्षों से धीरे-धीरे होता रहा, और अनजाने में उसका इतना सात्म्य होगया, कि वास्तविकता को सर्वथा भुला दिया गया, अथवा समाज की दृष्टि से उसे सर्वथा ओझल कर दिया गया। ऋषि ने अपनी समाधिजन्य क्रान्त दृष्टि से काल की सीमा को भेदकर यथार्थता का अवलोकन किया, और लोक कल्याण की भावना से जन-मानस तक उसे पहुँचाने के लिए 'सत्यार्थ प्रकाश' के रूप में रचनाबद्ध किया। इस प्रकार एकादश समुल्लास में उन सभी मतों का विवेचन है, जो हिन्दु मत अथवा पौराणिक मत के नाम से कहे जाते हैं।

इन्हीं के बीच उन विचारों की भी समीक्षा है, जिनको आचार्य शंकर ने प्रचारित किया, और दार्शनिक रूप देकर उनकी दृढ़ता को उपस्थापित किया है। यह प्रसंग एकादश समुल्लास में सत्यार्थप्रकाश [स्थूलाक्षर, स्वामी वेदानन्द तीर्थ संस्करण] के पृष्ठ २४९ से २६० तक में विस्तृत है। इस समस्त प्रसंग को साधारण रूप से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—१—आचार्य शंकर का व्यक्तित्व, २—आचार्य शंकर का मत और उसकी समीक्षा। सत्यार्थप्रकाश के वर्णन के अनुसार यथाक्रम इन शीर्षकों के नीचे उक्त विषय का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

आचार्य शंकर और उसका व्यक्तित्व

इस विषय को लेकर सत्यार्थप्रकाश में जो वर्णन किया गया है, उसको भी दो भागों में बाँटा जा सकता है-१-शंकर का प्रादुर्भाव काल, और २-शंकर के विचारों की पृष्ठभूमि। पहला विषय अत्यन्त विवादास्पद है। इस विषय में आधुनिक विद्वानों ने अनेक प्रकार से विवेचन किया है, पर अभी तक कोई ऐसा निर्णय सामने नहीं आया, जिसमें इस विषय के समस्त प्राचीन लेखों का परस्पर सामञ्जस्य प्रस्फुटित किया गया हो। आधुनिक विद्वानों ने जो विभिन्न विचार इस विषय में प्रस्तुत किये हैं, उनका भी प्राचीन लेखों में कुछ

न कुछ आधार मिल जाता हैं, जिससे किसी भी जिज्ञासु के सन्देह की मात्रा और दृढ़ हो जाती है। इस विषय में ऋषि का विचार प्रस्तुत किया जाता है।

आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव काल

विषय का प्रारम्भ करते हुए ऋषि ने लिखा—'बाईस सौ वर्ष हुए कि एक शङ्कराचार्य द्रविड़देशोत्पन्न ब्राह्मण ब्रह्मचर्य से व्याकरणादि सब शास्त्रों को पढ़कर सोचने लगे' ऋषि ने जब यह पंक्ति लिखी, उसे लगभग नब्वे वर्ष हो गये हैं। हम स्थूल रूप से इसे एक शताब्दी मान लेते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ, विक्रम संवत् के प्रारम्भ होने से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव हुआ। ऋषि का यह कथन ऋषि की एक अन्य पंक्ति से भी पुष्ट होता है। सत्यार्थ प्रकाश [विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद स्थूलाक्षर संस्करण] के पृष्ठ २५६ पंक्ति २७ में लेख है— 'शङ्कराचार्य के तीन सौ वर्ष के पश्चात् उज्जैन नगरी में विक्रमादित्य राजा कुछ प्रतापी हुआ' यहाँ शंकर और विक्रमादित्य के काल का अन्तर स्पष्ट उल्लिखित है। ऋषि के विचार से यह वही विक्रमादित्य राजा है, जिसका संवत् इस समय २०२० चल रहा है।

आचार्य शङ्कर के इस प्रादुर्भाव काल का उल्लेख ऋषि ने किस आधार पर किया है, यह विचारणीय है। यदि ऐसे कोई आधार हैं, तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है, कि शङ्कर के प्रादुर्भाव काल का विवेचन करने वाले आधुनिक विद्वानों ने उन आधारों की ओर ध्यान देने की सर्वथा उपेक्षा की है, क्योंकि आधुनिक विद्वान् शङ्कर का काल विक्रम की आठवीं नवीं शताब्दी निश्चित करते हैं। इन दोनों कालों में ग्यारह सौ-बारह सौ वर्ष के लगभग का अन्तर है, जो सर्वथा अनुपेक्षणीय है। विचारकोटि से इसको ओझल करना ऐतिहासिक तथ्यों के विवेचन व अन्वेषण की ओर से मुंह मोड़ना होगा। आधुनिक विद्वानों ने जिन आधारों पर अपना मत प्रकट किया है, उनको यहाँ उपस्थित करना और उनकी समीक्षा करना केवल लेख का कलेवर बढ़ाना होगा, यहां उसकी उपेक्षा करदी गई है। ऋषि के लेख का आधार क्या रहा होगा, इस पर प्रकाश डालना अपेक्षित है।

ऋषि का इतिहास ज्ञान

प्राय: इस विषय में आधुनिक विचारों से अभिभूत अनेक आर्य विद्वानों को भी यह कहते सुना गया है, कि ऋषि कोई इतिहास का पण्डित नहीं था, इस विषय में उसका लेख अन्यथा हो सकता है, यह कोई ऐसी सैद्धान्तिक बात नहीं है, जिसको मानने या न मानने में किसी आवश्यक सिद्धान्त का व्याघात होता हो। ऐसे विचार रखने वालों के प्रति मेरा नम्र निवेदन है, किसी निश्चय की घोषणा करने से पहले उस पर गम्भीरता पूर्वक विचार कर लेना अच्छा होता है। समाज में असमीक्ष्यकारी के समान असमीक्ष्यवादी होना भी बुद्धिमत्ता का द्योतक नहीं होता। मैं यह नहीं कहता, कि ऋषि इतिहास का पंडित था या नहीं, पर इस ओर ऋषि की सुरुचि के विषय में किसी को सन्देह नहीं होना चाहिए। ग्यारहवें समुल्लास के अन्त में महाभारत काल से लेकर पृथ्वीराज वंश पर्यन्त दिल्ली के राजाओं की वंशावली का उल्लेख इस विषय में ऋषि दयानन्द की सतर्कता एवं सजगता का ज्वलन्त निर्देश करता है।

इस वंशावली के विषय में भी प्राय: लोग सन्दिग्ध बातें करते रहते हैं, जबकि ऋषि ने वंशावली के प्रारम्भ में उन आधारों का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है, जहाँ से इसकी प्रतिलिपि की गई। इसकी पुष्टि में अब एक नया हस्तलेख उपलब्ध हुआ है। सत्यार्थप्रकाश में दी गई वंशावली का आधार ऋषि के लेखानुसार 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और 'मोहन चन्द्रिका' नामक पाक्षिक पत्र हैं, जो नाथद्वारा से उस समय प्रकाशित होते थे। नाथद्वारा उदयपुर राज्य में एक छोटा नगर है, जहाँ वैष्णव सम्प्रदाय का प्रसिद्ध मन्दिर है। यह वंशावली विक्रम संवत् १९३९ के मार्गशीर्ष के अंकों में छपी थी। उस पत्र के सम्पादक ने अपने मित्र से एक प्राचीन पुस्तक जो विक्रम संवत् १७८२ का लिखा हुआ था, लेकर उसके आधार पर यह वंशावली प्रकाशित की थी। इससे स्पष्ट है कि सत्यार्थप्रकाश में दी गई राजवंशावली का आधार उदयपुर राज्य से प्राप्त कोई हस्तलेख है।

पर अब इस विषय का एक नया हस्तलेख जो प्राप्त हुआ है, वह पंजाब के पहाड़ी जिला कांगड़ा का है, और वहीं की स्थानीय भाषा में है।

पंजाब सरकार के हिन्दी विभाग के निदेशक श्री डा० परमानन्द एम. ए. के निदेशन में शीघ्र ही इस हस्तलेख के प्रकाशित होने की आशा है। इस हस्तलेख का सम्पादन श्री डा० गौरीशंकर एम. ए., श्री पं० रघुनन्दन शास्त्री एम. ए. ने किया है, जिनकी जन्मभूमि जिला कांगड़ा है। इस हस्तलेख की सूचना श्री डा० परमानन्द ने पंजाब सरकार के मासिक पत्र 'सप्तसिन्धु' में तथा वाराणसी के 'वेदवाणी' में प्रकाशित की। इस विषय में उक्त डाक्टर महोदय से पत्र व्यवहार करने पर ज्ञात हुआ, कि हस्तलेख शीघ्र ही प्रकाशित होकर जनता के सम्मुख आने को है। इतने अन्तर से बसे दो विभिन्न देशों और विभिन्न भाषाओं में मिले हस्तलेखों की लगभग पूर्ण जैसी समानता उनकी ऐतिहासिक सचाई को निस्सन्देह स्पष्ट करती है। इसकी पूर्ण परीक्षा तो हस्तलेख के प्रकाशित होने पर ही हो सकेगी, पर इससे इतना निश्चय है कि सत्यार्थप्रकाश की राजवंशावली कोरी कल्पना नहीं है, इसमें ऐतिहासिक तथ्य निश्चित रूप से निहित हैं। यह सब कहने का हमारा इतना ही अभिप्राय है, कि ऋषि दयानन्द इतिहास का पण्डित हो या न हो, पर इतिहास विषयक जो पंक्ति या सन्दर्भ उसने कहीं लिखा है, वह सर्वथा निराधार नहीं।

शंकर काल का आधार

अब हम अपने मुख्य लक्ष्य पर आते हैं, कि आचार्य शंकर के उक्त प्रादुर्भाव काल का आधार ऋषि के सन्मुख क्या रहा होगा? ऋषि दयानन्द ने संन्यास की दीक्षा उसी परम्परा में ली, जो शंकराचार्य और उनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा आज तक प्रवर्त्तित है। प्रत्येक संन्यासी दीक्षा के समय और अन्य विशिष्ट अवसरों पर उस गुरु-परम्परा का ऐसे ही स्मरण करता है, जैसे भारत में शुभ कार्यों के आरम्भ में संकल्प पढ़े जाने की प्रथा है। उसमें आद्य शंकराचार्य के काल का संकेत तथा पूर्व-गुरुओं की नामावली का उच्चारण किया जाता है। यह परम्परा इतनी अविच्छिन्न है, कि इसमें किसी भ्रान्ति की आशंका नहीं की जा सकती, प्रत्येक दण्डी संन्यासी के मुख से जिसने उस परम्परा में संन्यास की दीक्षा ली है, इसको सुना जा सकता है। ऋषि दयानन्द उस परम्परा से पूर्णरूप से परिचित था।

इसके अतिरिक्त आचार्य के मठों की वंशपरम्परा प्रायः मठों में सुरक्षित है। आद्य शंकराचार्य ने अपने विचारों के प्रचार--प्रसार और उनका स्थैर्य बनाये रखने के लिए भारत देश की चारों दिशाओं में चार मठों की स्थापना की। उस पीठ पर बैठने वाला प्रत्येक व्यक्ति शङ्कराचार्य कहा जाता है। द्वारिका, शृङ्गेरी, गोवर्द्धन और ज्योतिर्मठ के गुरु-शिष्यों की परम्परा की सूची आद्य शङ्कराचार्य से लेकर आज तक अविच्छिन्न रूप से मठों में सुरक्षित हैं। उन सूचियों में प्रत्येक आचार्य के गद्दी पर बैठने के पूरे काल का निर्देश है। उनसे यह स्पष्ट विदित होता है, कौन आचार्य किस संवत् में गद्दी पर बैठा और कब ब्रह्मलोक लीन हुआ, प्रारम्भ में युधिष्ठिर संवत् का उपयोग किया गया है। द्वारिकामठ के आचार्यों की ऐसी एक सूची 'सरस्वती छापाखाना, स्टेशन रोड़, अजीज बिल्डिंग, भावनगर, से प्रकाशित हुई थी, जो मेरे पास सुरक्षित है, और 'विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद' से प्रकाशित स्थूलाक्षर सत्यार्थप्रकाश के २४९ पृष्ठ की टिप्पणी में अविकल रूप से उसे मुद्रित करा दिया है। उसके अनुसार शङ्कराचार्य का प्रादुर्भावकाल ठीक वही निश्चित होता है, जो सत्यार्थ प्रकाश में निर्दिष्ट है।

इसके अतिरिक्त अन्य मठों की आचार्य-सूची के आधार पर भी इसकी परीक्षा करना अपेक्षित है। पत्र-व्यवहार और अवसर पाकर एक तीर्थयात्री महात्मा संन्यासी के द्वारा वह सब जानने के लिये मैंने यत्न किया, इस विषय की बहुत सी सामग्री मेरे पास संकलित है। अवगत हुआ है, हिमालय स्थित ज्योतिर्मठ की आचार्य परम्परा खण्डित है। अनेक शताब्दियों तक पीठ शून्य पड़ा रहा, उतने समय कोई आचार्य वहाँ नहीं हुआ। कालान्तर में टिहरी दरबार ने मठ का जीर्णोद्धार करवाया, कतिपय आचार्यों की सूची उपलब्ध हुई है, पूर्ण नहीं है। जगन्नाथपुरी के गोवर्द्धन मठ की सूची प्राप्त हो गई है, पर उसमें आचार्यों के कार्यकाल का निर्देशन नहीं है, दक्षिण के शृंगेरीमठ की सूची प्राप्त नहीं हो सकी, पर पीठ में सुरक्षित इस विषय के लेखों के अनुसार यह ज्ञात हो सका, कि शङ्कराचार्य का जन्म २५९३ कलि संवत् में तथा देहावसान २६२५ कलि संवत् में हुआ। द्वारका के शारदा पीठ की आचार्य वंशानु मातृका के अनुसार जिसका अभी ऊपर उल्लेख किया गया है, और जिसे स्थूलाक्षर सत्यार्थप्रकाश की प्रथमोद्धृत पंक्ति पर टिप्पणी में अवि-

फल मुद्रित करा दिया गया है, शंकर का जन्म-काल २६३१ युधिष्ठिर संवत् लिखा है, तथा निधन काल २६६३।

कतिपय आधुनिक लेखकों ने कलि संवत् और युधिष्ठिर संवत् को एक समझकर दोनों मठों के उक्त लेख में भेद बताने का प्रयास किया है, पर यह उन लेखकों की भ्रान्ति है। युधिष्ठिर संवत् महाराज युधिष्ठिर के राज्यारोहण से प्रारम्भ होता है। महाभारत से ज्ञात है, कि युधिष्ठिर ने ३६ वर्ष तक राज्य किया, तदनन्तर कलि प्रारम्भ होने वाला है, इस भावना से राज्य त्याग युधिष्ठिर अपने भाईयों के साथ तपस्या के लिये हिमालय चले गये, उसके अनन्तर कलि का प्रारम्भ हुआ और तभी से कलि संवत् गिना गया। दोनों मठों के लेखों में युधिष्ठिर और कलि संवत् का अन्तर ३८ वर्ष है, जो युधिष्ठिर के राज्यकाल तथा राज्य त्याग एवं कलि आगमन के अन्तराल काल को प्रकट करता है। कभी-कभी एक वर्ष का अन्तर संवत् के गत और चालू रूप में निर्देश करने पर भी हो जाता है। इस प्रकार यह निश्चित है कि मठों के लेख में कोई अन्तर नहीं है। दोनों लेखों के अनुसार आचार्य का प्रादुर्भाव काल एक ही है।

अब यह देखना चाहिए, कि यह काल विक्रम से कितने वर्ष पूर्व आता है। चालू विक्रम संवत् के साथ कलि संवत् ५०६४ चल रहा है। गणना करने पर स्पष्ट होता है कि ऋषि द्वारा कथित आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव काल मठों की सूची में लिखित काल के लगभग समीप है। जिन लेखकों ने शंकर का काल विक्रम की आठवीं नौवीं शताब्दी बताया है, इसके साथ मठों के लेखों का बहुत दूर का अन्तर है, लगभग बारह सौ वर्ष से भी अधिक का, जो अत्यन्त चिन्तनीय है।

शंकर का व्यक्तित्व और उस के विचारों की पृष्ठभूमि

मुख्य शीर्षक के नीचे यह दूसरा विभाग आता है, कि आचार्य शंकर के जो विचार या सिद्धान्त आज हमारे सामने हैं, उनकी पृष्ठभूमि क्या रही होगी। ऋषि ने इस विषय में लिखा—'जो जीव ब्रह्म की एकता जगत मिथ्या शंकराचाय का निजमत था तो यह अच्छा मत नहीं और जो जैनियों के खण्डन के लिए उस मत का स्वीकार किया हो तो कुछ अच्छा है।' इस लेख से

प्रतीत होता है, कि ऋषि इस बात को सहन करने के लिये सर्वात्मना तैयार न था, कि शंकर के नाम से जो सिद्धान्त आज हमारे सामने हैं, वे शंकर के सर्वथा निजीमत रहे होंगे। जैनमत के खण्डन की भावना से भी ऐसा मत स्वीकार कर लेने की संभावना की जा सकती है। जहाँ अनेक अन्य सम्प्रदायों के प्रवर्त्तक आचार्यों के लिए ऋषि ने ऐसे पदों का प्रयोग कर दिया है, जो कठोर प्रतीत होते हैं, चाहे उनमें वास्तविकता ही अधिक हो; वहाँ शंकराचार्य के विषय में ऋषि के विचार कोमल और आत्मीय भावना को ध्वनित करते हैं। कुछ ऐसा प्रतीत होता है, कि शंकराचार्य के व्यक्तित्व के प्रति ऋषि आस्थावान् रहा हो। 'आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव काल' उपशीर्षक के नीचे जो पंक्ति पहले सत्यार्थप्रकाश से उद्धृत की गई है, उसमें भी इन भावनाओं की झलक प्रतीत होती है।

वहाँ शब्द हैं—'शंकराचार्य द्रविड़ देशोत्पन्न ब्राह्मण ब्रह्मचर्य से व्याकरणादि सब शास्त्रों को पढ़कर' इस पंक्ति में शंकर के द्वारा वर्णाश्रम व्यवस्था के पालन और शंकर के सर्वशास्त्रगत वैदुष्य को ऋषि ने प्रकट किया है। फिर आगे के सन्दर्भों में शंकराचार्य द्वारा 'वेदमत की स्थापना' 'वेदमत का प्रचार' आदि पदों का निदश किया है। शंकराचार्य के व्यक्तित्व के विषय में उक्त भावनाओं के पोषक अगले सन्दर्भों पर ध्यान दीजिये, जो सत्यार्थप्रकाश के इस प्रसंग में आये हैं—

१—शंकराचार्य शास्त्र तो पढ़े ही थे, परन्तु जैनमत के भी पुस्तक पढ़े थे और उनकी युक्ति भी बहुत प्रबल थी।

२—वहाँ उस समय सुधन्वा राजा था जो जैनियों के ग्रन्थ और कुछ संस्कृत भी पढ़ा था। वहाँ [उज्जैन नगरी में] जाकर वेद का उपदेश करने लगे।

३—जब तक सुधन्वा राजा को बड़ा विद्वान् उपदेशक नहीं मिला था तब तक सन्देह में थे कि इन में कौन सा सत्य और कौन सा असत्य है, जब शंकराचार्य की यह बात सुनी, बड़ी प्रसन्नता के साथ बोले, कि हम शास्त्रार्थ करा के सत्याऽसत्य का निर्णय अवश्य करावेंगे।

४—उसमें शंकराचार्य का वेदमत और जैनियों का वेदविरुद्ध मत था।

५—शंकराचार्य का पक्ष वेदमत का स्थापन............था।

६—जब वेदमत का स्थापन हो चुका और विद्या प्रचार करने का विचार करते ही थे......अवसर पाकर शंकराचार्य को ऐसी विषयुक्त वस्तु खिलाई ....छह महीने के भीतर शरीर छूट गया।

इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है, कि शंकराचार्य ने अपने जीवन में जो कार्य किया ऋषि ने उसे जैनमत के प्रतिरोध में वेदमत का प्रचार और वेदमत की स्थापना के रूप में स्वीकार किया है। इससे ऋषि के विचारों में शंकर के निजी व्यक्तित्व और उसके प्रचारित सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि की वास्तविकता का पता लगता है। शंकराचार्य और उनके कार्य के प्रति उक्त भावनाओं के रहते भी ऋषि ने उन मन्तव्यों को सर्वथा अवैदिक माना है, जो शंकराचार्य के नाम से आज सबके सन्मुख हैं। उनका प्रत्याख्यान करने में ऋषि ने कोई कसर नहीं छोड़ी। अब संक्षेप में उसका विवेचन पढ़िये।

आचार्य शंकर का मत और उसकी समीक्षा

शांकरमत—आचार्य शंकर के मन्तव्यों को समझने और उनकी विवेचना के लिये उन्हें कतिपय उपशीर्षकों में बांट लेना आवश्यक है। मुख्यरूप से निम्नलिखित शीर्षकों में आचार्य के प्राय: सभी विचार आजाते हैं।

१—वास्तविक सत्ता एक मात्र ब्रह्म है।

२—प्रतीयमान जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं।

३—जगत् मिथ्या है, इसकी यथार्थ सत्ता कुछ नहीं।

४—अनिर्वचनीय माया ब्रह्म की शक्ति है।

५—विवर्त्त वाद।

६—स्वप्न, रज्जु में सर्प, सीप में चाँदी, मृगतृष्णिका में जल, गन्धर्व-नगर, इन्द्र जाल आदि दृष्टान्त।

इन शीर्षकों में प्राय: वे सभी विचार आ जाते हैं, जिनकी समीक्षा सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास के इस प्रसंग में की गई है। यथाक्रम इस विषय में विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

१—वास्तविक सत्ता एक मात्र ब्रह्म हैं

इस तथ्य को वेद और समस्त वैदिक साहित्य एवं आर्य परम्परा में स्वीकार किया गया है, विश्व का रचयिता ब्रह्म है। वेदों और अन्य शास्त्रों में उस एक तत्त्व का अनेक नामों से वर्णन हुआ है। यह अनेक नाम और अनेक रूपों में वर्णन होने पर भी वह सत्ता एकमात्र है। ब्रह्म या परमेश्वर के रूप में वह दो सत्ता नहीं मानी जातीं। वह सत्ता चेतन है और आनन्दरूप है। ब्रह्म अथवा परमेश्वर की ऐसी एकमात्र सत्ता से किसी को नकार नहीं है। पर उस एकमात्र सत्ता के स्वीकार का यह अभिप्राय नहीं, कि उसके अतिरिक्त और कोई सत्ता है ही नहीं। पर आचार्य शंकर ने यही घोषणा की है, कि उससे अतिरिक्त अन्य सत्ता की वास्तविकता नहीं है। अन्य जो कुछ प्रतीत होता है वह सब आभासमात्र है, इसको प्रमाणित करने के लिये कतिपय उपनिषद् वाक्य प्रस्तुत किये जाते हैं। उसमें एक वाक्य है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' [छा० ३।१४।१] शांकर विचार को स्पष्ट करने के लिए इस वाक्य के प्राय: प्रथम भाग का अधिक प्रयोग किया जाता है। उसका अर्थ करते हैं—निश्चित ही यह जो कुछ है–दृश्यादृश्य जगत्—सब ब्रह्म है। यदि इस वाक्यांश का वस्तुत: ऐसा ही अर्थ है, तो ब्रह्म की उपासना का उपदेश करने के लिये प्रवृत्त हुआ उपनिषत्कार दृश्यादृश्य जगत् की उपासना में ही ब्रह्म जिज्ञासु को प्रवृत्त कर रहा है, यह अभिप्राय इसका मानना होगा, क्योंकि जब यह जगत् ब्रह्म ही है, तो जगत् की उपासना ही ब्रह्म की उपासना होगी, जागतिक ऐश्वर्यों को प्राप्त करना और उन्हें भोगना ही उसकी उपासना है। ऐसा मानने पर यह उपदेश वास्तविकता से दूर सर्वथा अनर्थरूप होगा। फलत: इस वाक्यांश का इतना भाव प्रकट कर उक्त विचार को सिद्ध नहीं किया जा सकता।

उपनिषद् के पूरे वाक्य का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—'सर्वं खल्विदं तज्जलान् इति अवबुध्य शान्त: सन् ब्रह्म उपासीत।' यह सब जगत् तज्ज, तल्ल और तदन् है, ऐसा समझकर शान्त हो जिज्ञासु ब्रह्म की उपासना करे। इस जगत् का उत्पन्न करने वाला ब्रह्म है, वही प्रलय करने वाला और वही इसका धारण करने वाला है; इसलिये इस जगत् में न फंसकर जो इसे बनाता

बिगाड़ता और रक्षा करता है, उसी की उपासना करनी चाहिये। वस्तुतः वाक्य में 'ब्रह्म' पद 'उपासीत' क्रिया का कर्म है। यहाँ इस बात पर बल दिया गया है, कि हे उपासक जीव ! तू इस संसार में जो फंस रहा है और इसी को सब कुछ समझता है, यह तेरी नादानी है। अरे ! इसको भी जो बनाने बिगाड़ने का सामर्थ्य रखता है और जिसकी शक्ति से इस समय यह संचालित है, उसकी उपासना कर वह ब्रह्म है, यह जगत् तो विकारमात्र है, यह समझकर शान्तिपूर्वक उस ब्रह्म की उपासना करना योग्य है। फलतः इस वाक्य द्वारा जगत् को ब्रह्म नहीं बताया गया, जगत् एक विकारमात्र परिणामी तत्त्व है, उस से वितृष्ण होकर अपरिणामी, जगत् के अधिष्ठाता ब्रह्म की उपासना करने का यहाँ उपदेश है। आगे उपनिषद् में क्रतुमय-कर्मपरायण जीवात्मा के लिए उस ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है, जिसका सामञ्जस्य जगत् को ब्रह्म मानकर सर्वथा असम्भव है। फलत: ब्रह्म की एकमात्र सत्ता होने पर भी यह कहना केवल दुस्साहस है, कि उसके अतिरिक्त अन्य किसी का अस्तित्व ही नहीं।

२—प्रतीयमान जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है—

प्रत्येक देह में एक अतिरिक्त चेतना का अनुभव होता है। यह चेतना अथवा चेतनतत्त्व 'जीवात्मा' है, ऐसा विचारकों ने माना है। यह चेतना क्योंकि प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् अनुभूत होती है, और शरीरों की कोई सीमा कोई अन्त संख्या की दृष्टि से नहीं है, इसलिये यह चेतनतत्त्व भी संख्या की दृष्टि से अनन्त है, ऐसा साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने स्वीकार किया है। इस विषय में आचार्य शंकर का कहना है, कि चेतनतत्त्व केवल एक ब्रह्म है, उससे अतिरिक्त चेतनतत्त्व अन्य कोई नहीं है। विभिन्न शरीरों में जो चेतन प्रतीत होता है, और जिसको जीवात्मा कहा जाता है, वह अन्तःकरण उपाधि से उपहित ब्रह्म ही है। यह उपाधि जब तक रहती है, पृथक् जीव नाम से इस चेतना का आभास होता है। आत्मसाक्षात्कार अर्थात् ब्रह्मज्ञान हो जाने पर उपाधि नष्ट हो जाती हैं, चेतनतत्त्व अपने ब्रह्मस्वरूप में अवस्थित रहता है।

विचारणीय है, जब एकमात्र ब्रह्म से अतिरिक्त कोई तत्त्व नहीं, तो यह उपाधि कहां से आ जाती है ? तथा शुद्ध ब्रह्म को इस उपाधि ने कब उपहित

किया ? और क्यों ? इस क्यों का समाधान तो शांकर मत में कोई नहीं केवल लीलावश ऐसा होता है, यह कह दिया जाता है, जो सचाई से कन्नी काट जाने के प्रयास के समान है। 'कब' का उत्तर दिया जाता है, कि यह अनादि है। शांकर मत में यह भी एक दुर्बल पहलू है। आचार्य और उसके अनुयायियों ने इसके समाधान के लिये छह पदार्थ अनादि माने हैं। उसके लिये सम्प्रदाय में ये श्लोक प्रसिद्ध हैं—

जीवेशौ च विशुद्धाचिद् विभेदस्तु तयोर्द्वयोः।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः।।
कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते ।।

हम छह पदार्थ अनादि मानते हैं—१. जीव, २. ईश्वर, ३. विशुद्ध, चेतन ब्रह्म, ४. जीव ईश्वर का भेद, ५. अविद्या, अज्ञान, माया, ६. अविद्या और शुद्धचेतन ब्रह्म का परस्पर सम्बन्ध। इनमें शुद्ध ब्रह्म ही उस समय जीव कहा जाता है, जब वह कार्य [उत्पन्न अन्तःकरण] उपाधि से उपहित होता है; तथा उस समय ईश्वर कहा जाता है जब कारण [अविद्या, माया] उपाधि से उपहित होता है। जब ये उपाधि नहीं रहतीं, तब शुद्धचेतन ब्रह्म अवशिष्ट रह जाता है। छह अनादि पदार्थों में शुद्धचेतन ब्रह्म अनादि अनन्त है, शेष पांच अनादि सान्त हैं।

इस मान्यता में अनेक आपत्तियां हैं, और बहुत कुछ विचारणीय है, पर अतिसंक्षेप से कतिपय बातें यहां प्रस्तुत की जाती हैं—

क—सब से प्रथम जीव के विषय में विवेचन करना है। ब्रह्म को उस समय जीव बताया गया, जब कार्य उपाधि से उपहित होता है। कार्य का अर्थ है—उत्पन्न होने वाला तत्त्व। जो उत्पन्न होने वाला है, वह अनादि कैसे ? यदि वह अनादि नहीं, तो जीव अनादि कैसे ? कार्य भी हो और अनादि भी हो, यह परस्पर सर्वथा विरुद्ध है। इस रूप में जीव की कल्पना सर्वथा असंगत है, इसलिये जीव तथा ब्रह्म को एक नहीं कहा जा सकता।

ख—कारण-उपाधि अविद्या अथवा माया है। इस अविद्या या माया के स्वरूप का निर्वचन शांकर मत में नहीं किया जा सका, इसलिये इसे अनिर्वचनीय कहा जाता है, पर फिर भी यह कारण तत्त्व है। यद्यपि शांकर मत में

यह कहा जाता है, कि अविद्या का ब्रह्म से भेद अथवा अभेद आदि का कथन नहीं किया जा सकता; पर वस्तुतः यह है—दुराग्रहमात्र। जब अविद्या को अनिर्वचनीय मान लिया गया, तो निश्चित है, कि वह ब्रह्म नहीं है। क्योंकि ब्रह्म कभी अनिर्वचनीय नहीं है। वह सच्चिदानन्द स्वरूप है। इसी आधार पर उसका निर्वचन किया जाता है। अविद्या या माया शांकर मत से कभी निर्वचनीय नहीं। तब इन दोनों का भेद स्पष्ट है। दोनों का अपना अस्तित्व है ऐसी स्थिति में शांकर मत की यह मान्यता भी असंगत हो जाती है, कि एक मात्र सत्ता ब्रह्म की है, अन्य कोई सत्ता नहीं।

कहा जा सकता है, कि अविद्या अथवा माया का वास्तविक अस्तित्व नहीं है, यह परिवर्तनशील अदलती-बदलती रहती है, जिस सत्ता की तीनों कालों में बाधा न हो, सदा अपने रूप में अवस्थित रहे, वही यथार्थ सत्ता है; वह केवल ब्रह्म है।

शांकर-मत का ऐसा कथन दोनों प्रकार से चिन्तनीय है। अविद्या अथवा माया का अस्तित्व भी त्रिकालावाध्य है। अविद्या कभी अपने स्वरूप का त्याग नहीं करती। परिवर्तन अथवा परिणाम तो उसका स्वरूप ही है, यदि अनिर्वचनीय कहा जाय, तो वह भी उसका स्वरूप है। वह तीनों कालों में कभी अपने ऐसे स्वरूप का परित्याग नहीं करती। दूसरे प्रकार से यह कथन इस रूप में असंगत है, कि शांकर मत में ब्रह्म का परिणाम जगत् माना गया है, तब ब्रह्म भी अविद्या के समान परिणामी अथवा परिवर्तनशील क्यों न माना जायगा। ब्रह्म को उपादान मानकर मुंह से भले ही यह कहा जाता रहे, कि उसमें किसी प्रकार का परिणाम नहीं होता, पर ये दोनों कथन परस्पर विरुद्ध हैं, कि उसे उपादान भी माना जाय और अपरिणामी भी।

फिर अविद्या को अनादि सान्त माना गया। जगत् का कारण होते हुए यह सान्त कैसे है? यह बात शांकर मत में सर्वथा स्पष्ट नहीं है। कहा जाता है, कि ब्रह्मज्ञान हो जाने पर अविद्या नष्ट हो जाती है, ब्रह्म स्वरूप में अवस्थित रहता है। यद्यपि इस कथन में —ब्रह्म का ज्ञान किसको होता है? यदि ब्रह्म को, तो क्या ब्रह्म अभी तक अज्ञानी था? यदि था, तो सर्वज्ञ ब्रह्म अज्ञानी कैसे हुआ? माया के सम्पर्क से कहा जाय, तो अचेतन माया सर्वज्ञ

सर्व शक्तिमान् ब्रह्म को कैसे अभिभूत कर लेती है? इत्यादि विकल्पों का कोई सन्तोषजनक समाधान शांकर मत में नहीं है, फिर भी यह मानकर आगे विचार करते हैं, कि ब्रह्मज्ञान हो जाने पर ज्ञानी मुक्त हो जाता है, और माया का अन्त, इसलिये माया या अविद्या को सान्त माना गया है, पर इस विषय में यह सोचने की बात है, कि यह सृष्टि क्रम अनादि काल से चला आता है, इस काल में अनेकानेक ज्ञानी मुक्त हुए होंगे, परन्तु अविद्या का पसारा उसी तरह चालू है, इसमें कोई अन्तर नहीं, संसारचक्र बराबर चला आ रहा है, जो शांकरमत में अविद्या के कारण है। अनादिकाल से आज तक जैसे यह अपनी स्थिति में बराबर विद्यमान है, ऐसे ही अनन्तकाल तक विद्यमान रह सकता है, इसमें कोई बाधा आती नहीं दीखती, तब अविद्या को सान्त कहना असंगत है।

कहा जाता है, कि अविद्या के दो भेद हैं—मूला अविद्या और तूला अविद्या। तूला अविद्या प्रतिव्यक्ति नियत है, व्यक्ति का मोक्ष होने पर उसका नाश हो जाता है, मूला अविद्या के कारण संसारचक्र चालू रहता है। संसार का क्रम क्योंकि सदा बना रहता है, इसलिये मूला अविद्या को अनादि अनन्त मानना ही चाहिये। अगत्या ऐसा मानने पर केवल ब्रह्म का अनादि अनन्त अस्तित्व न रहकर अविद्या का भी हो जाता है। वस्तुतः शांकरमत में जगत् के उपादान कारण प्रकृति को ही 'अविद्या' नाम दिया गया है, और उसको जगत् की उपादान कारणता से हटाया नहीं जासका। ब्रह्म को उपादान कहना तो दुराग्रहमात्र है, यह आगे 'विवर्त्तवाद' के प्रसंग में स्पष्ट होगा। इस प्रकार छह पदार्थों के अनादि होने का शांकरवाद अत्यन्त शिथिल है।

अध्यास का विवेचन—

शांकरमत के आचार्यों का कहना है, कि जीव एवं संसार आदि की प्रतीति अध्यास अथवा अध्यारोप के कारण होती है। ब्रह्म में जीव आदि का अध्यारोप होने से जीवादि का अस्तित्व भासता है, वास्तविक सत्ता इनकी कुछ नहीं है! अध्यास का स्वरूप बतलाया—'वस्तुनि अवस्त्वारोपणमध्यासः।' वस्तु में जो अवस्तु का आरोप किया जाय, वही अध्यास है। जैसे रज्जु में सर्प का आरोप होता है। रज्जु वस्तु भूत है, सर्प वहाँ नहीं है, पर प्रतीत होता है, ऐसी ही प्रतीति जीव आदि की है, जिस प्रकार रज्जु आधार का टेढ़ा-मेढ़ा पड़े

रहना अन्धकार सा होने पर सर्प प्रतीति का प्रतीक है, इसी प्रकार ब्रह्म आधार में अन्त:करण एवं माया का सम्बन्ध जीव एवं संसार की प्रतीति का प्रयोजक होता है, वस्तुत: इनकी अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

विचारणीय है कि अध्यास के लक्षण में जो 'वस्तु में अवस्तु का आरोप' कहा गया, उसका क्या तात्पर्य है। इसके अनुसार रज्जु वस्तु है और सर्प अवस्तु है। सोचिये, क्या सर्प सर्वथा अवस्तु है, या रज्जु रूप से अवस्तु है? आप यह निश्चित रूप से समझ सकेंगे, कि सर्प सर्वथा अवस्तु नहीं है। यदि ऐसा सत्य होता, तो उससे भय आदि का होना, और उस रूप में प्रतीति होना भी सर्वथा असम्भव होता। सर्प का सच्चा अस्तित्व विद्यमान है, उससे होने वाले कष्ट या हानि का भी ज्ञान है, तब उसे सर्वथा अवस्तु मानना कैसे सच व सम्भव हो सकता है। यदि रज्जु रूप से सर्प अवस्तु है, तो सर्प रूप से सर्प का वस्तु होना स्वीकार कर लिया। एक वस्तु के रूप में अन्य वस्तुओं का न होना उनके अवस्तु माने जाने का साधक नहीं है, अन्यथा प्रत्येक वस्तु अवस्तु कही जा सकेगी। तब ब्रह्म भी अवस्तु होगा, क्योंकि माया अथवा जड़-रूप से उसका अवस्तु होना माना जा सकेगा।

और सोचिये, रज्जु में सर्प की ही प्रतीति क्यों होती है? जैसा रज्जुरूप से सर्प अवस्तु है, ऐसे घड़ा, घोड़ा, और भैंस भी अवस्तु हैं, उनकी प्रतीति वहाँ क्यों नहीं होती? कहना होगा, कोई ऐसे समान धर्म रज्जु में हैं, जो सर्प में प्रथम देखे गये हैं, वे यहाँ सर्प की प्रतीति कराने में सहायक होते हैं। अन्य घोड़ा, भैंस आदि की नहीं, यह व्यवस्था निश्चय कराती है, कि रज्जु और सर्प दोनों वस्तु भूत हैं, इनमें अवस्तु कोई नहीं हैं। फिर जीव तथा ब्रह्म के विषय में ऐसी समानता को निभाने वाला कौन है? अन्त:करण दोनों के बीच में इस कड़ी का जोड़ने वाला कहा जा सकता है, अन्त:करण के विषय में छह अनादि पदार्थों के विवेचन के अन्तर्गत कहा जा चुका है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार कड़ी जोड़ना जीव की स्वतन्त्र सत्ता को ही सिद्ध करता है। फिर अन्त:करण का सम्बन्ध ब्रह्म से कैसा? यह जीवात्मा का अपना साधन है। ब्रह्म सर्वव्यापक प्रत्येक वस्तु के साथ सम्बन्ध रखता है, वह किसी ऐसे

सम्बन्ध से इस प्रकार प्रभावित नहीं होता, कि उसका स्वरूप ही परिवर्तित हो जाय, या वह स्वयं अन्यथा प्रतीत होने लगे। हम विश्व के रूप में उसकी विभूति, कृपा, एवं अनुपम अनुग्रह आदि का बखान अपनी भावनाओं के अनुसार कर सकते हैं, और यह बखान भी, बखान करने वाले को तथा विश्व को उससे पृथक् व भिन्न सिद्ध करने में सहायक होता है। यदि सच देखा जाय, तो ब्रह्म में जीव का अध्यास नहीं, यह कुछ अज्ञानियों ने जीव में ब्रह्म का अध्यास कर लिया है, और अपने आप को ब्रह्म कहते फिरते हैं। क्या यह ब्रह्म की मखौल उड़ाना नहीं है ? समझना चाहिये, कि ब्रह्म और जीव की सत्ता एक नहीं है। दोनों अतिरिक्त तत्व हैं, समस्त शास्त्रों में इन दोनों का साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों द्वारा किया गया वर्णन इनके भिन्न होने में सबल प्रमाण है।

ग—अनादि जीव की स्वतन्त्र वस्तुभूत सत्ता इस तथ्य को स्पष्ट करती है, कि उसका अन्त कभी नहीं हो सकता। मोक्ष होने पर भी जीव अपने रूप में बना रहता है, वह स्वरूप को छोड़ कर ब्रह्म नहीं बन जाता, अथवा ब्रह्मरूप नहीं हो जाता, वेदान्त सूत्रों [४।४।] में इस स्थिति को स्पष्ट किया है। आचार्य शंकर ने भी उसका अन्यथा प्रतिपादन नहीं किया। अत: जीव को सान्त कहना अप्रामाणिक है। ईश्वर की स्थिति शुद्धचित् अथवा ब्रह्म से अतिरिक्त कोई नहीं। शुद्धचित् का ही माया अथवा अविद्या से अनादि सम्वन्ध बताया गया है, यह सम्बन्ध इस सचाई को प्रकट करता है, कि ब्रह्म माया [प्रकृति] से जगत् को परिणत करता है। जगत् के सर्ग-स्थिति-प्रलय में व्यापृत ब्रह्म को ईश्वर नाम से कहा गया है। जगत् विषयक यह व्यापार अनादि अनन्त है; ऐसी स्थिति में न तो ब्रह्म और माया [अविद्या =प्रकृति] के सम्बन्ध को सान्त माना जा सकता है, और न ब्रह्म तथा ईश्वर को अलग-अलग। इस प्रकार अनादि पदार्थ केवल तीन रह जाते हैं—जीव, ब्रह्म तथा अविद्या। न केवल ये अनादि हैं, प्रत्युत अनन्त भी हैं।

३—जगत् मिथ्या है, इसकी यथार्थ सत्ता कुछ नहीं

सोचना चाहिये, यथार्थ सत्ता किसे कहा जाता है ? बताया गया ... त्रिकालाबाध्य है, उसकी सत्ता यथार्थ है, सत्य है। तीनों कालों में ...

न हो, एक रूप रहे, वही सत्ता यथार्थ है। ऐसी सत्ता केवल ब्रह्म है, जगत् की बाधा होती है, यह परिणामी-परिवर्तनशील है, ब्रह्म साक्षात्कार हो जाने पर इसकी बाधा हो जाती है। साक्षात्कर्त्ता के लिये यह नहीं के बराबर है, अतः बाधित है।

विचार कीजिये, जगत् यथार्थ सत्ता की परिभाषा में कैसे नहीं आता। जगत् वस्तुतः कार्य तत्त्व है, अपने किसी मूल कारण से इस रूप में आया है। कार्यवस्तु अवश्य परिणामी अथवा परिवर्तनशील रहती है। यह उसका स्वरूप है, यह स्थिति या यह स्वरूप इसका कभी छूटता नहीं। एक वस्तु परिणामी है, एक अपरिणामी है; दोनों की अपनी स्थिति है, दोनों अपने स्वरूप का परित्याग कभी नहीं करतीं, तब उन दोनों की सत्ता को यथार्थ क्यों नहीं माना जाय। उनमें से किसी एक को सत्य और दूसरे को मिथ्या कहना अप्रामाणिक है, जब कि समान रूप से दोनों स्वरूप का परित्याग कभी नहीं करतीं। इसलिये केवल परिणामी होने से जगत् मिथ्या है, यह कथन मिथ्या है।

यह सब को अभिमत है, कि जगत् कार्य है, अपने किसी मूलकारण से इस रूप में परिणत हुआ है। कारण यद्यपि अनेक प्रकार के माने गये हैं, यहाँ केवल उपादान कारण से अभिप्राय है। कहा जाता है, कि जगत् और जगत् का कारण इसलिये मिथ्या है, कि वह बाधित हो जाता है। आचार्य शंकर ने जगत् का उपादान कारण ब्रह्म को माना है, तो उसी के नियम के अनुसार अब ब्रह्म को मिथ्या जानना चाहिये, क्योंकि जगत् और जगत् का कारण मिथ्या है। ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानकर उसे परिणामी होने से कैसे बचाया जा सकता है? कहा गया, कि यह सब माया अथवा अविद्या का प्रभाव है, उसीके द्वारा ब्रह्म इस रूप में आभासित होता है, अब सोचिये, जो वस्तु ब्रह्म को भी अन्यथा आभासित कर देती है, वह मिथ्या कैसे कही जा सकती है? वह तो सत्य से भी सत्य होनी चाहिये, जो 'सत्य' को भी प्रभावित कर देती है। फलतः जगत् की यथार्थता को चुनौती देना सर्वथा अयथार्थ है, जगत् की सत्ता ही तो ब्रह्म के अस्तित्व को प्रकट करती है। दोनों प्रकार की सत्ता अपने रूप में यथार्थ हैं, यही सत्य है।

सम्बन्ध से इस प्रकार प्रभावित नहीं होता, कि उसका स्वरूप ही परिवर्तित हो जाय, या वह स्वयं अन्यथा प्रतीत होने लगे। हम विश्व के रूप में उसकी विभूति, कृपा, एवं अनुपम अनुग्रह आदि का वखान अपनी भावनाओं के अनुसार कर सकते हैं, और यह बखान भी, वखान करने वाले को तथा विश्व को उससे पृथक् व भिन्न सिद्ध करने में सहायक होता है। यदि सच देखा जाय, तो ब्रह्म में जीव का अध्यास नहीं, यह कुछ अज्ञानियों ने जीव में ब्रह्म का अध्यास कर लिया है, और अपने आप को ब्रह्म कहते फिरते हैं। क्या यह ब्रह्म की मखौल उड़ाना नहीं है? समझना चाहिये, कि ब्रह्म और जीव की सत्ता एक नहीं है। दोनों अतिरिक्त तत्व हैं, समस्त शास्त्रों में इन दोनों का साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों द्वारा किया गया वर्णन इनके भिन्न होने में सबल प्रमाण है।

ग—अनादि जीव की स्वतन्त्र वस्तुभूत सत्ता इस तथ्य को स्पष्ट करती है, कि उसका अन्त कभी नहीं हो सकता। मोक्ष होने पर भी जीव अपने रूप में बना रहता है, वह स्वरूप को छोड़ कर ब्रह्म नहीं बन जाता, अथवा ब्रह्मरूप नहीं हो जाता, वेदान्त सूत्रों [४।४।] में इस स्थिति को स्पष्ट किया है। आचार्य शंकर ने भी उसका अन्यथा प्रतिपादन नहीं किया। अतः जीव को सान्त कहना अप्रामाणिक है। ईश्वर की स्थिति शुद्धचित् अथवा ब्रह्म से अतिरिक्त कोई नहीं। शुद्धचित् का ही माया अथवा अविद्या से अनादि सम्वन्ध वताया गया है, यह सम्बन्ध इस सचाई को प्रकट करता है, कि ब्रह्म माया [प्रकृति] से जगत् को परिणत करता है। जगत् के सर्ग-स्थिति-प्रलय में व्यापृत ब्रह्म को ईश्वर नाम से कहा गया है। जगत् विषयक यह व्यापार अनादि अनन्त है; ऐसी स्थिति में न तो ब्रह्म और माया [अविद्या = प्रकृति] के सम्बन्ध को सान्त माना जा सकता है, और न ब्रह्म तथा ईश्वर को अलग-अलग। इस प्रकार अनादि पदार्थ केवल तीन रह जाते हैं—जीव, ब्रह्म तथा अविद्या। न केवल ये अनादि हैं, प्रत्युत अनन्त भी हैं।

३—जगत् मिथ्या है, इसकी यथार्थ सत्ता कुछ नहीं

सोचना चाहिये, यथार्थ सत्ता किसे कहा जाता है? वताया गया, जो तत्व त्रिकालाबाध्य है, उसकी सत्ता यथार्थ है, सत्य है। तीनों कालों में जिसकी बाधा

न हो, एक रूप रहे, वही सत्ता यथार्थ है। ऐसी सत्ता केवल ब्रह्म है, जगत् की बाधा होती है, यह परिणामी-परिवर्तनशील है, ब्रह्म साक्षात्कार हो जाने पर इसकी बाधा हो जाती है। साक्षात्कर्त्ता के लिये यह नहीं के बराबर है, अतः बाधित है।

विचार कीजिये, जगत् यथार्थ सत्ता की परिभाषा में कैसे नहीं आता। जगत् वस्तुतः कार्य तत्त्व है, अपने किसी मूल कारण से इस रूप में आया है। कार्यवस्तु अवश्य परिणामी अथवा परिवर्तनशील रहती है। यह उसका स्वरूप है, यह स्थिति या यह स्वरूप इसका कभी छूटता नहीं। एक वस्तु परिणामी है, एक अपरिणामी है; दोनों की अपनी स्थिति है, दोनों अपने स्वरूप का परित्याग कभी नहीं करतीं, तब उन दोनों की सत्ता को यथार्थ क्यों नहीं माना जाय। उनमें से किसी एक को सत्य और दूसरे को मिथ्या कहना अप्रामाणिक है, जब कि समान रूप से दोनों स्वरूप का परित्याग कभी नहीं करतीं। इसलिये केवल परिणामी होने से जगत् मिथ्या है, यह कथन मिथ्या है।

यह सब को अभिमत है, कि जगत् कार्य है, अपने किसी मूलकारण से इस रूप में परिणत हुआ है। कारण यद्यपि अनेक प्रकार के माने गये हैं; यहां केवल उपादान कारण से अभिप्राय है। कहा जाता है, कि जगत् और जगत् का कारण इसलिये मिथ्या है, कि वह बाधित हो जाता है। आचार्य शंकर ने जगत् का उपादान कारण ब्रह्म को माना है, तो उसी के नियम के अनुसार अब ब्रह्म को मिथ्या जानना चाहिये, क्योंकि जगत् और जगत् का कारण मिथ्या है। ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानकर उसे परिणामी होने से कैसे बचाया जा सकता है? कहा गया, कि यह सब माया अथवा अविद्या का प्रभाव है, उसीके द्वारा ब्रह्म इस रूप में आभासित होता है, अब सोचिये, जो वस्तु ब्रह्म को भी अन्यथा आभासित कर देती है, वह मिथ्या कैसे कही जा सकती है? वह तो सत्य से भी सत्य होनी चाहिये, जो 'सत्य' को भी प्रभावित कर देती है। फलतः जगत् की यथार्थता को चुनौती देना सर्वथा अयथार्थ है, जगत् की सत्ता ही तो ब्रह्म के अस्तित्व को प्रकट करती है। दोनों प्रकार की सत्ता अपने रूप में यथार्थ हैं, यही सत्य है।

कहा जाता है, कि जगत् अनिर्वचनीय माया का परिणाम है, ब्रह्म का नहीं। ब्रह्म का तो यह विवर्त्त है, इसलिए जगत् के परिणामी होने से ब्रह्म पर उसका कोई प्रभाव नहीं, अनिर्वचनीय माया एवं उसका परिणाम जगत् मिथ्या रहे, ब्रह्म की सत्ता उससे अछूती रहेगी। उसे सत्य मानने में कोई बाधा नहीं। माया मिथ्या कैसे है ? आईये, इस पर थोड़ा विचार करें।

४- अनिर्वचनीय माया ब्रह्म को शक्ति है

माया को शांकर विचार से सत् या असत् अथवा सत् असत् उभयरूप और अनुभयरूप कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका इन विकल्पों में से किसी रूप में कथन या निर्वचन किया जाना अशक्य है, इसलिए उसका स्वरूप अनिर्वचनीय कहा गया है। अब प्रश्न होता है, उसकी स्थिति क्या है ? क्या वह कोई स्वतन्त्र तत्व है ? यदि ऐसा माना जाय, तो अद्वैत सिद्धान्त की हानि होती है; क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त एक स्वतन्त्र तत्त्व को स्वीकार किया जाता है। इसलिये माना गया, कि अनिर्वचनीय माया ब्रह्म की शक्ति है। यदि शक्ति और शक्तिमान् के सम्बन्ध पर विवेचन किया जाय, तो बहस लम्बी हो जाती है, फिर भी इतना समझना आवश्यक है, कि माया शक्ति को ब्रह्म से भिन्न माना जाय, तो द्वैत की आपत्ति होती है, यदि ब्रह्म का स्वरूप ही इसे माना जाय, तो भी संभव नहीं, क्योंकि ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है, और माया अनिर्वचनीय है; इन स्थितियों को एक नहीं कहा जा सकता। शांकरमत के आचार्यों ने यह ठीक किया है, कि उन्होंने माया को अनिर्वचनीय माना, उन्होंने इसे जिस रूप में प्रस्तुत किया है, उसका उपपादन सरल नहीं, इसलिये अपने ही वाग्जाल में से अपने आपको सुरक्षित बचाने के लिए उन्होंने यह सीधा रास्ता अपना लिया है, कि उसे अनिर्वचनीय मान लिया जाय। यह एक बड़ी आश्चर्य की बात है, कि ब्रह्म को तो इन्होंने बड़ी आसानी से पहचान लिया, पर उसकी चेरी माया हाथ न आई, वह इन्हें जुल देती रही।

ब्रह्म की शक्ति के रूप में माया उसका स्वरूप नहीं है, यह उक्त विवेचन से स्पष्ट है। बाह्य साधन भी किसी के सामर्थ्य या शक्ति के रूप में व्यवहृत होता है। राजा की बलिष्ठ सेना, अतुल सम्पत्ति, प्रजा की अनुकूलता, सन्तान की पितृ-

शक्ति राजा की शक्ति है। इसको राजा का अभिन्नरूप नहीं कहा जा सकता। परमेश्वर द्वारा जगत् बनाये जाने का साधन माया अथवा प्रकृति है। ब्रह्म माया [प्रकृति] से जगत् को परिणत करता है; इस प्रकार माया ब्रह्म की शक्ति कही जा सकती है। परमेश्वर को सर्वशक्तिमान् माने जाने का केवल इतना तात्पर्य है, कि माया से जगत्परिणति में निर्माता रूप से उसे अन्य किसी के सहयोग की अपेक्षा नहीं रहती। अनन्त विश्व का निर्माण और संचालन उसकी सर्वशक्तिमत्ता का एक ज्वलन्त प्रमाण है। ब्रह्म से भिन्न माया को अनिर्वचनीय मानकर भी उसे मिथ्या या तुच्छ नहीं कहा जा सकता। जैसे पहले कहा गया—सत्य वह वस्तु है जो सदा एक रूप रहे, अपने उस रूप का कभी परित्याग न करे। माया ऐसा ही तत्त्व है, वह अपने अनिर्वचनीय रूप का कभी परित्याग नहीं करती। वह चाहे सत् है असत् है उभयरूप या अनुभयरूप है अथवा इससे विपरीत है, जैसी भी है, वह सदा वैसी ही रहती है, उस स्वरूप को कभी छोड़ती नहीं, तब वह भी ब्रह्म की तरह सत्य क्यों नहीं? फलतः माया जगन्निर्माण के लिए साधन के रूप में ब्रह्म की शक्ति है। इस स्थिति का अपलाप करने में आचार्य शंकर को भी सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। अनथक प्रयास करने पर भी आचार्य ब्रह्म से माया का पीछा नहीं छुड़ा सका, यह कैसी अद्वैत ?

५—विवर्त्तवाद

शांकरमत के अनुसार सृष्टि प्रक्रिया के वर्णन में 'परिणाम' और 'विवर्त्त' इन दो पदों का प्रयोग किया जाता है। कारण के समान विकार 'परिणाम' और विषय विकार 'विवर्त्त' कहा जाता है। यह जगत् अशुद्ध, अचेतन, परिणामी, अनिर्वचनीय अथवा त्रिगुणात्मक माया का परिणाम है; क्योंकि माया के अशुद्धि आदि धर्म इसमें भी समानरूप से विद्यमान हैं। परन्तु यही जगत् शुद्ध, चेतन, अपरिणामी, सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म का 'विवर्त्त' है, क्योंकि उसके धर्म दिखाई नहीं देते।

यह वाद केवल इस प्रयोजन के लिए खड़ा किया गया है, कि जगत् के अनुपादान भी ब्रह्म को बलात् उपादान कारण कहा जा सके। जगत् ब्रह्म का विवर्त्त है, अर्थात् विषम विकार है, इसका स्पष्ट अर्थ यही है, कि वह जगत्

का उपादान कारण नहीं है। कुम्भकार का विषम विकार घट को, शिल्पी का भवन को, तन्तुवाय का वस्त्र को जैसे कहा जा सकता है, वैसे ही ब्रह्म का जगत् विकार है, तो इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि कार्य के निमित्त कारण को उपादान पद देने के लिए यह प्रयास है। घट आदि के कारण कुम्भकार आदि हैं, इससे किसी को नकार नहीं है। पर यह निश्चित है, कि घट आदि के जैसे कारण मृत्तिका आदि हैं, वैसे कुम्भकार आदि नहीं हैं। इसलिए उनको [मृत्तिका और कुम्भकार को] कारणता के एक वर्ग में अथवा एक स्तर पर नहीं रक्खा जा सकता। इनको आचार्य भी एक स्तर पर नहीं ला सका, उनकी विभिन्न स्थिति के लिए सम-विषम विकार का भेद कहना पड़ा। फिर भी ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण कहते रहना दुराग्रह-मात्र ही है। विवर्त्त की दीवार भी खिसकती नजर आई, उक्त मान्यता में कुछ सहारा न दे सकी।

६— स्वप्न, रज्जु में सर्प आदि दृष्टान्त

कतिपय ऐसे दृष्टान्त छांटे गये हैं, जिनका उपयोग शांकरमत की पुष्टि के लिए किया जाता है। ये सब भ्रमस्थल है। इनमें जो प्रतीति होती हैं, उनको मिथ्या अथवा कल्पनामूलक कहा जाता है। लोक-व्यवहार में जो तथा-कथित सत्य प्रतीति हैं, उनके साथ भ्रमस्थल-प्रतीतियों का मेल नहीं होता। इसलिए इनके मुकाबले में उन्हें मिथ्या कहा जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान की अवस्था में सच्चा दीखने वाला लोक व्यवहार भी मिथ्या प्रतीत होता है। इन आधारों पर संसार का मिथ्यात्व प्रकट किया जाता है। ऐसे दृष्टान्तों में एक 'स्वप्न' है। स्वप्न में जो प्रतीति होती हैं, उनका सर्वात्मना मेल जाग्रत के साथ नहीं होता। यद्यपि कुछ-कुछ जाग्रत अवस्था की प्रतीतियों के समान स्वप्न में प्रतीति होती हैं, पर वहां कोई क्रम, कोई व्यवस्था जाग्रत के समान किसी कार्य के फलाफल का साम्य नहीं रहता। जाग्रत में आप हाथी पर कभी सवार नहीं हुए, पर स्वप्न में ऐसा प्रतीत हो जाता है। आप पानी में कभी डूबे नहीं, स्वप्न में यह दीखता है, और पर्याप्त समय तक। जाग्रत में इसका परिणाम निश्चित मृत्यु है. स्वप्न में कुछ नहीं, देह के अन्दर ही नदीनाले, पहाड़, विशाल

नगर, सड़कें, मैदान प्रतीत होते हैं, ऐसी स्थिति में इन प्रतीतियों को सत्य कैसे माना जाय? यह सब केवल मन की कल्पना का परिणाम है। इसी प्रकार ब्रह्म के संकल्प का परिणाम जगत् है, वह भी स्वप्न के समान मिथ्या माना जाना चाहिए।

दूसरे विचारकों ने स्वप्न की स्थिति को अन्य रूप में प्रस्तुत किया है। उनका कहना है, कि जाग्रत अवस्था में जो अनुभव किया जाता है, स्वप्न में वही स्मृति रूप में उभर आता है, पर निद्रा आदि दोषों के कारण उसमें व्यवस्था व क्रमिकता आदि की प्रतीति नहीं हो पाती। बौद्धों के साथ विचार में इस विषय की उनकी युक्तियों से तंग आकर आचार्य शंकर ने स्वयं एक स्थल [ब्रह्म सूत्र २।२।२९] पर स्वप्न को स्मृति मानकर उनसे अपना पीछा छुड़ाया है। विचारकों ने इस तथ्य का निश्चय किया है, कि स्वप्न द्रष्टा को जाग्रत में अनुभूत पदार्थों का ही स्वप्न में प्रत्यय होता है, इसलिए यह प्रत्यय स्मृति से अतिरिक्त अन्य नहीं समझना चाहिए। यही कारण है, कि जन्मान्ध व्यक्ति को कभी देखने का स्वप्न नहीं आता, यदि स्वप्न को स्मृति माना जाता है—जो मानना प्रामाणिक है—तो यह दृष्टान्त शांकरमत का पोषक नहीं रहता। कारण यह है, कि स्मृति सदा अनुभव पर आश्रित रहती है। स्वप्न के समान मिथ्या जगत् के लिए अनुभव स्थानीय सत्य जगत् का मानना तब आवश्यक होगा। उस अवस्था में अद्वैत सिद्धान्त अपकृत हो जाता है।

दूसरा दृष्टान्त 'रज्जु-सर्प' का है। इस विषय में पहले निर्देश कर दिया गया है। यदि सच्चे सर्प का प्रत्यय पहले न हो, तो रज्जु में सर्प की प्रतीति असम्भव है। यदि रज्जु में सर्प के समान ब्रह्म में जगत् का अध्यास है, तो प्रथम सच्चे जगत् का अस्तित्व स्वतः सिद्ध होजाता है, अन्यथा दृष्टान्त की समता को तिलाञ्जलि देनी होगी, और ऐसे दृष्टान्त को प्रस्तुत करना व्यर्थ होगा। माया [जादूगरी], गन्धर्वनगर, मृगतृष्णिका आदि सभी दृष्टान्तों में यही स्थिति है। पहले सच्चे रूप में अनुभूत वस्तु का ही इन स्थलों में प्रत्यय होता है। ऐसा कोई प्रत्यय नहीं होता, जिसके विषय में प्रत्येता को प्रथम जानकारी न रही हो। इसलिए अद्वैत की सिद्धि में ये कारगर नहीं कहे जा सकते।

ब्रह्म सूत्रों में ब्रह्म–जीव भेद का निरूपण

वेदान्त दर्शन में अनेक ऐसे सूत्र हैं, जिनके द्वारा ब्रह्म और जीव के भेद का प्रतिपादन किया गया है, जबकि कहा यह जाता है, कि वेदान्त अद्वैत का प्रतिपादन करता है। यह एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है, कि ऐसे सूत्रों का अर्थ आचार्य शंकर ने भी भेदपरक ही किया है। साम्प्रदायिक विद्वानों का कहना है, कि आचार्य का तात्पर्य व्यवहार दशा में भेद का निर्देश करना है, जीव के मुक्त हो जाने पर वह स्थिति नहीं रहती, उस परमार्थ अवस्था में जीव-ब्रह्म की एकता निःसन्दिग्ध है। पर ब्रह्म सूत्रों के अनुसार ही आचार्य शंकर ने स्वयं इस बात को नहीं माना है। जीवात्मा मुक्त हो जाने पर भी जगद्रचना आदि व्यापार में कभी ब्रह्म के स्तर पर नहीं आता, इस तथ्य को सूत्रकार के अतिरिक्त भाष्यकार आचार्य शंकर ने भी स्वीकार किया है। तब भेद प्रतिपादक सूत्रों में केवल व्यवहार दशा का निर्देश है, यह कथन सर्वथा निराधार होजाता है। इस विषय में वेदान्त के निम्नलिखित सूत्रों को देखा व विचारा जा सकता है।

नेतरोऽनुपपत्ते : ॥ १ । १ । १६ ॥
भेदव्यपदेशाच्च ॥ १ । १ । १७ ॥
विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥ १ । २ । २२ ॥
अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ १ । १ । २० ॥
भेदव्यपदेशाच्चान्य : ॥ १ । १ । २१ ॥
गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ १ । २ । ११ ॥
अनुपपत्तेस्तु न शारीर : ॥ १ । २ । ३ ॥
कर्म कर्तृव्यपदेशाच्च ॥ १ । २ । ४ ॥
अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥ १ । २ । १८ ॥
शारीरश्चोभये ऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥ १ । २ । २० ॥
जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसं निहितत्वाच्च ॥ ४ । ४ । १७ ॥

निगमन

उक्त वेदान्त सूत्रों के आधार पर स्वरूप से ही जीव और ब्रह्म का भेद सिद्ध होता है। उपक्रम और उपसंहार अर्थात् जगत् का प्रारम्भ और प्रलय भी ब्रह्म में बताकर अद्वैत की सिद्धि संभव नहीं। कारण यह है, कि वेदादि

सत्यशास्त्रों में ब्रह्म को उत्पाद-विनाश रहित प्रतिपादन किया है। यदि ब्रह्म ही जगद्रूप में प्रकट होता है, उसी में यह जगत् लीन होता है, यह माना जाय, तो यह मानना वेद विरुद्ध होगा। ब्रह्म निर्विकार, अपरिणामी, शुद्ध, सनातन, निर्भ्रान्तत्व आदि विशेषण युक्त माना गया है, उसमें विकार, उत्पत्ति और अज्ञान आदि का सम्भव किसी प्रकार नहीं हो सकता। प्रलय काल में ब्रह्म, जीव और जगत् का मूल कारण उपादान प्रकृति बराबर बने रहते हैं। फलतः उपक्रम-उपसंहार के आधार पर अद्वैत की सिद्धि सम्भव नहीं। शांकरमत की इस प्रकार की सब कल्पना असत्य एवं निराधार हैं।

सत्यार्थ प्रकाश की महत्ता

[प्रकाशचन्द्र कविरत्न]

हो वर वेद से वञ्चित आर्य,
लगाते गप्पाष्टक गर्त्त में गोता।
सत्य, असत्य का पारखी लाखों में,
होता कोई पटु पाठक, श्रोता।
आश पराई सदा करते, जिमि,
पिञ्जर-बद्ध पराश्रित तोता।
चेतना आती न भारत में, यदि,
ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश न होता।

कोटि-कोटि जनगण-जीवन-सुधारक है,
परम प्रचारक सुमति, सत्य-कान्ति का।
विविध मतों का है समीक्षक भी जिससे कि,
सत्य का प्रसारण, निवारण हो भ्रान्ति का।
वैदिक-सिद्धान्त-प्रतिपादित, पुनीत प्रिय,
पाठ ये प्रत्येक को पढ़ाता ऐक्य शान्ति का।
भारत का भाग्योदय करने महर्षि का ये,
सत्यार्थ-प्रकाश बना अग्रदूत क्रान्ति का।

मूर्ति पूजा विवेचन

पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०

○ ○ ○

भारत जैसे उन्नत, सब विधि सम्पन्न राष्ट्र के पतन का बड़ा कारण है मूर्तिपूजा। अज्ञान, अन्धकार, अंध-विश्वास गुरुडम की यह पहली सीढ़ी मनुष्य को लक्ष्य से भटकाने का प्रबल साधन है। प्रसिद्ध विचारक और विद्वान् लेखक ने सरल, सफल और हृदयग्राही ढंग से इस "विष" को छोड़ने की प्रेरणा की है। —सम्पादक

○ ○ ○

प्रश्न—देखो! वेद अनादि हैं, उस समय मूर्ति का क्या काम था? क्योंकि पहले तो देवता प्रत्यक्ष थे! यह रीति तो पीछे से तन्त्र और पुराणों से चली है। जब मनुष्यों का ज्ञान और सामर्थ्य न्यून हो गया तो परमेश्वर को ध्यान में नहीं ला सके, और मूर्ति का ध्यान तो कर सकते हैं, इस कारण अज्ञानियों के लिये मूर्ति पूजा है। क्योंकि सीढ़ी-सीढ़ी से चढ़े तो भवन पर पहुँच जाय। पहली सीढ़ी छोड़कर ऊपर जाना चाहे तो नहीं चढ़ सकता। इसलिये मूर्ति प्रथम सीढ़ी है। इसको पूजते-पूजते जब ज्ञान होगा और अन्तःकरण पवित्र होगा तब परमात्मा का ध्यान कर सकेगा। जैसे लक्ष्य का मारने वाला प्रथम स्थूल लक्ष्य में तीर, गोली या गोला आदि मारता-मारता पश्चात् सूक्ष्म में भी निशाना मार सकता है वैसे स्थूल मूर्ति की पूजा करता-करता पुनः सूक्ष्म ब्रह्म को भी प्राप्त होता है। जैसे लड़कियां गुड़ियों का खेल तब तक

करती हैं कि जब तक सच्चे पति को प्राप्त नहीं होतीं, इत्यादि प्रकार से मूर्ति-पूजा करना दुष्ट काम नहीं।

उत्तर—जब वेदविहित धर्म और वेदविरुद्धाचरण में अधर्म है तो पुनः तुम्हारे कहने में भी मूर्ति पूजा करना अधर्म ठहरा। जो-जो ग्रन्थ वेद के विरुद्ध हैं, उन उन का प्रमाण करना जानो नास्तिक होना है। सुनोः—

नास्तिको वेदनिन्दकः ॥१॥ [मनुः २।११]
यो वेद बाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥२॥
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥३॥
मनु० अ० १२ [९५-९६]

मनु जी कहते हैं कि जो वेदों की निन्दा अर्थात् अपमान, त्याग, विरुद्धाचरण करता है वह नास्तिक कहाता है ॥१॥ जो ग्रन्थ वेदबाह्य, कुत्सित पुरुषों के बनाये संसार को दुःख सागर में डुबाने वाले हैं वे सब निष्फल, असत्य, अन्धकार रूप, इस लोक और परलोक में दुःखदायक है ॥२॥ जो इन वेदों के विरुद्ध ग्रन्थ उत्पन्न होते हैं आधुनिक होने से शीघ्र नष्ट हो जाते हैं उनका मानना निष्फल और झूठा है ॥३॥ इसी प्रकार ब्रह्मा से लेकर जैमिनि महर्षि पर्यन्त का मत है कि वेदविरुद्ध को न मानना किन्तु वेदानुकूल ही का आचरण करना धर्म है वे क्यों ? वेद सत्यार्थ का प्रतिपादक है। इससे विरुद्ध जितने तन्त्र और पुराण हैं, वेदविरुद्ध होने से झूठे हैं जो कि वेद से विरुद्ध पुस्तकें हैं, इन में कही हुई मूर्ति पूजा भी अधर्मरूप है। मनुष्यों का ज्ञान जड़ की पूजा से नहीं बढ़ सकता किन्तु जो कुछ ज्ञान है वह भी नष्ट हो जाता है। इसलिए ज्ञानियों की सेवा-संघ से ज्ञान बढ़ता है, पाषाणादि से नहीं। क्या पाषाणादि मूर्ति पूजा से परमेश्वर को ध्यान में कभी ला सकता है ? नहीं नहीं मूर्तिपूजा सीढ़ी नहीं, किन्तु एक बड़ी खाई है जिस में गिरकर चकना चूर हो जाता है। पुन. उस खाई से निकल नहीं सकता किन्तु उसी में मर जाता है। हाँ। छोटे धार्मिक विद्वानों से लेकर परम विद्वान योगियों के संग से सद्विद्या और सत्यभाषणादि परमेश्वर की प्राप्ति की सीढ़ियां हैं। जैसे ऊपर घर में

जाने की नि:श्रेणी होती है। किन्तु मूर्तिपूजा करते-करते ज्ञानी तो न हुआ प्रत्युत सब मूर्तिपूजक अज्ञानी रहकर मनुष्य जन्म व्यर्थ खोकर के बहुत २ से मर गये और जो अब हैं वा होंगे वे भी मनुष्य जन्म के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्तिरूप फलों से विमुख होकर निरर्थक नष्ट हो जायेंगे। मूर्तिपूजा ब्रह्म की प्राप्ति में स्थूल लक्ष्यवत् नहीं किन्तु धार्मिक विद्वान् और सृष्टि विद्या है। इसको बढ़ाता-बढ़ाता ब्रह्म को भी पाता है। और मूर्ति गुड़ियों के खेलवत् नहीं किन्तु प्रथम अक्षराभ्यास सुशिक्षा का होना गुड़ियों के खेलवत् ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है। सुनिये ! जब अच्छी शिक्षा और विद्या को प्राप्त होगा तब सच्चे स्वामी परमात्मा को भी प्राप्त हो जायगा।

(सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ११)

उपासकों के दो वर्ग हैं। एक जो मूर्ति पूजा को उपासना का साधन समझते हैं और दूसरा वह वर्ग है जो मूर्तिपूजा को न केवल ईश्वरोपासना का ही बाधक समझता है अपितु सब प्रकार की मनुष्य की उन्नति का घोर बाधक मानता है।

ऋषि दयानन्द ने ऊपर दिये प्रश्न और उत्तर में समासरूप से दोनों पक्षों की युक्तियों को बड़ी उत्तमता से वर्णन कर दिया है। इनमें उन सब युक्तियों का समावेश है जो समय-समय पर मूर्तिपूजक विद्वान दिया करते हैं, आधुनिक काल में मूर्तिपूजा के अभ्यस्त कुछ कुछ साइंस और दर्शन के सुविज्ञ भी अपनी चिरकाल की प्रवृत्तियों के वशी भूत होकर मूर्तिपूजा को संसार में जीवित रखने के लिए बाल की खाल निकालते पाये जाते हैं। अधिकांश पुजारियों की जीविका ही मूर्तिपूजा पर चलती है। ये पुजारि न केवल सच्ची पूजा (ईश्वरोपासना) के ही 'अरि' अर्थात् शत्रु हैं अपितु स्वयं निठल्ला जीवन व्यतीत करने और मूर्तिपूजकों की कमाई को अनुचित रीति से खाने के कारण मानवसमाज के भी वैरी हैं। इसलिए मूर्तिपूजा केवल अज्ञानियों के लिए ही नहीं है अपितु बड़े से बड़े विद्वान भी इस कीचड़ में फंसे पाये जाते हैं। स्वामी दयानन्द से इसको खाई कहा है। यह सत्य ही है, इसमें चकनाचूर होते स्वामी दयानन्द ने भी बड़े-बड़े पण्डितों को देखा और आप भी देख सकते हैं। किसी मन्दिर में चले जाइये। बड़े,बड़े विद्वान प्रोफेसर, जज, मिनिस्टर, संस्कृतज्ञ,

महावैयाकरण, नैयायिक, वेदान्ती, याज्ञिक, वकील-बैरिष्टर नंगे पैरों, हाथों में माला लिए उसी प्रकार मूर्ति के समक्ष दण्डवत् करते पाये जायेंगे जैसे गाँवों के अपढ़ अज्ञानी । यदि मूर्तिपूजा ब्रह्म प्राप्ति की पहली सीढ़ी होती तो आज इन वृद्ध और समृद्ध जनों को पत्थरों के समक्ष सिर नवाने की आवश्यकता न होती, आज बड़े-बड़े महापुरुषों की अस्थियां गंगा में प्रवाहित होने के लिये आती हैं कि गंगा माई उनको स्वर्ग पहुँचा देगी । स्वामी दयानन्द ने तो जड़ गंगा द्वारा स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा नहीं की थी । क्या काशी के महापण्डित जिनको अपनी परा और अपरा विद्याओं का गर्व है विश्वनाथ की मूर्ति के समक्ष माथा टेकते हुये गुड़ियों की उपमा को भूल जाते हैं ? क्या कोई प्रौढ़ा स्त्री छोटी लड़कियों की भाँति अपने पति के स्थान में और उसके समक्ष एक गुड्डे को आरोपित करना पसन्द करेगी ? क्या समग्र आयु मूर्तियां पूजते भी अभी इनको इतना ज्ञान नहीं हुआ कि जिस ब्रह्म की प्राप्ति के लिए वे देवताओं की जड़ मूर्तियों का सहारा तकते हैं, उनके भवन में, उन के शरीर और मन में भी ईश्वर विद्यमान है । मूर्ति पूजा रूपी खाई में जो एक बार गिरा उसका निकलना कठिन है, यही तो ऋषि दयानन्द ने कहा था । जिन बौद्ध और जैनियों ने ईश्वर के कर्तृत्व से भी इनकार कर दिया, वह भी मूर्ति पूजा के गढ़े में पड़कर जैन मन्दिरों और बौद्ध मठों में जड़ मूर्तियों में मान्यता मानते देखे जाते हैं । जो ईसाई और मुसलमान मूर्ति भंजक कहलाना पसन्द करते हैं वह भी अनेक कष्ट सहकर मक्के के मन्दिर में काले पत्थर को चूमते और मन्दिर की परिक्रमा करते तथा ईसा आदि की मूर्तियां पूजते पाये जाते हैं । इसका एक मुख्य कारण यही है कि उन्होंने मूर्ति पूजा को ब्रह्म उपासना का साधन या स्थानापन्न समझ रक्खा है । वे समझते हैं कि जब पत्थर का दर्शन ही देव दर्शन है तो देवदर्शन के लिये योग का साधन व्यर्थ है ।

स्वामी दयानन्द लिखते हैं कि ब्रह्म-प्राप्ति की पहली सीढ़ी है अक्षराभ्यास अथवा विद्या-प्राप्ति । इस अर्थ में तो प्रत्येक छोटी-बड़ी पाठशाला मन्दिर है । वहां ज्ञान की वृद्धि होती है, प्रत्येक विज्ञान-प्रयोगशाला शिवालय है क्योंकि यहां परम कल्याण के दाता शिव के नियमों का परिज्ञान होता है ।

जितना धन और श्रम एक छोटे देवालय पर होता है, उतना एक पाठशाला के लिए पर्याप्त है। रामेश्वर या श्रीरङ्गम के मन्दिर पर जितना व्यय होता है उतने से विश्वविद्यालय चल सकते हैं। परन्तु जनता तथा नेताओं की शक्ति का परिशोषण तो मूर्तिपूजा कर रही है। जनता की गाढ़ी कमाई तो पाषाणमय कल्पित देवी देवताओं के शृङ्गार और उनके खाऊ पुजारियों की उदरपूर्ति में ही लग जाती है। एक बार एक दक्षिणी प्रसिद्ध मन्दिर के एक अध्यक्ष ने मुझ से प्रश्न किया था कि अपने हमारे विशाल मन्दिरों को देखकर क्या अनुमान किया। मैंने उत्तर दिया, "They are physical dark morally dark and socially dark. अर्थात् यह प्राकृतिक-तमोमय, आचारतमोमय और सामाजिक अन्धकार से भरपूर हैं। उन्होंने पूछा कैसे ?" मैंने कहा, "प्रतिमा-ग्रह में जब तक दीपक न जलाओ, कुछ दिखाई नहीं पड़ता। प्रतिमाओं के निकट रहने वाले पुजारी भ्रष्टाचार के लिये प्रसिद्ध हैं और अस्पृश्यता का तो इतना प्राबल्य है कि कोई उपासक ब्रह्म-प्राप्ति तो क्या साधारण मूर्तिदर्शन भी नहीं कर सकता।" दरिद्र से दरिद्र के पास ईश्वर है परन्तु मूर्तियों के स्थान से तो ईश्वर अत्यन्त दूर है।

स्वामी दयानन्द ने मूर्ति पूजा में सोलह दोष गिनाये हैं। यह सब देशों और युगों की मूर्ति पूजा में पाये जाते हैं, सब देश के विद्वानों ने मूर्ति पूजा के विरुद्ध आवाज उठाई। जौन विकलिफ ने जो ईसाइयों की मूर्तिपूजा का पहला विरोधी था प्रायः उसी प्रकार के दोष बताये हैं जो सत्यार्थप्रकाश में दिये हुये हैं। गुरुनानक आदि ने मूर्ति पूजा का विरोध किया। हिन्दुओं में एक पद प्रचलित है—"आत्मा में गंग बहे, क्यों न तू न्हाउ रे।' परन्तु इन सुधारकों ने स्वामी दयानन्द के समान रोग के मूल कारण पर प्रहार नहीं किया। लूथर ने मूर्ति खण्डन किया परन्तु ईसा के अवतार का खण्डन नहीं किया सन्त लोगों के शिष्य गुरुओं की मूर्तियों को पूजते रहे। जहाँ-जहाँ अवतारवाद और गुरुडम है, वहाँ-वहाँ मूर्तिपूजा रहेगी। स्वामी दयानन्द को मूर्ति पूजा का इतना कटु अनुभव था कि न उन्होंने मठ बनाया। न अपनी समाधि या स्मारक बनाने की अनुमति दी। आर्य समाज के नेताओं को यह बात ध्यान में रखनी चाहिये।

बहुत से लोग भक्ति और श्रद्धा के आवेश में आकर ऋषि दयानन्द के सम्बन्ध में अनेक लोकोत्तर चमत्कारों को सम्बद्ध करते हैं और यह प्रवृत्ति बहुत सी घटनाओं को गढ़ने में लगी हुई है। ऐसे लोगों का विचार है कि ऐसा करने से आर्य समाज का प्रचार बढ़ेगा। संभव है कि उनकी आशायें पूरी हो जायें। परन्तु मूर्ति पूजा के प्रचार में इससे सहायता मिलेगी। जिस रहस्य-वाद का इस युग में प्रचार होना आरम्भ हुआ है उसको देखते यह प्रतीत होता है कि २०६३ ई० तक यह नौबत आजायगी कि आर्या ललनाएं अपने बच्चों को टंकारा या अजमेर में मुण्डन के लिए ले जाया करेंगी और दयानन्द बाबा से मिन्नतें माँगा करेंगी। बर्मा और स्याम के बौद्ध मन्दिरों में मैंने बड़े-बड़े बौद्धों को ऐसा करते देखा है। यदि ऐसा हुआ तो स्वामी दयानन्द की सम्पूर्ण तपस्या निरर्थक हो जायगी और स्वामी दयानन्द के विषय में अगले सुधारक वैसी ही आलोचना करेंगे जैसी स्वामी दयानन्द ने 'नारायणमत' आदि की है। आर्य समाज के अगले नेताओं की चाल ढाल ही बता सकेगी कि नदी का प्रवाह किधर को जाता है।

स्वामी विवेकानन्द आदि आधुनिक विद्वानों तथा कवीन्द्र टैगोर आदि के कलात्मक ग्रंथों के आधार पर कुछ मूर्तिपूजा के संपोषक लोगों ने कुछ नवीन युक्तियाँ भी गढ़ली हैं जिनका मूर्तिपूजा से केवल दूरस्थ सम्बन्ध है और उनसे न तो ईश्वर प्राप्ति में सहायता मिलती है न मूर्तिपूजा के दोषों का ही निराकरण होता है। न इनसे उच्च कलाओं का ही उपयोग होता है। जगन्नाथपुरी के मन्दिर की अश्लील मूर्तियाँ कलात्मक होते हुये भी आचार-पतन का कारण होती हैं। वह कलाशास्त्र भी क्या जो आचार-शास्त्र या जीवन के अन्य उपयोगी विभागों से समन्वित न हो सके। सारांश यह है कि मूर्ति-पूजा एक भयानक रोग है। इससे मानव जाति को लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार की यातनायें झेलनी पड़ी हैं। विद्वानों को चाहिये कि इस रोग के उन्मूलन का उपाय करते रहें।

*

पितृयज्ञ—श्राद्ध और तर्पण

श्री जगदेवसिंह 'सिद्धान्ती'

○ ○ ○

श्राद्ध किस का करें, जीवित का या मृतक का ? इस प्रश्न के उत्तर में पौराणिक पक्ष है कि मृतक का श्राद्ध करो और जीवित की उपेक्षा। आर्यसमाज जीवित पितरों की श्रद्धा-भक्ति की ओर सभी को प्रेरित करता है। विद्वान् लेखक ने विषय पर शास्त्रीय दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। —सम्पादक

○ ○ ○

'पितृ यज्ञ के दो भेद हैं—एक तर्पण और दूसरा श्राद्ध ।

येन कर्मणा विदुषो देवानृषीन् पितृंश्च तर्प्पयन्ति सुखयन्ति तत् तर्प्पणम् तथा यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तच्छ्राद्धं वेदितव्यम् ।

तर्पण उसे कहते हैं जिस कर्म से विद्वान् रूप देव, ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं। उसी प्रकार उन लोगों का श्रद्धा से सेवन करना है, सो श्रद्धा कहाता है।

तदेतत्कर्म विद्वत्सु विद्यमानेष्वेव घटते, नैव मृतकेषु । कुतः ? तेषां सन्निकर्षाभावेन सेवनाशक्यत्वात् । मृतकोद्देश्येन यत्क्रियते नैव तेभ्यस्तत्प्राप्तं भवतीति व्यर्थापत्तेश्च । तस्माद्विद्यमानाभिप्रायेणैतत्कर्मोपदिश्यते । सेव्यसेवकसन्निकर्षात्सर्वमेतत्कर्तुं शक्यते ।

यह तर्प्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जो प्रत्यक्ष हैं उन्हीं में घटता है, मृतकों में नहीं, क्योंकि उन की प्राप्ति और उन का प्रत्यक्ष होना दुर्लभ है।

इसी से उन की सेवा भी किसी प्रकार से नहीं हो सकती किन्तु जो उनका नाम लेकर देवे वह पदार्थ उन को कभी नहीं मिल सकता। इसलिये मृतकों को सुख पहुँचाना सर्वथा असम्भव है, इसी कारण विद्यमानों के अभिप्राय से तर्पण और श्राद्ध वेद में कहा है। सेवा करने योग्य और सेवक अर्थात् सेवा करने वाले इनके प्रत्यक्ष होने पर यह सब काम हो सकता है।'

—पंचमहायज्ञविधि ॥

"पितृयज्ञ—अर्थात् जिस में देव जो विद्वान् ऋषि जो पढ़ने पढ़ाने हारे पितर माता पिता आदि वृद्ध ज्ञानी और परम योगियों की सेवा करनी।

श्राद्ध अर्थात् 'श्रत्' सत्य का नाम है 'श्रत्सत्यं दधाति यया क्रियया सा श्रद्धा श्रद्धया यत्क्रियते तच्छ्राद्धम्' जिस क्रिया से सत्य का ग्रहण किया जाय उस को श्रद्धा और जो श्रद्धा से कर्म किया उस का नाम श्राद्ध है और 'तृप्यन्ति तर्पयन्ति येन पितॄन् तत्तर्पणम्' जिस-जिस कर्म से तृप्त अर्थात् विद्यमान माता पिता आदि पितर प्रसन्न हों और प्रसन्न किये जायँ उसका नाम तर्पण है, परन्तु यह जीवितों के लिए है मृतकों के लिए नहीं।

'विद्वाँसो हि देवाः' यह शतपथ' ब्राह्मण का वचन है, जो विद्वान हैं उन्हीं को देव कहते हैं। जो साङ्गोपाङ्ग चारों वेदों के जानने वाले हों उनका नाम ब्रह्मा, जो उन से न्यून हों उनका भी नाम देव अर्थात् विद्वान् है, उनके सदृश उनकी विदुषी स्त्री ब्राह्मणी देवी और उनके तुल्य पुत्र और शिष्य तथा उनके सदृश उनके गण अर्थात् सेवक हों उनकी सेवा करना है, उसका नाम श्राद्ध और तर्पण है।

कोई भद्र पुरुष वा वृद्ध हों उन सब को अत्यन्त श्रद्धा से उत्तम अन्न, वस्त्र, सुन्दर यान आदि देकर अच्छे प्रकार जो तृप्त करना है अर्थात् जिस-जिस कर्म से उनका आत्मा तृप्त और शरीर स्वस्थ रहे, उस-उस कर्म से प्रीतिपूर्वक उन की सेवा करनी वह श्राद्ध और तर्पण कहाता है।'

—सत्यार्थप्रकाश–४र्थ समुल्लास ॥

(प्रश्न) "गया में श्राद्ध करने से पितरों का पाप छूट कर वहां के श्राद्ध के पुण्य प्रभाव से पितर स्वर्ग में जाते और पितर अपना हाथ निकाल कर पिण्ड ते हैं क्या यह भी बात झूठी है ?

(उत्तर) सर्वथा झूठ, जो वहाँ पिण्ड देने का वही प्रभाव है तो जिन पण्डों को पितरों के सुख के लिए लाखों रुपये देते हैं उन का व्यय गया वाले वेश्या-गमनादि पाप में करते हैं, वह पाप क्यों नहीं छूटता और हाथ निकालना आज कल कहीं नहीं दीखता विना पण्डों के हाथों के। यह कभी किसी धूर्त ने पृथिवी में गुफा खोद उस में एक मनुष्य बैठाय दिया होगा पश्चात् उसके मुख पर कुश बिछा पिण्ड दिया होगा और उस कपटी ने उठा लिया होगा। किसी आंख के अन्धे गांठ के पूरे को इस प्रकार ठगा हो तो आश्चर्य नहीं।"

"श्राद्ध, तर्पण, पिण्ड दान उन मरे हुए जीवों को तो नहीं पहुँचता, किन्तु मृतकों के प्रतिनिधि पोप जी के घर, उदर और हाथ में पहुँचता है, जो वैतरणी के लिये गोदान लेते हैं वह तो पोप जी के घर में अथवा कसाई आदि के घर में पहुंचती है। वैतरणी पर गाय नहीं जाती पुनः किस की पूंछ पकड़ कर तरेगा और हाथ तो यहीं जलाया या गाड़ दिया तो फिर पूंछ को कैसे पकड़ेगा?" —सत्यार्थप्रकाश—११ समुल्लास॥

"ये सत्यविज्ञानदानेन जनान् पान्ति रक्षन्ति ते पितरो विज्ञेया :—

जो सत्यविज्ञानदान से जनों का पालन करते हैं वे पितर हैं।

मनु ने भी कहा है—

वसून् वदन्ति वै पितॄन् रुद्राँश्चैव पितामहान्।
प्रपितामहाँश्चादित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी॥

—मनु० अध्याय ३, श्लोक २८४

पितरों को वसु, पितामहों को रुद्र और प्रपितामहों को आदित्य कहते हैं, यह सनातन श्रुति है।" —पंचमहायज्ञ विधि॥

"आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः।
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥

—यजुर्वेद अ० १९। म० ५८॥

ये (सोम्यासः) सोमगुणाः शान्ताः, सोमवल्ल्यादिरसनिष्पादने चतुराः (अग्निष्वात्ताः) अग्निः परमेश्वरोऽभ्युदयाय सुष्ठुतया आत्तो गृहीतो यैस्तेऽग्निष्वात्ताः, तथा होमकरणार्थं, शिल्पविद्यासिद्धये च भौतिकोऽग्निरात्तो गृहीतो यैस्ते पितरो विज्ञानवन्तः पालकाः सन्ति (आयन्तुः नः) ते अस्मत्समीपमा-

गच्छन्तु । वयं च तत्समीपं नित्यं गच्छेम । (पथिभिर्देव०) तान्विद्वन्मार्गैरिष्ट-पथमागतान् दृष्ट्वा ऽभ्युत्थाय, हे पितरो ! भवन्त आयन्त्वित्युक्त्वा, प्रीत्या ऽऽसनादिकं निवेद्य, नित्यं सत्कुर्याम । (अस्मिन्०) हे पितरोऽस्मिन् सत्कार-रूपे यज्ञे (स्वधया) अमृतरूपया सेवया (मदन्तो) हर्षन्तो अस्मान् रक्षितारः सन्तः सत्यविद्यामधिब्रुवन्तूपदिशन्तु ॥

पितृ शब्द से सब के रक्षक श्रेष्ठ स्वभाव वाले ज्ञानियों का ग्रहण होता है, क्योंकि जैसी रक्षा मनुष्यों की सुशिक्षा और विद्या से हो सकती है वैसी दूसरे प्रकार से नहीं । इसलिए जो विद्वान् लोग ज्ञानचक्षु देकर उनके अविद्या-रूपी अन्धकार के नाश करने वाले हैं उनको 'पितर' कहते हैं । उनके सत्कार के लिए मनुष्य-मात्र को ईश्वर की यह आज्ञा है कि वे उन आते हुए पितर लोगों को देख कर अभ्युत्थान अर्थात् उठ के प्रीतिपूर्वक कहें कि आइये, बैठिये, कुछ जल-पान कीजिये और खाने-पीने की आज्ञा दीजिए। पश्चात् जो-जो बातें उपदेश करने के योग्य हैं सो-सो प्रीतिपूर्वक समझाइए कि जिससे हम लोग भी सत्यविद्या युक्त होके सब मनुष्यों के पितर कहलावें और सदा ऐसी प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर । आपके अनुग्रह (सोम्यासः) जो शील स्वभाव और सबको सुख देने वाले लोग, (अग्निष्वात्ताः) अग्नि नाम परमेश्वर और रूप गुण वाले भौतिक अग्नि को अलग-अलग करने वाली विद्युत रूप विद्या को यथावत् जानने वाले हैं, वे इस विद्या और सेवायज्ञ में (स्वधया मदन्तः) अपनी शिक्षा विद्या के दान और प्रकाश से अत्यन्त हर्षित हो के (अवन्त्वस्मान्) हमारी सदा रक्षा करें तथा उन विद्यार्थियों और सेवकों के लिए भी ईश्वर की आज्ञा है कि जब-जब वे आवें वा जावें तब-तब उन उनको उत्थान, नमस्कार और प्रियवचन आदि से सन्तुष्ट रखें तथा फिर वे लोग भी अपने सत्यभाषण से निर्वैरता और अनुग्रह आदि सद्गुणों से युक्त होकर अन्य मनुष्यों को उसी मार्ग में चलावें और आप भी दृढ़ता के साथ उसी में चलें । ऐसे सब लोग छल और लोभादिरहित होकर परोपकार के अर्थ अपना सत्य व्यवहार रखें । (पथिभिर्देवयानैः) उक्त भेद से विद्वानों के दो मार्ग होते हैं । एक देवयान और दूसरा पितृयान अर्थात् जो विद्या मार्ग है वह देवयान और जो कर्मोपासना मार्ग है वह पितृयान कहाता है । सब लोग इन दोनों प्रकार के पुरुषार्थ को सदा करते रहें ।"

"पदार्थ :—(आ) (यन्तु) आगच्छन्तु (नः) अस्माकम् (पितरः) अन्नविद्यादानेन पालका जनकाध्यापकोपदेशकाः (सोम्यासः) सोम इव शमदमादिगुणान्विताः (अग्निष्वात्ताः) गृहीताग्निविद्याः (पथिभिः) मार्गैः (देवयानैः) दवा आप्ता विद्वांसो यान्ति यैस्तैः (अस्मिन्) वर्त्तमाने (यज्ञे) उपदेशाध्यापनाख्ये (स्वधया) अन्नाद्येन (मदन्तः) आनन्दन्तः (अधि) अधिष्ठातृभावे (ब्रुवन्तु) उपदिशन्त्वध्यापयन्तु वा (ते) (अवन्तु) रक्षन्तु (अस्मान्) पुत्रान् विद्यार्थिनश्च ।।

—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ।।

जो (सोम्यासः) चन्द्रमा के तुल्य शान्त शमदमादि गुणयुक्त (अग्निष्वात्ताः) अग्न्यादि पदार्थ विद्या में निपुण (नः) हमारे (पितरः) अन्न और विद्या के दान से रक्षक जनक अध्यापक और उपदेशक लोग हैं (ते) वे (देवयानैः) आप्त लोगों के जाने आने योग्य (पथिभिः) धर्म युक्त मार्गों से (आ, यन्तु) आवें (अस्मिन्) इस (यज्ञे) पढ़ाने उपदेश करने रूप व्यवहार में वर्तमान होके (स्वधया) अन्नादि से (मदन्तः) आनन्द को प्राप्त हुए (अस्मान्) हमको (अधि, ब्रुवन्तु) अधिष्ठाता होकर उपदेश करें और पढ़ावें और हमारी (अवन्तु) सदा रक्षा करें।"

टिप्पणी—उपर्युक्त सम्पूर्ण सन्दर्भ ऋषि दयानन्द का ही है। इससे स्पष्ट है कि जीवित पितरों का ही श्राद्ध और तर्पण होता है, मृतकों का नहीं हो सकता। इसी वेद मन्त्र में १—आयन्तु २—अधिब्रुवन्तु और ३—अवन्तु तीन क्रियाएं पितरों के सम्बन्ध को बतलाती हैं—

आयन्तु=आवें।

अधिब्रुवन्तु=अधिकार पूर्वक उपदेश करें।

जीवित पितर ही आ जा सकते हैं, उपदेश दे सकते हैं। पढ़ा सकते हैं-स्पष्ट है कि यहां जीवित पितरों से प्रार्थना की जा रही है। मृतक न आ जा सकते, न उपदेश दे सकते, न ही रक्षा कर सकते।

२—कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा।
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ।।

मनु० अ—३, श्लोक ८२

अर्थ—(प्रीतिम्—-आवहन्) प्रसन्नता पूर्वक गृहस्थी (पितृभ्यः) पितरों के लिए अन्न, जल, दूध, खीर, मूल और फलों (सब से अथवा इनमें से किन्हीं पदार्थों) द्वारा (अहः+अहः) प्रतिदिन (श्राद्धम्) श्राद्ध (कुर्यात्) करे।

मनुस्मृति के इस वचन में प्रतिदिन पितरों का श्राद्ध करना कहा है, परन्तु मृतकों का श्राद्ध मानने वाले वर्ष में आश्विन मास के १५ दिन में ही श्राद्ध करने को कहते हैं और करते हैं। परन्तु मनु के उपर्युक्त वचन से यह मृतक श्राद्ध वेद एवं युक्तिविरुद्ध है अतः त्याज्य है। मृतक श्राद्ध मानने वालों को यह भी मालूम नहीं कि आश्विन मास में ही श्राद्ध का विशेष विधान क्यों है ? वास्तविकता यह है कि नियुक्त १५ दिनों में भी जीवित पितरों के श्राद्ध का विधान है।

चतुर्मास के वर्षा-ऋतु में वनस्थ पितर लोग ग्रामों में आजाते थे। ग्राम से बाहर ठहर जाते थे। वर्षा ऋतु के अन्त में फिर वे वनस्थ महानुभाव पितर जंगल को जाने लगते हैं तब गृहस्थी उनका १५ दिन तक खूब सत्कार करते हैं और उन से उपदेश ग्रहण करते हैं। आवे आश्विन के पश्चात् मार्ग स्वच्छ हो जाते हैं और वनों जंगलों में गमनागमन सुविधा से हो जाता है।

इसी कारण इन दिनों में पितरों की विशेष पूजा गृहस्थ करते हैं, परन्तु यह पूजा जीवितों की ही हो सकती है। मृतकों में 'पितर' शब्द के गुण घटते ही नहीं।

३ वेद और मनुस्मृति नें पिता, पितामह और प्रपितामह इन तीन को ही 'पितृ' संज्ञा कही गई है। ५०—७५—१०० वर्ष तक की आयु वाले क्रमशः पिता—पितामह और प्रपितामह हो सकते हैं और जीवित रह सकते हैं। प्रतितामह से आगे 'पितर' संज्ञा नहीं बतलाई गई। उस से सिद्ध है कि श्राद्ध जीवित पितरों के लिए ही होता है। मृतकों के लिए नहीं।

कोई शङ्का करे कि प्रपितामह से आगे सभी पीढ़ियां प्रपितामह ही कहला सकती हैं, तब केवल तीन वर्गों का ही श्राद्ध नहीं है अपितु इन से पूर्वजों का भी हो सकता है। इस का उत्तर स्पष्ट है कि इस प्रकार सृष्टि के आदि तक

यह प्रवाह जा सकता है जो कि अनवस्था दोष पैदा करता है और असम्भव है तथा मृतक श्राद्ध मानने वालों को भी अमान्य है।

अतः सिद्ध है कि जीवित पितरों का ही श्राद्ध और तर्पण होता है, मृतकों के लिए नहीं। मृतकों में पितृ संज्ञा घटती ही नहीं। मृतक रक्षा कर ही नहीं सकते। रक्षा तो विद्यमान ही कर सकता है।

●

पाखंडों की लाश

*

भारत की गौरव गरिमा सुप्त पड़ी थी,
ऋषियों की परम्परा की लुप्त कड़ी थी,
पुण्य धर्म था शेष यहां बस कहने में,
सुख समझा था जन-जन ने दुःख सहने में।

*

ऐसे में दयानन्द ने ज्योति दिखायी,
वेद ज्ञान ज्योतित मंजुल राह बतायी,
खंड-खंड कर अधर्म जय ध्वजा उठायी,
जाग उठी नव जीवन पा तरुणायी।

*

निशा निराशा की दूर हुई थी मन से,
धर्म फैलने लगा उभर नूतन बल से,
युग बदला, पाखंडों की लाश पड़ी थी
नए चरण धर कर जनता आज बढ़ी थी।

—भा०

तीर्थ

श्री रामचन्द्र 'जावेद' एम० ए०

o o o

'तीर्थ' राष्ट्र की आधारशिला हैं। 'तीर्थ' देश के कलंक हैं। यह दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं, किन्तु हैं सत्य। सच्चे तीर्थ कल्याण-कारी और नकली पतन की ओर ले जाने के साधन हैं। आवश्यकता है कि जन-मन में 'तीर्थ' महत्व स्थापित किया जाए।

—संपादक

o o o

हमारा देश भारत तीर्थों का घर है। जितने तीर्थ स्थान-हमारे देश में हैं, उतने शायद ही किसी दूसरे देश में हों। फिर पौराणिक विचारधारा के अनुसार हर तीर्थ की अपनी विशेषता है। गया में श्राद्ध करने से पितरों के पाप दूर हो जाते हैं और वे स्वर्गलोक में चले जाते हैं। हरिद्वार, हर की पौड़ी पर स्नान करने से सब प्रकार के पाप छूट जाते हैं। काशी के सम्बन्ध में कहावत है कि "अन्य क्षेत्रे कृतं पापं काशी क्षेत्रे विनश्यति" अर्थात् किसी भी क्षेत्र में किये हुए पाप काशी यात्रा से छूट जाते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म पुराण में लिखा है कि जो व्यक्ति सैंकड़ों हजारों कोस से भी गंगा-गंगा कहता है, उसके पाप नष्ट हो जाते हैं।

गंगा गंगेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं सः गच्छति ॥

इस प्रकार हमारे यहाँ अनेक ऐसे तीर्थ हैं जो अपने विशेष चमत्कार के कारण प्रसिद्ध हैं। उदाहरण के लिये जगन्नाथपुरी में कलेवर बदलते समय

चन्दन का टुकड़ा समुद्र में से अपने आप आ जाता है। चूल्हे पर सात हाण्डे धरने से ऊपर ऊपर के पहले पकते हैं और रथ आप से आप चलता है। सोमनाथ जी के मन्दिर में सोमनाथ जी की मूर्ति भूमि और आकाश के बीच बिना किसी सहारे के खड़ी है। ज्वालामुखी की ज्वाला के समय में प्रसिद्ध है कि मुसलमान सम्राटों ने उस पर पानी की नहर छुड़वाई और लोहे के तवे जुड़वाये थे फिर भी ज्वाला नहीं बुझी थी। और न ही रुकी थी और फिर सबसे बड़ी बात यह है कि प्रसाद देने पर ज्वाला भी आधा खाती और आधा छोड़ देती है। अमरनाथ जी में आप से आप हिमालय से कबूतर के जोड़े आते हैं और सब को दर्शन दे कर चले जाते हैं। इसी प्रकार प्रयागराज, कुरुक्षेत्र, बद्रीनारायण आदि अनेक तीर्थ हैं। जिन पर कि आज के जागृत तथा वैज्ञानिक युग में विश्वास नहीं किया जा सकता।

कह नहीं सकते कि इन तीर्थों की यात्रा के लिए भारत के कितने लोग कहाँ से कहाँ जाते हैं और धर्म की अगाध श्रद्धा और मुक्ति की लालसा तथा अनेक अभीष्ट मनोरथों की सिद्धि के लिये कितने कष्ट सहन करते हैं। कम का तो अनुमान ही नहीं यदि भारत सरकार अनुसन्धान कराये कि भारत भर के सभी तीर्थों में कितने यात्री एक वर्ष में पहुँचते हैं और उनका तथा स्वयं हमारी सरकार का कितना उन पर धन लगता है तो हमारा अनुमान ही नहीं विश्वास है कि सरकार अपनी एक पंचवर्षीय योजना पर जो कुछ व्यय करती है लगभग उतनी राशि केवल तीर्थ-यात्रा पर भारत के अन्धविश्वासी धर्मप्रेमी लोग प्रति वर्ष खर्च करते हैं और फिर परमात्मा न करे यदि जनता की भीड़-भाड़ में कोई दुर्घटना हो जाय या कोई महामारी फूट निकले तो संकट की कोई सीमा नहीं। कुम्भ के मेलों पर हुई पिछली किसी एक दुर्घटना का ध्यान आते ही हमारा हृदय कांप उठता है।

निश्चय ही यह अन्धविश्वास है और साधारण जनता की दुःख स छूटने की स्वाभाविक भावना से खिलवाड़ है। जिस प्रकार एक रोगी अपने स्वास्थ्य लाभ के लिए बिना सोचे-समझे हर डाक्टर और हर वैद्य के द्वार पर जाता रहता है और उसे अपना मसीहा समझता है, ठीक उसी प्रकार ध्रम क पीड़ा से संतप्त आत्मायें पापों से छुटकारा पाने अथवा सांसारिक

सुख सामग्री की चाह में व्याकुल आत्मायें अपनी अतृप्त इच्छाओं की पूर्ति के लिये एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ की ओर भटकती रहती हैं। किन्तु भारत की भोली भाली जनता भूल जाती है कि मनुष्य को अपने किये अच्छे और बुरे कर्मों का फल भोगना पड़ता है—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।

मानना चाहिए कि तीर्थ द्वारा पाप-नाश के इस सिद्धांत ने संसार में पाप की मात्रा को बढ़ाया है। क्योंकि पाप से छुटकारे का विचार ही नये दुष्कृत्यों और पाप-कर्मों के लिए सबसे बड़ी प्रेरणा है। विचार कीजिये कि जब मुझे यह ज्ञात है कि मेरे वर्ष भर के पाप एक बार के गंगा स्नान से धुल सकते हैं तो मैं वर्ष भर में क्या कमी करूँगा। इसलिए आर्य समाज तीर्थ-यात्रा की वर्तमान परम्परा को सर्वथा निरर्थक समझता है।

इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि तीर्थ यात्रायें करने वाले हमारे भाईयों को यदि इन तीर्थ स्थानों के पण्डे पुजारियों और धर्म,कर्म का आडम्बर रचने वाले लोगों की वास्तविक चारित्रिक स्थिति का पता लग जाये तो वे स्वयमेव इन तीर्थों की ओर जाने का कभी विचार भी न करें।

वास्तव में "तीर्थ" के शाब्दिक अर्थ हैं! "जनाः यैस्तरन्ति तानि तीर्थानि" अर्थात् मनुष्य जिससे संसार के दुःख सागर से तर निकले वह तीर्थ है। महर्षि दयानन्द सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में लिखते हैं कि "जल थल तराने वाले नहीं प्रत्युत डुबो कर मारने वाले हैं।" उनकी सम्मति में "वेद आदि सब शास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना, धार्मिक विद्वानों का संग, परोपकार, धर्मानुष्ठान, योगाभ्यास, निर्वैर, निष्कपट सत्य भाषण, सत्य का मानना, सत्य करना, ब्रह्मचर्य, आचार्य, अतिथि और माता पिता की सेवा, परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना उपासना, जितेन्द्रियता, सुशीलता, धर्मयुक्त पुरुषार्थ ज्ञान विज्ञान आदि शुभ गुण कर्म दुःखों से तारने वाले होने से तीर्थ हैं।"

मौलाना रूप—प्रसिद्ध सूफीकवि हृदय की पवित्रता को तीर्थ मानते हैं। उनका कथन है—

दिल बदस्त आवुर कि हुंज्जे अकबर अस्त।
अज हजारां बाग यक दिल बेहतर अस्त॥

अर्थात् सहस्रों तीर्थों से मन की पवित्रता ही सब से बड़ा तीर्थ है जो हमारे शुभ कर्मों पर निर्भर है। इसलिये हमारे पुण्य कर्म ही तीर्थ हैं। निश्चय ही आज के स्वतंत्र भारत में जबकि तीर्थ यात्रा के लिये दिन प्रतिदिन सुविधायें बढ़ने के कारण तीर्थ यात्रा प्रणाली जोरों पर है, आर्य समाज और महर्षि दयानन्द की तीर्थ सम्बन्धी विचारधारा के अधिक से अधिक प्रसार की आवश्यकता है।

राष्ट्र गौरव

डा० सूर्यदेव

अन्धकार, अज्ञान, अविद्या का छाया था।
तम का तोम महान्, मनुज के मन भाया था।
अंड-बंड पाखंड, चंड होकर आया था।
अभय, अजस्र, अखंड, अबुध जन भ्रमाया था।
हत भारत भू के भाग में भ्रम का भारी भूत था।
पर प्रभु के अति अनुराग में, निहित दयामय दूत था।
दिनकर दैवी दूत भव्य भारत में आया।
पावन पुण्य प्रभूत, प्रेम का पाठ पढ़ाया।
जागा जगमग लोक, छोड़कर छल की छाया।
हुआ दिव्य आलोक, मिटी मनमोहक माया।
श्रुति "सूर्य" रूप से उदित हो, दयानन्द ऋषि राजता।
शुभ 'सत्य-अर्थ' संवलित हो, पुण्य प्रकाश विराजता।
वह 'सत्यार्थ-प्रकाश हमारा धन साधन है।
वह 'सत्यार्थ-प्रकाश' हमारा जीवन धन है।
वह 'सत्यार्थ प्रकाश' हमारा पण हैं प्रण है।
वह 'सत्यार्थ प्रकाश' आर्य गण पर ऋषि ऋण है।
वह गुरु का आशीर्वाद है, वही हमारा प्राण है।
वह आर्य्य राष्ट्र का नाद है, वही हमारा त्राण है।

पुराणों की अवैदिकता

श्री मुनीश्वरदेव सिद्धान्त—शिरोमणि

o o o

भारत के पतन में सर्वाधिक योगदान दिया पुराणों ने। आर्य-संस्कृति को भ्रांत रूप में प्रसारित किया पुराणों ने। पुराण और वेद परस्पर अमृत-विष की भाँति विरोधी हैं। वेद की प्रतिष्ठा और प्रसार के लिए आवश्यकता है कि पुराणों के विष से हम सावधान हों।

—संपादक

o o o

नवयुग प्रवर्त्तक, वेदोद्धारक, समाज सुधारक महामहिम महर्षि दयानन्द की दिव्य दृष्टि ने यह अनुभव किया था कि 'अष्टादशपुराण' कपोल कल्पित एवं वेदविरुद्ध होने के कारण विषसम्पृक्तान्नवत् त्याज्य हैं। इसके अतिरिक्त जो तथा-कथित विद्वान् 'अष्टादश पुराणानां कर्त्ता सत्यवती सुतः' के अनुसार अष्टादश पुराणों का कर्त्ता महर्षि व्यास को मानते थे अथवा वर्तमान में मानते हैं—उन्हें स्पष्ट शब्दों में चेतावनी पूर्वक कहा कि "जो अठारह पुराणों के कर्ता व्यासजी होते, तो उनमें इतने गपोड़े न होते, क्योंकि शारीरिक सूत्र, योगशास्त्र के भाष्यादि व्यासोक्त ग्रन्थों के देखने से विदित होता है कि व्यास जी बड़े विद्वान्, सत्यवादी, धार्मिक, योगी थे। वे ऐसी मिथ्या कथा कभी न लिखते और इससे यह सिद्ध होता है कि जिन सम्प्रदायी परस्पर विरोधी लोगों ने भागवतादि

नवीन कपोल-कल्पित ग्रन्थ बनाये हैं, उनमें व्यास जी के गुणों का लेश भी नहीं था। और वेदशास्त्र विरुद्ध असत्यवाद लिखना व्यास सदृश विद्वानों का काम नहीं, किन्तु यह काम विरोधी, स्वार्थी, अविद्वान्, पामरों का है। इतिहास और पुराण शिव पुराणादि का नाम नहीं, किन्तु (ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरिति) यह ब्राह्मण और सूत्रों का वचन है। ऐतरेय शतपथ, साम और गोपथ ब्राह्मण ही के इतिहास, पुराण, कल्प गाथा और नाराशंसी ये पांच नाम हैं।·········इसलिये सबसे प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों ही में यह सब घटना हो सकती है। इन नवीन कपोल-कल्पित श्रीमद्भागवत, शिवपुराणादि मिथ्या व दूषित ग्रन्थों में नहीं घट सकतीं।

(सत्यार्थ प्रकाश एकादश समु० पृ० २१३)

पुनः पृष्ठ २१५ पर अत्यन्त खिन्न होकर आचार्य लिखते हैं 'वाह रे वाह ! भागवत के बनाने वाले लाल बुझक्कड़ क्या कहना तुमको, ऐसी २ मिथ्या बातें लिखने में तनिक भी लज्जा और शरम न आई, निपट अन्धा ही बन गया।·········धिक्कार है पोप और पोप रचित इस महा असम्भव लीला को जिसने संसार को अभी तक भ्रमा रखा है, भला इन महाझूठ बातों को वे अंधे पोप और बाहिर-भीतर की फूटी आँखों वाले उनके चेले सुनते और मानते हैं। बड़े ही आश्चर्य की बात है कि ये मनुष्य हैं वा अन्य कोई "इन भागवतादि पुराणों के बनाने वाले क्यों नहीं गर्भ में ही नष्ट हो गये। वा जन्मते समय मर क्यों न गए !! क्योंकि इन पोपों से बचते तो आर्यावर्त्त देश दुःखों से बच जाता।"

फिर आगे इसी ग्रन्थरत्न के पृष्ठ २१९ पर श्री कृष्ण जी पर पुराणों द्वारा लगाये गये मिथ्याक्षेपों से असहमति प्रकट करते हुए ऋषिवर लिखते हैं:—

"देखो ! श्री कृष्ण जी इतिहास महाभारत में अत्युत्तम हैं। उनका गुण, कर्म, स्वभाव और चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश है। जिसमें कोई अधर्म का आचरण श्री कृष्ण ने जन्म से मरण पर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो ऐसा नहीं लिखा। और इस भागवत वाले ने अनुचित मनमाने दोष लगाये हैं। दूध दही, मक्खन आदि की चोरी और कुब्जा दासी से समागम परस्त्रियों से रास-मण्डल, क्रीडा आदि मिथ्या दोष श्री कृष्ण जी में लगाये हैं।·········जो यह

भागवत न होता तो श्री कृष्ण जी के सदृश महात्माओं की झूठी निन्दा क्यों कर होती है ?"

इत्यादि उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि अष्टादश पुराण विषसम्पृक्तान्नवत् सर्वथा त्याज्य हैं, इनका प्रचार व्यक्ति, समाज, जाति, देश वा राष्ट्र के हित में अहितकर है। अब थोड़ा सा आगे पुराण शब्द पर भी विवेचन करते हैं। पौराणिक विद्वानों का कहना है कि वेदों में भी पुराणों का उल्लेख है, अतः पुराण भी प्राचीन धर्म ग्रन्थ हैं और धर्माधर्म के प्रसंग में प्रामाणिक हैं। हमारी सम्मति में निराधार हैं, वेदों में 'पुराण' शब्द अवश्य है. परन्तु यह 'भागवत' आदि कपोल-कल्पित पुराण-ग्रन्थों का प्रतिपादक नहीं है। यथा—

१—अयं पन्था अनुवित्तः पुराणः। ऋ० २।१८।१।।

इस मन्त्र में 'पुराण' पुरातन अर्थ का विज्ञापक है और 'पन्था' का विशेषण है। 'भागवत' आदि पुराणों का बोधक नहीं है।

२—पुनः पुनर्जायमाना पुराणी० ऋ० १।९२।१०।।

प्रस्तुत मंत्र में 'पुराणी' शब्द उषा का विशेषण है, और 'सनातनी' अर्थ का प्रतिपादक है। किसी कल्पित पुराण ग्रन्थ का ज्ञापक नहीं है।

३—अपेत वीत वि च सर्पतातो ये ऽत्रस्थ पुराणा ये च नूतनाः यजु० १२।४५

इस मन्त्र में भी 'पुराणाः' शब्द पितर का विशेषण कहां है, किन्हीं 'भागवत' आदि कपोल-कल्पित ग्रन्थों के लिए किसी भाष्यकार ने विनियुक्त नहीं किया। यहाँ इसका अर्थ 'पूर्वज-वृद्ध ही है।

४—ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। अथर्व ११।७।२४।

इस मंत्र में 'पुराणम्' शब्द 'देहली दीप' न्यायानुसार प्रत्येक वेद की पुरातनता-सनातनता को दिखाता है। किसी 'भागवत' आदि पुराण-ग्रन्थ के लिए नहीं आया, यह निर्विवाद सत्य है।

इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि वेदों में पठित पुराण शब्द विशेषण के रूप में होता है, परन्तु किसी ग्रन्थ विशेष की संज्ञासूचक नहीं है।

इसके अतिरिक्त गीता अ० २ श्लोक २० में—

अजो नित्यः शाश्वतो ऽयं पुराणः।

वचन मिलता है। यहां पर भी 'पुराण' शब्द जीवात्मा की सनातनता के लिए प्रयुक्त हुआ है, किसी कल्पित ग्रन्थ के लिए नहीं आया।

अतः सुतरां सिद्ध हुआ है कि पुराण शब्द से वैदिक ग्रन्थों में अष्टादश पुराणों का कहीं भी उल्लेख व प्रतिपादन नहीं । अतएव दयानन्द जी महाराज की यह धारणा नितान्त निर्भ्रान्त है कि यह १८ पुराण वेद विरुद्ध, कपोल-कल्पित और विषसम्पृक्तान्नवत् त्याज्य हैं अत्र आगे पुराणों में अवैदिक विचारों का सिंहावलोकन जरा कर लीजिएगा ।

वेद—ईश्वर का स्वरूप बतलाता है:—

सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः
यजु० अ० ४०।८।।

इसमें ईश्वर को सर्वव्यापक, अशरीवी, नस-नाड़ी के बन्धन से रहित, शुद्ध पवित्र, अनादि और वेद प्रकाशक माना है ।

पुराण:—ईश्वर का स्वरूप यह प्रस्तुत करता है:—

गजेन्द्रवदनं देवं श्वेतवस्त्रं चतुर्भुजम् ।
परशुलगुडं वामे दक्षिणे दण्डमुत्पलम् ।
मूषकस्थं महाकायं शंखकुन्देन्दुसमप्रभम् ।
युक्तं बुद्धि कुबुद्धिभ्यां एकदन्तं भयावहम् ।। भविष्य०

इसमें कैसा वेद विरुद्ध भयानक ईश्वर का स्वरूप दिखाया गया है । पाठक देख लें । भक्तों पर क्या प्रभाव पड़ेगा ।

वेद—मुक्ति का मार्ग दिखाता है—

१—तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।
इसमें केवल 'ब्रह्मज्ञान' को ही मुक्ति का साधन बतलाया है ।
२—विद्यया विन्दतेऽमृतम् । यजु० ४०।१४
अर्थात् अमृत मोक्ष की प्राप्ति विद्या—यथार्थ ज्ञान से मानी है ।

पुराण—मुक्ति के साधन लिखता है:—

१—भस्मधारी विशेषेण स्त्रीगोहत्यादिपातकैः ।
वीरहत्याश्वहत्याभ्यां मुच्यते नात्र संशयः । शिव०
२—गंगागंगेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति । ब्रह्मवैवर्त

३—तुलसीपत्रतोयं च मृत्युकाले च यो लभेत् ।
स मुच्यते सर्व पापाद् विष्णुलोकं स गच्छति । ब्रह्मवैवर्त

४—शिवेति शव्दमुच्चार्य प्राणांस्त्यजति यो नरः ।
कोटि जन्मार्जितात्पापान्मुक्तो मुक्तिं प्रयाति सः । ब्रह्मवैवर्त

इत्यादि अनेक श्लोकों में गंगा स्नान व नामोच्चारण, तुलसी दल का जल शिवनामोच्चारण, भस्म धारण, त्रिपुण्ड्रधारण, और विष्णुचरणामृत आदि अनेक मिथ्या कपोल-कल्पित साधनाभासों को जो वस्तुतः नरक के साधन हैं, मुक्ति के साधन बतलाए हैं, जो कि सर्वथा वेद विरुद्ध होने से अमान्य हैं ।

वेद—गौ आदि उपकारक पशुओं की रक्षा का विधायक है ।

१—गां मां हिंसीः । यजु० १३।४३

२—अन्तकाय गोघातम् । यजुर्वेद

३—मा हिंसीः द्विपादं चतुष्पादम् । यजुर्वेद

इत्यादि अनेक मन्त्रों में गौ आदि महोपकारक पशुओं की हिंसा का सर्वथा निषेध है ।

पुराण—गोवध की आज्ञा देता है:—

१—पंचकोटी गवां मांसं सापूपं स्वन्नमेव च ।
एतेषां च नदी राशिर्भुञ्जते ब्राह्मणा मुने ।

२—पंचलक्षगवां मांसैः सुपक्वैर्घृत संस्कृतैः ।
ब्राह्मणां त्रिकोटीश्च भोजयामास नित्यशः ।।

३—गवां द्वादशलक्षाणां दक्षैः नित्यमुदान्वितः ।
सुपक्वानि च मांसानि ब्राह्मणेभ्यश्च पार्वति ।

४—गवां लक्षछेदनं च हरिणानां द्विलक्षकम् ।
दशलक्षं छागलानां भेटानां तच्चतुर्गुणम् ।।
एतेषां पक्व मांसं च भोजनार्थं च कारय ।।

इत्यादि ब्रह्मवैवर्त प्रभृति पुराणों में निरीह व निरपराध उपकारक पशुओं का वध मांस लोलुप स्वार्थी वाममार्गी विद्वानों द्वारा यत्र-तत्र-सर्वत्र भरा पड़ा है जोकि वेद विपरीत होने के कारण सर्वथा अमान्य है ।

वेद—सगोत्र व सपिण्ड में विवाह सम्बन्ध का निषेधक है—

परमस्याः परावतो रोहिदश्व इहागहि । यजु० ११।७२

विवाह सर्वदा दूर देश के परिवारों में होना उचित है ।

पुराण—इसकी लीला देखिए कैसी विचित्र है—:

१—या तु ज्ञानमयी नारी वृणोद् यं पुरुषं शुभम् ।
कोऽपि पुत्रः पिता भ्राता स च तस्याः पतिर्भवेत् ॥

२—मातृजां पितृजां चैव यां चैवोद्वहेत् स्त्रियम् ।
कुलैकविंशमुत्तार्य ब्रह्मलोके महीयते ॥

३—स्वकीयां च सुतां ब्रह्मा विष्णु देवः स्वमातरम् ।
भगिनीं भगवांच्छम्भु गृहीत्वा श्रेष्ठतामगात् ।

४—विवस्वान् भ्रातृजां संज्ञां श्रेष्ठतामगात् ॥

इत्यादि अनेक श्लोक भविष्य पुराणादि में वर्णित हैं, जिनमें स्व-पुत्री, बहिन, भतीजी, माता, मामी आदि निकट के रिश्तों में विवाह—सम्बन्धों का निषिद्ध एवं वेदादि सत्य शास्त्रों के विरुद्ध विधान किया गया है । जो कि सर्वथा अमान्य एवं अग्राह्य है ।

इसके अतिरिक्त इन पुराणों में महापुरुष राम, कृष्ण. आदि की भर पेट निंदा की है । मांसाहार, मद्यपान, व्यभिचार, घूर्त क्रीडा असम्बद्ध प्रलाप, परस्पर विरोध असम्भव गपोड़े आदि अनेक दोष पाये जाते हैं । जिन्हें देखकर विदेशी व अन्य मतावलम्बी लोग उपहास उड़ाते हैं । अतः पुराणों की अवैदिक कुशिक्षा का परित्याग कर विशुद्ध वैदिक शिक्षा को अपनाकर ही सर्वत्र उसका प्रचार होना चाहिये ।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी का यह भी एक महान् उपकार है, कि उन्होंने आज से पचासों वर्ष पूर्व अपने अमर ग्रन्थरत्न 'सत्यार्थप्रकाश' द्वारा इन कपोल कल्पित स्वार्थी वाममार्गियों की रचनाओं की निष्पक्षभाव से समीक्षा करके सत्य-असत्य का निर्णय करते हुए सर्व साधारण जनता का सुपथ प्रदर्शन किया है । आज आवश्यकता है कि हम पुराणों के विष से देश को बचाएं ।

*

पोप-लीला

●

श्रीमती पवित्रादेवी विद्याविभूषिता

●

o o o

पाखंडी, ढोंगी व्यक्तियों का बोध 'पोप' शब्द से होता है। भारत के हर ग्राम-मोहल्ले में 'पोप' आप आसानी से पाएँगे। धर्म के नाम पर धोखा-छल और प्रत्येक पाप इनका अस्त्र है। लेख में इन्हीं धार्मिक-अधर्मियों की लीला पढ़िए। —संपादक

o o o

'पोप' शब्द संभवतः लैटिन भाषा का है, जो बाद में ग्रीक तथा पुरानी अंग्रेजी में भी प्रयुक्त होने लगा। आधुनिक अंग्रेजी में प्रयुक्त होने वाले 'पापा' और 'पोप' शब्द का मूल एक ही है। जिस तरह 'पापा' का अर्थ पिता है उसी तरह पोप का अर्थ भी पिता है। पहले कभी धार्मिक गुरु या आध्यात्मिक पिता के नाते रोमन कैथोलिक चर्च के सबसे बड़े धर्माध्यक्ष को पोप कहा जाता था। जिस तरह भारत में शंकराचार्य की गद्दी चलती है उसी प्रकार रोम में पोप की भी गद्दी चलती है। पोप सारे संसार के रोमन कैथोलिक ईसाइयों का सबसे बड़ा धर्म-गुरु माना जाता है। रोम के इस पोप की वैटिकन सिटी नाम की अपनी एक अलग नगरी है जिसमें पोप का अपना किला, अपनी फौज और अपनी ही नागरिक व्यवस्था चलती है और उसमें संसार के किसी और राज्य की किसी भी सरकार का कोई दखल नहीं है। नव वर्ष के दिन या बड़े दिन (क्रिसमस) पर पोप संसार भर के ईसाइयों के

नाम संदेश देते हैं। आज भी धार्मिक जगत् में जितनी मान्यता और सत्ता इस पोप की है, उतनी शायद संसार में किसी भी सम्प्रदाय के धार्मिक गुरु की नहीं है।

पुराने समय में रोम के पोप अपने चेलों से कहा करते थे कि तुम यदि हमारे सामने अपने पाप स्वीकार (Confession) कर लोगे तो हम तुम्हारे पाप क्षमा करवा देंगे। साथ ही वे यह भी कहा करते थे कि हमारी सेवा या आज्ञा के बिना कोई स्वर्ग में नहीं जा सकता। यदि तुम स्वर्ग में जाना चाहो तो जो-जो सुख-सुविधाएँ तुम स्वर्ग में चाहते हो उन सब का पैसा हिसाब से यहाँ हमारे पास जमा करवा दो तो तुम्हें अभीष्ट सामग्री स्वर्ग में मिल जायेगी। पोप के वचन पर विश्वास करके उनके अन्ध-भक्त उनको यथेष्ट रुपया देते और पोप ईसा और मरियम की मूर्त्ति के सामने खड़े होकर इस प्रकार की हुंडी लिख कर देते थे—"हे खुदावन्द यीशु मसीह ! अमुक मनुष्य ने तेरे नाम पर एक लाख रुपया (या जितना वह दे) जमा करवाया है, जब वह स्वर्ग में आवे तब तू अपने पिता के स्वर्ग के राज्य में २५ सहस्र रुपये में बाग-बगीचा और मकान, २५ सहस्र में सवारी और नौकर-चाकर, २५ सहस्र में खाना-पीना और कपड़े-लत्तों का भण्डार तथा २५ सहस्र रुपये इसके इष्ट-मित्रों और भाई-बन्धु आदि की दावत के लिए दिला देना।" फिर उस हुंडी के नीचे पोप अपने हस्ताक्षर करता और भक्त के हाथ में हुंडी देकर कहता कि जब तू मरे तब हुंडी को कब्र में अपने सिरहाने रख देने के लिए अपने कुटुम्बी जनों को कह छोड़ना। फिर तुझे स्वर्ग में ले जाने के लिए फरिश्ते आयेंगे और वे हुंडी को देख कर उसमें लिखे के अनुसार सब चीजें तुझे दिला देंगे।

जब तक यूरोप में अविद्या और अन्ध-विश्वास रहा तब तक वहाँ यह पोप लीला खूब चलती रही। अब यद्यपि वैज्ञानिक युग के प्रवेश और विद्या के प्रचार के साथ इस प्रकार की पोपलीला में बहुत कुछ कमी आ गई है, किन्तु वह बिल्कुल निर्मूल हो गई हो यह नहीं कहा जा सकता। ईसाइयों में जहाँ अन्य अन्ध-विश्वासों की कमी नहीं है, वहाँ रोम के पोप प्रति अन्ध-भक्ति में भी कमी नहीं है।

जैसे रोम के पोप अपने आप को धर्म और स्वर्ग के ठेकेदार समझते थे, उसी प्रकार भारत में भी जिन लोगों ने अपने आपको धर्म का और स्वर्ग का ठेकेदार कह कर जनता को अन्ध-विश्वास के गर्त्त में ढकेलने में और धर्म के नाम से स्वार्थ सिद्धि करने में कोई कसर नहीं छोड़ी, उन्हीं को ऋषि ने 'पोप' संज्ञा दी है। ऋषि दयानन्द से पहिले इस प्रकार के कपटी, स्वार्थी, अविद्वान्, धर्म के ठेकेदार, पुराण पन्थी ब्राह्मणों को किसी और ने यह संज्ञा दी हो, यह ध्यान नहीं पड़ता। ऐसे व्यक्तियों के लिए 'पोप' शब्द कैसा सटीक ठीक बैठता है यह रसज्ञ लोग ही समझ सकते हैं।

ब्राह्मण-देवता-गुरु

जब अन्य सब वर्णों को व्यवस्था में रखने वाले ब्राह्मण ही विद्या-हीन हो गये तब उनके यजमान स्वरूप अन्य लोग—जिसमें राजा और प्रजा दोनों सम्मिलित थे--विद्या-हीन क्यों न होते। नाना कपोल-कल्पनाओं, पौराणिक गपोड़ों और ग्रह-नक्षत्रों के आतंकों से लोगों को भयभीत करके ब्राह्मणों ने सब को यह पाठ पढ़ाया—

दैवाधीनं जगत्सर्वं मन्त्राधीनाश्च देवताः।
ते मन्त्राः ब्राह्मणाधीनास्तस्माद् ब्राह्मण दैवतम् ॥

अर्थात् देवताओं के आधीन सब जगत् है, मन्त्रों के आधीन सब देवता हैं और वे मन्त्र ब्राह्मणों के आधीन हैं इसलिए ब्राह्मण ही देवता हैं।" इस प्रकार मन्त्र के बल से देवता को बुला कर और प्रसन्न करके सिद्ध करने का दावा करने वाले ब्राह्मणों ने जब अपने आपको ही "पृथ्वी का देवता" बताना प्रारम्भ किया तब उन्होंने परमात्मा के स्थान पर अपनी ही पूजा करने के लिये यजमानों को प्रेरित किया। गुरु कृपा के महत्त्व पर बल देते हुए उन्होंने गुरु सेवा और गुरु माहात्म्य के सम्बन्ध में 'गुरु गीता' जैसे अतिशयोक्तिपूर्ण ग्रन्थ लिखे और नाना पुराण आदि वेद-विरुद्ध ग्रन्थों का प्रणयन कर उन्हें व्यास आदि प्राचीन महर्षियों द्वारा प्राचीन ग्रंथों के रूप में प्रचारित किया। वैदिक वाङ्मय में इन स्वार्थी लोगों ने अपनी ओर से मूर्ति पूजा, श्राद्ध तथा मद्य मांसादि अनाचार के समर्थक प्रक्षिप्त अंश भी मिलाने में कसर नहीं छोड़ी। धीरे-धीरे गुरु का स्थान इतना बढ़ गया कि उसे परमात्मा का समकक्ष या परमात्मा से भी बड़ा

दिखाने का प्रयत्न किया गया। गुरुदव: परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः आदि श्लोक उसी मनोवृत्ति के द्योतक हैं। गुरु के पग धोकर पीना, अपना तन, मन, धन सब गुरु के अर्पण करना, स्त्री, कन्या आदि को गुरु की चरण-सेवा के लिए नियुक्त करना और गुरु की प्रत्येक आज्ञा का पालन करना ही परम धर्म बन गया। यजमानों को सिखाया गया कि गुरु चाहे कैसा ही पाप करे उसके ऊपर कभी अश्रद्धा नहीं करनी चाहिए और बड़े से बड़ा कुकर्म करने पर भी गुरु को दंड देने की बात राजा तक को भी कभी मन में नहीं लानी चाहिए। यदि गुरु लोभी हो तो उसे वामन के समान, क्रोधी हो तो नरसिंह के समान, मोही हो तो राम के तुल्य और यदि कामी हो तो कृष्ण के समान जानना चाहिए। कहा गया कि गुरु के दर्शन के लिए जाने में एक-एक कदम पर अश्वमेध का फल प्राप्त होता है।

मूर्तिपूजा

बौद्धों और जैनियों की देखा-देखी इन पोप-कुल-प्रवर्त्तक ब्राह्मणों ने भी अपने अलग मंदिर और मूर्तियां बनानी प्रारम्भ की। यदि बौद्धों और जैनियों की मूर्तियां ध्यानावस्थित और विरक्त मनुष्यों के समान बनाई गईं तो इन पौराणिकों ने यथेष्ट शृंगारित स्त्री के सहित रंग,राग, भोग-विषयासक्ति वाली मूर्तियाँ बनाईं। बौद्धों और जैनियों के मंदिरों में कोलाहल का अभाव रहता था तो इन सम्प्रदायी पोपों ने शंख, घण्टे, घड़ियाल आदि बजा कर जनता को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए ठीक वही हथकंडे अपनाये जो एक दुकानदार किसी दूसरे दुकानदार के ग्राहकों को अपनी ओर फोड़ने के लिए अपनाता है।

कभी-कभी ये ऐसी विचित्र माया रचते कि पाषाण मूर्त्तियाँ बनाकर किसी पहाड़ या जंगल आदि में गुप्त स्थान पर रख आते या भूमि में गाड़ देते और फिर अपने चेलों में प्रसिद्ध करते कि मुझे रात को स्वप्न में महादेव, पार्वती, राधा, कृष्ण, सीता, राम या लक्ष्मी, नारायण और भैरव हनुमान आदि ने कहा है कि हम अमुक ठिकाने पर हैं, यदि हम को वहाँ से ला, मंदिर में स्थापना करो और तुम्हीं हमारे पुजारी होओ तो हम मन वाञ्छित फल देवें। जब आँख के अंधे और गाँठ के पूरे लोग इस पोप लीला को सच मान कर अमुक पहाड़ वा जंगल में उनके साथ वहाँ पहुँच कर देखते कि सचमुच

मूर्त्ति विद्यमान है, तब पोप के पांवों पर गिर कर कहते कि आप पर इस देवता की बड़ी कृपा है। अब आप इसे ले चलिये, हम मन्दिर बनवा देंगे। उसमें देवता की स्थापना करके आप ही इसकी पूजा करना और हम लोग भी इस प्रतापी देवता के दर्शन-पर्सन से मनोवाञ्छित फल पावेंगे। जव इस प्रकार एक की कपट लीला चल निकली तब अन्यों ने भी धीरे-धीरे अपनी जीविका के लिए लोगों को वरगला कर मूर्त्तियों की स्थापना की।

तीर्थ, ग्रह और व्रत

धीरे २ इन पोपों ने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये ही नाना तीर्थों, ग्रहों और व्रतों का इतना प्रपंच फैलाया कि आज का समस्त हिन्दू-समाज अन्य सब कर्त्तव्य कर्मों को भूलकर केवल उन्हीं को मोक्ष का साधन समझ बैठा है। शाक्तों, शैवों, वैष्णवों आदि नाना संप्रदायवादियों के अनेकशः तीर्थ भारत भर में फैले हुए हैं और उनके बिना देश के आधुनिक इतिहास या भूगोल की कल्पना भी नहीं की जा सकती। मथुरा, वृन्दावन, काशी, प्रयागराज, कुरुक्षेत्र जगन्नाथपुरी, द्वारिकापुरी, रामेश्वरम् आदि तीर्थ स्थान इन पोपों की ही पेट पूजा के प्रधान साधन हैं। तीर्थों का अलग २ माहात्म्य वर्णित कर विशिष्ट मन्दिरों की विशिष्ट मूर्त्तियों के विशिष्ट चमत्कारों का बखान किया गया है। जैसे हर एक पुराण अपने-अपने इष्ट देवता को सृष्टि का निर्माता और सब देवताओं का आराध्य बताता है वैसे ही इन तीर्थध्वांक्षों ने अपने-अपने तीर्थ और अपनी २ मूर्त्ति को सबसे अधिक बढ़ा चढ़ाकर बताया है।

गंगा गंगेति यो ब्रूयात् योजनानां शतैरपि।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति॥
हरिर्हरति पापानि हरिरित्यक्षरद्वयम्॥
प्रातः काले शिवं दृष्ट्वा निशि पापं विनश्यति।
आजन्मकृतं मध्याह्न सायाह्ने सप्त जन्मनाम्॥

ये सब श्लोक भी पोपों की ही रचना हैं। सैंकड़ों कोस दूर से भी गंगा गंगा कहने पर पाप नष्ट हो जाते हैं और भक्त विष्णुलोक में पहुँच जाता

है। "हरि" इन दो अक्षरों का उच्चारण मात्र सब पापों को हर लेता है। (ऐसे ही राम, कृष्ण, शिव आदि नामों का महत्त्व है।) जो मनुष्य प्रातः काल में शिव या उसकी मूर्त्ति का दर्शन करे तो रात्रि में किया हुआ पाप नष्ट हो जाता है, मध्याह्न में दर्शन करे तो जन्म भर का पाप नष्ट हो जाता है और सायंकाल में दर्शन करे तो सात जन्मों का पाप छूट जाता है। नाम स्मरण करने से पाप छूट जाने की यही भावना है जिसके कारण दिन प्रति दिन धूआंधार अखण्ड नाम संकीर्त्तन होता है, तीर्थ यात्रा के लिए स्पेशल गाड़ियाँ चलती हैं और तीर्थों में महान् जन-सम्मर्द एकत्रित होता है। परन्तु क्या कोई कह सकता है कि इस सब क्रिया कलाप के बावजूद लोगों की पाप-वृत्ति में कुछ अन्तर आया है? प्रत्युत प्रत्यक्ष तो यह है कि नाम-स्मरण या तीर्थ-स्नान की भावना ने ही पाप की वृद्धि में प्रमुख योग दिया है। क्योंकि मूढ़जन यह विश्वास करते हैं कि कितना ही पाप करो, कोई हानि नहीं, नाम स्मरण किया और तीर्थ में डुबकी लगाई कि तुरन्त सब पाप विलीन हो गये। तीर्थयात्रा का प्रयोजन क्या यही है कि साल भर पाप करते रहे और वर्ष समाप्त होने पर एक बार तीर्थ जाकर नये वर्ष में फिर से पाप करने का नया लाइसेंस ले आये?

ठग विद्या

कोई २ धूर्त्त ऐसी माया रचते हैं कि बड़े-बड़े बुद्धिमान् लोग भी धोखा खा जाते हैं। पाँच सात लोग मिलकर किसी दूरस्थ प्रदेश में जाते हैं, शरीर से, डीलडौल में और रूपरंग में जो अच्छा हो उसे सिद्ध बना लेते हैं और जिस किसी नगर या ग्राम में धनियों की संख्या अधिक हो उसके समीप के जंगल में उस सिद्ध को बिठा देते हैं और स्वयं नगर में जाकर अनजान बनकर पूछते हैं:—"तुमने कोई ऐसा ऐसा महात्मा यहाँ कहीं देखा है?" लोग पूछते हैं कि वह महात्मा कौन और कैसा है, तब ये साधक कहते हैं। "बड़ा सिद्ध पुरुष है, मन की बातें बतला देता है, जो मुख से कहता है वह हो जाता है। हम तो उसी के दर्शन के लिए घरबार छोड़ कर मारे-मारे फिरते हैं। हमने किसी से सुना था कि वे महात्मा इधर की ओर ही आये हैं।" धनी व्यक्ति कहता है—"ऐसी बात है? जब वे

महात्मा तुम्हें मिलें तो हमें भी बताना हम भी दर्शन करके अपने मन की बात पूछेंगे।" फिर ये बनावटी साधक अनेक संभ्रान्त गृहस्थियों और धनी नागरिकों को इसी प्रकार पटाकर तीन चार दिन बाद जाकर उनसे कहते हैं कि वे महात्मा मिल गये। तुम्हें दर्शन करना हो तो चलो। वे जब चलने को तैयार हो जाते हैं तब ये साधक उनसे कहते हैं कि तुम क्या बात पूछना चाहते हो, हमें बताओ। फिर सिद्ध और साधकों ने मिलकर जैसे संकेत निश्चित किये हुये होते हैं उनके अनुसार धन की इच्छा वाले को दाहिनी ओर, पुत्र की इच्छा वाले को सामने, रोग निवारण की इच्छा वाले को पीछे से ले जाकर बीच में बिठाते हैं। तभी सिद्ध अपनी सिद्धाई बताने के लिये उच्चस्वर से बोलता है:—'क्या यहाँ पुत्र रखे हैं जो पुत्र की इच्छा से आया है?' इसी प्रकार धन की इच्छा वाले से कहता है:—'क्या यहाँ थैलियाँ रखी हैं जो धन की इच्छा से आया है? फकीरों के पास धन कहाँ धरा है?' रोग वाले से कहता है:—'क्या हम वैद्य हैं जो तू रोग छुड़ाने आया है? किसी डाक्टर वैद्य के पास जा।' इस प्रकार जब सिद्धों की सिद्धाई चमक उठती है तब पोपों के चेले इन पाखण्डियों के पौ बारह और यदि अकस्मात् सिद्ध के कहने से नहीं, किन्तु प्रकृति के नियमानुसार ही किसी धनाढ्य के पुत्र हो जाये, या उसे धन मिल जाये या रोग-निवारण हो जाये तो फिर क्या कहने। फिर तो सिद्ध के पास मिठाई रुपया, पैसा, कपड़ा और सीधा-सामग्री का अम्बार लग जाता है। फिर जब तक सिद्ध की मान्यता रहती है तब तक ये ठग अपनी इस पोप लीला की बदौलत नागरिकों को खूब लूटते हैं।

स्त्रियों में अधिक

यह पोप लीला पुरुषों में जितनी चलती है उससे कहीं अधिक स्त्रियों में चलती है। स्त्रियाँ स्वभावतः भावना-प्रधान होती हैं और धर्म-कर्म के प्रति उनकी आस्था भी विशेष मात्रा में होती है। इसके साथ ही स्त्रियों में अशिक्षा भी अधिक होने के कारण कभी एकादशी, कभी पूर्णमासी, कभी दुर्गानवमी, कभी नागपञ्चमी, कभी करवा चौथ आदि के नाम पर पोप जी उन्हें ठगते रहते हैं। श्राद्ध-तर्पण और पिण्ड-दान मरे हुए जीवों को तो नहीं पहुँचते

किन्तु मृतकों के प्रतिनिधि पोपों के उदर और हाथ में जरूर पहुँचते हैं। वैत-रणी के नाम पर जो गोदान लिया जाता है वह भी पोप या कसाई के घर ही पहुँचता है। गाय वैतरणी नहीं पहुँचती जैसा कि जाट और पोप जी के दृष्टान्त से स्पष्ट है।

पोप लीला के मूल में जितना स्थान अविद्या का है, उससे कहीं अधिक स्वार्थ का स्थान है। जब तक अज्ञान और स्वार्थ नष्ट नहीं होंगे, पोप लीला भी नष्ट नहीं होगी। पोप लीला को नष्ट करने के लिए अज्ञान और स्वार्थ इन दोनों का निराकरण आवश्यक है । प्रभो ! वह दिन कब आयेगा जब हमारा देश अज्ञान और स्वार्थ से विमुक्त होगा, पोप लीला के पाखण्ड से बचेगा और वैदिक धर्म के शुद्ध स्वरूप का अनुयायी होगा !

यद्यपि आजकल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मत में पाये जाते हैं, (परन्तु यदि) वे पक्षपात छोड़ कर सर्वतन्त्र सिद्धान्त को स्वीकार करें, जो-जो बातें सब के अनुकूल हैं और सब में सत्य हैं उनको ग्रहण करें और जो बातें एक दूसरे से विरुद्ध पाई जाती हैं उनको त्याग कर, परस्पर प्रीति से बर्तें बर्तावें तो जगत् का पूर्ण हित हो जावेगा। विद्वानों के विरोध ही से अविद्वानों में विरोध बढ़ कर विविध दुःखों की वृद्धि और सुखों की हानि होती है। यह हानि स्वार्थी मनुष्यों को प्यारी है, परन्तु इसने सर्व साधारण को दुःख सागर में डुबो दिया।

—महर्षि दयानन्द

ब्राह्म समाज / प्रार्थना समाज के दोष

प्रो० रामसिंह एम० ए०

o o o

ब्राह्म-समाज और प्रार्थना-समाज की स्थापना भी आर्यसमाज के लगभग साथ ही हुई। किन्तु इसके संस्थापक पश्चिम की चकाचौंध में वह गए। भारत के उत्थान का यह प्रयत्न भी बाह्य प्रभाव से प्रेरित होने के कारण असफल हुआ। इन का विवेचन विद्वान् की लेखनी से लिखित लेख में पढ़िए। —संपादक

o o o

ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में भारत पर मुसलमानों के आक्रमण का पूरा जोर रहा। इस्लाम का आक्रमण भारत पर प्रधानतया धार्मिक था। इस्लाम की तलवार भारत को मुसलमान बनाने आयी थी। परन्तु भारतीय राजनैतिक दृष्टि से चाहे पिछड़ गये और पराजित होकर पराधीन भी रहे, परन्तु धार्मिक क्षेत्र में मुसलमानों को पूर्ण सफलता नहीं मिलने दी। इस्लाम के शासनकाल में हिन्दुओं ने आन्तरिक और बाह्य साधनों से जन-समुदाय को इस्लाम के हल्के में आने से काफी रोक-थाम की। बाल-विवाह, सती प्रथा, पर्दा, खान-पान का वन्धन, जाति और रोटी-बेटी के कड़े नियम, छूआ-छूत आदि अनेक ऐसी रीतियाँ बनाई गईं जिनसे बाह्य रूप से हिन्दू धर्म की रक्षा की गयी। इसी प्रकार कबीर-सरीखे सन्तों के द्वारा इस्लाम और हिन्दू धर्म को निकटतर लाने का यत्न भी एक प्रकार से मुसलमानी वेग को रोकने का सरल

उपाय था। इस प्रकार हिन्दू धर्म अपनी आत्मरक्षा में लगा रहा और इन छः सात शताब्दियों में कोई माई का लाल उत्पन्न नहीं हुआ जो इस्लाम के विरोध में धर्म के स्तर पर टक्कर लेता और न्याय और युक्ति की तलवार से ऐसा धावा बोल देता कि इस्लाम को लेने के देने पड़ जाते। दुर्भाग्यवश इस प्रकार के प्रत्याक्रमण का किसी को विचार ही नहीं आया।

इन रीति-रिवाजों का जहाँ अच्छा परिणाम हुआ, वहाँ हिन्दू धर्म का दम भी घुट गया और देखते-देखते अनगणित मत और सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये। हिन्दू धर्म का ढाँचा ही बिगड़ गया। नवीन रूढ़ियां अब किले का काम न दे सकीं। उस पर एक नई और आपत्ति आ गई। देश में यूरोपियन जातियों का आगमन प्रारम्भ हो गया। अन्त में अंग्रेजों का आधिपत्य होने से ईसाइयों को सुअवसर मिल गया। इस बिगड़ी हुई दशा का लाभ उठाकर हिन्दुओं को ईसाई बनाना प्रारम्भ कर दिया गया। रही-सही कसर अंग्रेजी शिक्षा ने पूरी कर दी वही रूढ़ी और दृढ़ बन्धन और रीति रिवाज जिन्होंने इस्लाम से रक्षा में सहायता की अब अभिशाप बन गये।

ऐसी स्थिति में जिन महानुभावों ने हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए जो प्रयत्न किये वह सराहनीय अवश्य हैं; परन्तु वह राम-बाण औषध नहीं थे।

ब्रिटिश-शासन की नींव सबसे पहले बंगाल में पड़ी—इसलिये स्वभावत:, हिन्दू समाज की रक्षा के आन्दोलनों का श्री गणेश बंगाल से हुआ। श्री राम-मोहन राय इनके जन्म दाता कहे जा सकते हैं। इन्होंने मूर्तिपूजा जाति-पाँति रूढ़िवाद और सती प्रथा के विरुद्ध घोर प्रचार किया साथ ही ईसाई-धर्म के प्रति भी अनुराग उत्पन्न किया। सन् १८२८-३० में ब्राह्म समाज की नींव डाली। सन् १८३३ में इनके देहावसान के पश्चात् ब्राह्म समाज की बागडोर श्री देवेन्द्रनाथ जी ठाकुर (कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता) के हाथ आयी। इन दिनों श्री स्वामी जी महाराज (महर्षि दयानन्द) जी की ख्याति काशी-शास्त्रार्थ के कारण सारे देश में फैल चुकी थी। श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर भी श्री स्वामी जी से अत्यन्त प्रभावित थे। अत: उन्होंने श्री स्वामी जी को बंगाल आने का निमन्त्रण दिया था।

श्री स्वामी जी दिसम्बर १८७२ में कलकत्ते पहुँचे। इन दिनों सभी गण्य मान्य व्यक्तियों द्वारा आप का स्वागत किया गया। श्री स्वामी जी ने इस

अवसर से लाभ उठाकर श्री केशवचन्द्र सेनादि सुधारक—समुदाय द्वारा परिचालित ब्राह्मसमाज तथा तत्सम अन्य समाजों का अच्छा अनुशीलन किया तथा उनके गुण-दोष बताकर उन्हें वैदिक धर्म के गूढ़ तत्वों को समझाया। परन्तु यह लोग आर्य धर्म की महानता स्वीकार करते हुये भी अपने प्रारम्भ किये हुये कार्य से लौटने का साहस न जुटा सके। इसलिये इस एकादश समुल्लास में मुनिवर ने पुराने और इस्लामी काल के आर्यावर्त्तीय मतमतान्तरों की समीक्षा के साथ-साथ इस ईसाई धर्म के उपदेशों से प्रेरित और नवीन पाश्चात्य-शिक्षा से प्रभावित ब्राह्म समाजादि सम्प्रदायों की भी काफी समालोचना की है। श्री महाराज इन नवीन मतों को अधिक से अधिक प्रशंसा के रूप में 'एक गुल-दस्ता' कह सकते थे जिनमें प्राय: सभी मतों के फूल इकट्ठे करने का प्रयत्न तो किया जाता रहा—परन्तु उस गुल दस्ते का मूल (जड़) नहीं, अत: वह कभी स्थायी नहीं हो सकेगा, शीघ्र ही मुरझा जायेगा।

अत: ब्राह्म समाज और प्रार्थना समाज (तथा अन्य इसी प्रकार के प्रचलित समाज देव समाज थ्योसिफीकल समाज आदि) अच्छे हैं वा नहीं—इस प्रश्न का समाधान करते हुये श्री महाराज कहते हैं "कि इनमें कुछ २ बातें अच्छी और वहुत सी बुरी हैं" इनके नियम सर्वांश में अच्छे नहीं क्योंकि वेद विद्याहीन लोगों की कल्पना का कोई सत्याधार नहीं होता इसलिये वह सर्वाङ्गीण सत्य नहीं हो सकती। हाँ ब्राह्म समाज और प्रार्थना समाज ने ईसाइयों की ओर झुक कर हिन्दू धर्म की कुछ बातों को लेकर कुछ लोगों को इसाई होने से बचा लिया अवतार वाद मूर्ति पूजा तथा अन्य अन्ध विश्वासों और धार्मिक कुरीतियों का भी खण्डन किया। इस अंश में उनका प्रचार और प्रयत्न स्तुत्य है।

श्री स्वामी जी ने ब्राह्म समाजादि संस्थाओं को निकट से देखा था अत: उन्होंने संक्षेप से इनके १६ सोलह दोष गिनाये हैं। इनमें अधिक विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं—इस प्रकार की अन्य संस्थाओं की समालोचना इन्हीं के अन्तर्गत है। श्री स्वामी जी के लेख को दृष्टि में रखते हुये इनका निम्न प्रकार से उल्लेख किया जा सकता है।

१—पाश्चात्य शिक्षा—दीक्षा से यह लोग अत्यन्त प्रभावित हैं। उन्हीं देशों की ओर उन्हीं लोगों की प्रशंसा करते नहीं थकते—इसलिये इन लोगों में

स्वदेश भक्ति अति न्यून है। "Keshab chandra Sen ran counter to the rising tide of national consciousness then feverishly awakening.

(Drophets of India Page 97,)

रोम्यों रोलां लिखते हैं—केशवचन्द्र सेन भारत की उस राष्ट्रीय जागृति के कट्टर विरोधी थे जो उन दिनों ज्वर की भान्ति लोगों को हिडोल रही थी।

२—व्याख्यानों में ईसाई आदि अंग्रेजों की प्रशंसा करते हैं। ब्रह्मादि महर्षियों का नाम भी नहीं लेते—उन की निन्दा करते हैं। आर्यावर्ती लोगों को मूर्ख समझते हैं—श्री केशवचन्द्र सेन अपने एक व्याख्यान में जो 'जीसस क्राइस्ट, योरुप—एशिया' के शीर्षक से सन् १८६५ में छपा है—कहते हैं—'I Cherish the profoundest reverense for the character of gesus and the lofty ideal of moral truth which he taught and lived and thus in Chrish Europe and Asia the East and the west may learn to find harmony and unity"—(jesus Chriest Europe and Asia by k. c. sen.)

मैं ईसा के चरित्र तथा नैतिक सत्यता के महान आदर्श के प्रति जिसका न केवल उन्होंने प्रचार किया प्रत्युत तदनुसार जीवन यापन किया, अत्यन्त आदर और मान करता हूँ। ईसा में ही एशिया और योरोप, पूर्व और पश्चिम एकता और सामञ्जस्य देख सकते हैं। (जीसस् क्राइस्ट, योरोप एण्ड एशिया)।

३—वैदिक ग्रन्थों की निन्दा करते हैं। इनके उद्देश्य पुस्तक में साधुओं की गणना में ईसा, मूसा, मुहम्मद, नानक, चैतन्यादि के नाम तो मिलेंगे परन्तु ऋषि मुनियों का तनिक भी उल्लेख नहीं।

प्रमाण स्वरूप ब्राह्म समाज का पांचवां नियम देखिये—"परमेश्वर कभी भी नर-तन धारण करके मनुष्य नहीं बनता। उसका ईश्वरत्व प्रत्येक मनुष्य में वास करता है। और कुछ में अधिक स्पष्टता से प्रकट होता है। मूसा, ईसा मसीह, मुहम्मद, नानक, चैतन्य तथा दूसरे महानुभाव विशेष समयों पर प्रकट हुये और संसार को अनेक लाभ दिये—"इसमें कहीं भी न 'राम' का नाम, न 'कृष्ण' का न किसी ऋषि का, न मुनि का।

४—अंग्रेज, यवन, अन्त्यज आदि से भी खाने पीने का भेद नहीं रखा। "इन्होंने समझा कि केवल परस्पर खाने-पीने और जाति भेद तोड़ने से हम और हमारा देश सुधर जायगा"। इन शब्दों के साथ श्री स्वामी जी ने 'जाति' शब्द की व्याख्या करते हुये भली भाँति समझाया है कि जाति भेद ईश्वर कृत है। परन्तु मनुष्य कृत जो जाति भेद है वह केवल गुण-कर्म स्वभावानुसार ही किया जाना उचित है। राजा लोग (अधिकारी वर्ग) तथा विद्वान् लोग ही भलीभाँति परीक्षा करके ही वर्ण का निश्चय किया करें। जन्मना प्रचलित जातिभेद वेद-विरुद्ध होने से सर्वथा त्याज्य और निन्दनीय है। इसी प्रकार भोजन भेद भी पशु-पक्षी आदमियों में ईश्वर कृत है, परन्तु मनुष्यों द्वारा देशकाल और वस्तु-स्थिति के अनुसार मनुष्य कृत भी है, इससे ब्राह्म समाजी तथा अन्य इसी प्रकार के लोग खान-पानादि और रहन-सहन में योरोप वालों की अन्धी नकल करके उन्नति नहीं कर सकते। धर्माधर्म विचार द्वार अपनी संस्कृति और वैदिक जीवन पद्धति का आश्रय लेने से ही हम सब का कल्याण हो सकता है।

५—छूत-अछूत (हरिजन) व्यवहार का भी सभी नवीन समाज सुधारकों ने खण्डन किया है। श्री राममोहन राय से लेकर गांधी जी तक इसके विरुद्ध प्रचार करते रहे हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् इस समस्या को हल करने लिये जो पग उठाये गये, उनमें विधान की धारा १७ अत्यन्त महत्त्व पूर्ण है—उसमें लिखा है:—"छूआ-छूत और उसका व्यवहार प्रत्येक अवस्था या रूप में वर्जित है"। इसी को दृष्टि में रखते हुये जन प्रतिनिधि—विधेयक, १९५१ (Representation of Peoples Act 1951) की धारा १२३ में जाति-पांति के नाम पर निर्वाचन के समय आन्दोलन करना वर्जित ठहराया गया तथा १९५६ में लोक सभा द्वारा (The untouchabilty Act 1956) छूआछूत-विरोधी विधेयक बनाकर अछूत कहे जाने वाले लोगों को, मन्दिरों, भोजन गृहों सार्वजनिक संस्थाओं, कुओं और नलादि स्थानों पर बेरोक-टोक प्रवेश करने और लाभ उठाने की आज्ञा दी गई। तथा विवाह—सम्बन्धी नियमों में भी क्रांति-कारी परिवर्तन करके हरिजन—समस्या को सुलझाने का सदैव के लिये स्तुत्य प्रयास किया। परन्तु सच तो यह है कि इस बुराई को दूर करते २ अनेक अन्य बुराइयां उत्पन्न हो गई हैं। हरिजन एक अलग-थलग (cast) का रूप ले रही

है। भारतीय समाज में एकरूपता के स्थान पर अनेकरूपता और संघटन के स्थान पर विघटन ही बलवान है। जन्म-जातिमूलक प्रवृत्तियां बढ़ रही हैं।

भगवान दयानन्द के मन्तव्यानुसार समाज की इन सभी जन्म-मूलक बुराइओं को दूर करने का एक ही मार्ग है और वह है वैदिक वर्णाश्रम धर्म का क्रियात्मक पुनर्निर्माण। धरा-धाम पर इस आर्षमर्य्यादा के बिना शाश्वत-शान्ति और सुख नहीं मिल सकेगा। आज अमेरिका में गोरे काले का भेद, अफरीका में जाति-विद्वेष तथा इसी प्रकार के मौलिक प्रश्न सभी देशों में गुण-कर्म-स्वभाव के प्राकृतिक नियम के आधार पर ही हल किये जा सकते हैं।

६—"ब्राह्म समाजादि मत वास्तव में सृष्टि के क्रम तथा जीवादि के अस्तित्व के सम्बन्ध में न वैज्ञानिक दृष्टि से सोचते हैं और न गम्भीरता पूर्वक इनका विवेचन ही करते हैं। श्री अरविन्द के लेखानुसार भी "स्वामीजी में, १९ वीं शती के अन्य धर्म सुधारकों की अपेक्षा यह विशेषता थी कि वह वेदों के अद्वितीय पण्डित थे। राजा राममोहनराय श्री देवेन्द्रनाथ, केशवचन्द्र सेन, श्री रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानन्द वेदों के ज्ञाता नहीं थे। यह केवल उपनिषदों तक ही जाकर ठहर गये।"

इसी कारण इन महानुभावों के मन्तव्य शंकर-मत के अनुसार व्याख्याकृत उपनिषदों के ज्ञान तक सीमित रह गये। "उपनिषदों को भी आधार-ग्रन्थ की तरह माना, प्रमाण की तरह नहीं। इससे भी बढ़ कर विचित्र बात यह हुई कि यह ब्राह्म समाजादि कुरान और इञ्जीलदि सभी मत-ग्रन्थों को समान आदर देते हुये उनकी अवैदिक धारणाओं को भी मानने लगे—यथा

७—पश्चात्ताप और प्रार्थना से पापों की निवृत्ति। श्री स्वामी जी महाराज इस पर रोष प्रकट करते हुये लिखते हैं कि—'इस बात से जगत् में बहुत से पाप बढ़ गये हैं। पुराणी लोग तीर्थादि से, जैनी लोग नवकार मन्त्र, जप, तीर्थादि से, ईसाई-ईसा में विश्वास से, मुसलमान (तोबा) करने से, पाप से छुटकारा मानते हैं। यह सब वेद विरुद्ध बातें हैं। इन्हीं से तो जगत् में पाप बढ़ जाते हैं। बिना भोग के पाप-पुण्य की निवृत्ति असम्भव है तथा ईश्वरीय न्याय के विपरीत।

वैदिक मन्त्रों में जो भी प्रार्थनायें हैं, वह केवल पाप तथा अधर्म की वृत्तियों को रोकने, भविष्य में पाप न करने और सदैव धर्म्माचरण करने को ही प्रतिपादित करती हैं। किये हुए पापों के क्षमा होने का वर्णन कहीं भी नहीं है। श्रुति और स्मृतियों के अतिरिक्त रामायण और महाभारत तक स्थान-स्थान पर यही उद्घोष करते हैं। यथा—

> अवश्यमेव लभते फलं, पापस्य कर्मणः।
> भर्तः पर्यागते काले. कर्ता नास्त्यत्र संशयः।।
>
> (वाल्मीकि० युद्ध० १११)

> यत्करोत्यशुभं कर्म शुभं यदि वा सत्तम।
> अवश्यं तत् समाप्नोति पुरुषो नात्र संशयः।।
>
> (महाभारत० वन० अध्याय २०८)

८—ब्राह्म समाजादि लोग जीव की अनन्त उन्नति मानते हैं, जो ज्ञान-विज्ञान और तर्कादि के सर्वथा विरुद्ध है। जीव ससीम है, अल्पज्ञ है। उसके गुण-कर्म-स्वभाव का फल भी ससीम ही होगा।

वास्तव में ब्राह्मण समाज के नेताओं पर ईसाइयत का इतना प्रभाव था कि वह 'मोक्ष' और 'पुनर्जन्म' के सम्बन्ध में अधिक गवेषणापूर्वक विचार ही नहीं कर सके। श्री स्वामी निर्वेदानन्द जी लिखते हैं—

In its conception of religious faith as well as social reform, the Brahma Samaj leaned at times to considerable extents on exotic ideals. From its very conception it bore the stamp of Western Christianity. Keshab Chandra went so far as to soak the very core of the Brahmas creed with Christian ideals (Cultural Heritage of India. Page 445.)

अर्थात् धार्मिक विश्वास और सामाजिक-सुधारों की कल्पना के लिए ब्राह्मसमाज को कभी-कभी बहुत सीमा तक भ्रमात्मक आदर्शों पर निर्भर होना पड़ा। प्रारम्भ से ही उस पर पाश्चात्य ईसाइयत की छाप रही। श्री केशवचन्द्र जी तो इतनी दूर चले गये कि उन्होंने ब्राह्म-धर्म की नींव ही ईसाई-आदर्शों में सराबोर कर डाली।

९—ब्राह्मसमाज इसी प्रकार न पुनर्जन्म को मानते हैं और न ही पूर्व-जन्म को। यह धारणा भी ईसाई और मुसलमानों के प्रभाव से ही बनी है। यह लोग यह नहीं समझते कि जीव शाश्वत और नित्य है और इसी कारण जीव के कर्म भी प्रवाह रूप से नित्य हैं।

पूर्व और अपर जन्म न मानने से ईश्वर के विषय में चार प्रकार के दोष सम्भव हो जाते हैं—१. कृतहानि—भला यदि मरने के पश्चात् जन्म न हो, तो इस लोक में किये हुये कर्मों का फल कब मिलेगा? क्या कर्म (शुभ या अशुभ) बिना फल के रह जायेंगे। २. अकृताभ्यागम—कर्म किये बिना ही सुख-दुःख रूपी फल का भोग अकृताभ्यागम दोष कहलाता है। बिना कर्म किये हुये ही संसार में अन्धे, लंगड़े, अमीर, गरीब आदि की व्यवस्था क्यों और कैसे? इस दोष को दूर करने के लिए पूर्व-जन्म का मानना अनिवार्य हो जाता है। इसी प्रकार ३. नैर्घृण्य और ४. वैषम्य दोषों को भी समझना चाहिये। बिना अपराध के दंड देना और अकारण ही कोई सुखी और कोई दुःखी बनाया जाना—न्याय और सम-व्यवहारता के विपरीत है। इन दोषों का निवारण और समाधान केवल पूर्व-पर जन्म मानने से ही हो सकता है, अन्यथा नहीं।

१०—ब्राह्म-समाज के नेता श्री केशवचन्द्रसेन ईसाइयत के प्रभाव में आकर यहां तक उदार हो गये थे कि इन्होंने न केवल अग्निहोत्रादि कर्त्तव्य-कर्मों को तिलाञ्जलि दी प्रत्युत एक वृहत्-जन-समूह के समक्ष अपने यज्ञोपवीत को भी उतार कर फेंक दिया और इस प्रकार स्वयं एक कट्टर बुद्धिवादी होने का दावा करने लगे। सृष्टि के पूर्व के एक ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य तत्व को भी नहीं मानते थे।

सन् १८७२ में श्री स्वामी जी कलकत्ते पधारे तो सेन महोदय श्री स्वामी जी की सेवा में उपस्थित हुए और अपने समस्त सन्देहों को स्वामी जी के सन्मुख रखा। साथ ही यह भी पूछा कि महाराज भिन्न-भिन्न धर्म्मों के मानने वाले लोग अपने मान्य-ग्रन्थ को ईश्वरीय और अन्तिम प्रमाण मानते हैं और आर्य वेद को ही ईश्वरीय-ज्ञान कहते हैं। हम कैसे जानें किस का

कहना सच्चा है? श्री स्वामी जी ने युक्ति-युक्त और प्रमाण सहित वचनों से सेन महोदय के सभी संदेहों का समाधान किया और साथ कुरान और इञ्जील-बाइबिल के अनेक दोष दिखा कर बलपूर्वक कहा—"सभी भाँति निर्दोष होने से वैदिक धर्म ही सच्चा है।"

इस वाक्य पर सेन महाशय के मुख से सहसा निकल पड़ा—

"शोक है कि वेदों के अद्वितीय विद्वान् अंग्रेजी नहीं जानते, अन्यथा इंग्लैंड जाते समय मेरे इच्छानुकूल साथी होते।"

श्री स्वामी जी ने भी तत्काल उत्तर दिया—"शोक है कि ब्राह्म-समाज का नेता संस्कृत नहीं जानता और लोगों को उस भाषा में उपदेश देता है जिसे वे नहीं समझते"—(श्रीमद्दयानन्द-प्रकाश)

ब्राह्म-समाज, प्रार्थना-समाज तथा इसी प्रकार के तात्कालिक संगठनों की स्थापना और उनके सिद्धान्तों की अपूर्णता को देख कर ही स्वामी जी ने उनके नेताओं से प्रबल अपील की थी कि—"जो उन्नति करना चाहो तो आर्य्य-समाज के साथ मिलकर उसके उद्देश्यानुसार आचरण करना स्वीकार कीजिये नहीं तो कुछ हाथ न लगेगा। क्योंकि हम और आपको अति उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे होगा, उसकी उन्नति तन, मन, धन से सब जने मिल कर प्रीति से करें। इसलिये जैसा आर्य्य-समाज आर्य्यावर्त्त देश की उन्नति का कारण है, वैसा दूसरा नहीं हो सकता।"

●

ऋषि मुनियों का देश भारत उत्कर्ष के लिए "वेद" का प्रकाश चाहता है। इसके बिना और कुछ भी हो रामराज्य की स्थापना नहीं हो सकती।

आर्यावर्त्त देशीय राजवंश

श्री अवनीन्द्र कुमार विद्यालंकार

o o o

भारत के उत्कर्ष की झाँकी इतिहास के पृष्ठों में अपनी कथा स्वयं कहती है। ऋषि दयानन्द ने एकादश समुल्लास के अंक में जो वंशावली दी है उससे इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। विद्वान् लेखक ने इसी पर सविस्तार सामग्री प्रस्तुत की है।

—संपादक

o o o

"वयं प्रजापते प्रजा अभूम:"

कार्ल मार्क्स और महर्षि दयानन्द समसामयिक थे। दोनों एक नए समाज का निर्माण करना चाहते थे। एक के सामने एक विशिष्ट वर्ग का उद्धार था। दूसरे के सामने लक्ष्य था, परमात्मा का राज्य स्थापित करना। ऋषि किसी वर्ग विशेष और व्यक्ति विशेष का नहीं परमात्मा का राज्य इस लोक पर स्थापित करना चाहते थे। क्योंकि ऋषि ने छठे समुल्लास के अन्त में लिखा है।

"हम प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्रजा और परमात्मा हमारा राजा हम उसके किंकर भृत्यवत् हैं। वह कृपा करके अपनी सृष्टि में हमको राज्याधिकारी करे और हमारे हाथ से अपने सत्य न्याय की प्रवृत्ति करावे।"

राज्य के विषय में ऋषि की कल्पना का सूक्ष्म तत्त्व इसमें विद्यमान है। इसके बाद ११ वें समुल्लास के अन्त में "न वेत्ति यो यस्य गुण प्रकर्ष" "श्लोक

की व्याख्या करते हुए लिखते हैं।" "इसके आगे जो थोड़ा सा आर्य राजाओं का इतिहास मिला है, इसको सब सज्जनों को जानने के लिए प्रकाशित किया जाता है।"

स्पष्ट है, ऋषि सम्पूर्ण इतिहास नहीं लिख रहे हैं। यहाँ आर्य राजाओं का शब्द ध्यान देने योग्य है। महर्षि भारतवर्ष के सब राजाओं का नहीं, केवल 'आर्य राजाओं' का प्राप्त इतिहास प्रकाशित कर रहे हैं।

'आर्य राजाओं' से ऋषि का क्या अभिप्राय है इसको विशद करते हुए ऋषि ने लिखा है।'

अब थोड़ा सा आर्यावर्त्तदेशीय राजवंश कि जिसमें श्रीमान् महाराजा युधिष्ठिर से ले के महाराज "यशपाल" पर्यन्त हुए हैं, उस इतिहास को लिखते हैं। और श्रीमान् महाराजे "स्वायंभुव" मनु से ले के महाराज युधिष्ठिर पर्यन्त का इतिहास महाभारतादि में लिखा ही है। और इससे सज्जन लोगों को इधर के कुछ इतिहास का वर्तमान विदित होगा।

ऋषि ने जो इतिहास दिया है, वह हरिश्चन्द्र चन्द्रिका (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित) और मोहन चन्द्रिका (नाथ द्वारा) से लेकर दी है बल्कि "उससे हमने अनुवाद किया है। यह इतिहास १७८२ की लिखी एक प्राचीन पुस्तक से लिया गया है।" उस पुस्तक और उसके रचयिता का नाम नहीं दिया गया है।

दो पाक्षिक पत्रों से अनुवाद करके अपने अनमोल सिद्धान्त-ग्रन्थ में ऋषि ने राजवंशावलियाँ क्यों दी, यह भी जानने योग्य है। ऋषि ने लिखा है "यदि ऐसे ही हमारे आर्य सज्जन लोग इतिहास और विद्या पुस्तकों का खोज कर प्रकाश करेंगे, तो देश को बड़ा ही लाभ पहुँचेगा" महर्षि की यह इच्छा अपूर्ण ही रही। इसने ऐतिहासिक गवेषणा और प्राचीन पुस्तकों की खोज के कार्य को आगे नहीं बढ़ाया।

१७८२ की लिखी मूल पुस्तक को ऋषि ने देखा होगा, और उसके प्रामाणिक होने पर ही ऋषि ने ११ वें समुल्लास के १२४ राजाओं की सूची दी है। इनका राज्य काल ४१५७ वर्ष ६ मास १४ दिन होता है।

ऋषि का यह सप्रमाण उन लोगों को उत्तर हैं, जो उस समय प्रचार कर रहे थे कि महाभारत का युद्ध ५००० साल पहले नहीं हुआ। यहाँ ध्यान देने की बात है कि वेदों के काल के विषय में मैक्समूलर का मत बाद में जो बदला वह ऋषि के साथ पत्र-व्यवहार करने के बाद। परन्तु उसने जो लिखा कि ऋग्वेद का काल ई० से १२०० वर्ष पहले है, उसने अपना काम कर दिया। आज भी यह उद्धृत किया जा रहा है। इसको मानने का अर्थ है कि भारतीय जनता और ज्योतिष की यह मान्यता कि महाभारत का युद्ध ५००० साल पहले हुआ है, सर्वथा भ्रमात्मक है। यह मानने पर इस देश के लोग सर्वाधिक प्राचीन और सभ्य होने का गौरव कैसे करते ? ऋषि ने यह वंशावलि देकर भारतीयों के गौरव और स्वाभिमान को जाग्रत ही नहीं किया है उसको एक प्रामाणिक आधार पर खड़ा किया है।

भारतीय इतिहास के अध्ययन के लिए ऋषि ने एक नवीन दृष्टि दी है। भारतीय इतिहास को प्रान्तों, व जनपदों के इतिहास में विभक्त न कर सम्पूर्ण देश के इतिहास को एक केन्द्रीय विन्दु से अध्ययन करना चाहिये। ऋषि ने इन्द्रप्रस्थ को केन्द्रस्थल माना है। क्योंकि यहाँ राजसूय यज्ञ हुआ था। यद्यपि परीक्षित की राजधानी हस्तिनापुर थी। गंगा में बाढ़ आने पर पुरुवंश कौशाम्बी चला गया था। भगवान बुद्ध के समय भारत के बड़े राजाओं में उदयन भी एक था, जिससे बौद्ध लोग बहुत नाराज थे। एक मात्र इस आर्य राजा ने बुद्ध के चरणों में अपना मस्तक नत नहीं किया था। उदयन एक लोक प्रिय शासक हुआ है। पर ऋषि की इस वंशावली में उसका नाम नहीं है। कारण स्पष्ट है, वह इन्द्रप्रस्थ छोड़ गया था।

यूरोपियन और अब भारतीय ऐतिहासिक भी भारतीय ज्ञान इतिहास का आरम्भ सिकन्दर के भारत पर आक्रमण करने से करते हैं, (वि० स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया' में इससे ही किया है। अब मोहनजोदड़ो से किया जाने लगा है। किन्तु उसको आर्य सभ्यता का अंग नहीं माना जाता।

इस वंशावली में और एक बात उल्लेख योग्य है। भारत के राजा दिल्ली का राज्य पाने के लिये सदा प्रयत्नशील रहे। वे सब मानते थे कि दिल्ली का

राजा होने पर ही उनकी प्रतिष्ठा होगी और वे भारत भर के राज्य माने जायेंगे। यह प्रवृत्ति ध्यान देने योग्य है। पटना, काशी, कौशाम्बी और अवन्तिका, उज्जैन दिल्ली का स्थान न ले सके। जो गौरव इस देश के निवासियों के हृदय में दिल्ली के लिए था। वह अन्य राजधानियों के लिये नहीं था।

राजा वीरमहा के राजवंश में १६ वां और अन्तिम राजा आदित्यकेतु था। इस राजा के विषय में लिखा गया है कि "राजा आदित्यकेतु मगध देश के राजा को धंधर नामक प्रयाग के राजा ने मार कर राज्य किया।" पटना प्रयाग की यह लड़ाई इन्द्रप्रस्थ के राज्य के लिये है। आदित्यकेतु मगध का भी शासक था और दिल्ली का भी। यह एक नई बात ज्ञात होती है। मगध के ज्ञात राजाओं में आदित्यकेतु नामक किसी राजा का पता नहीं मिलता। सम्भव है यह वीरसेन का पुत्र न हो और मगध की ओर से इन्द्रप्रस्थ का गवर्नर नियुक्त किया गया हो। लेकिन यह अनुसन्धान का विषय है। राजा धंधर प्रयाग का राजा था यह भी गवेषणीय है। धंधर ने दिल्ली में अपना वंश स्थापित किया। इसके अन्तिम राजा राजपाल को सामन्त महान पाल ने मार दिया। किन्तु इसका राज्य अधिक दिन टिका नहीं। क्योंकि अवन्तिका के राजा विक्रमादित्य ने महानपाल को मार दिया। अवन्तिका को उज्जैन नहीं मानना चाहिए। ये दो पृथक-पृथक नगर थे। मालवा के दो भागों की राजधानियां थीं।

विक्रमादित्य भी स्थायी नहीं हो सका। ये सब एक पीढ़ी के राज्य रहे। वंशावली लेखक ने भी लिखा है "इनका विस्तार नहीं है।"

विक्रमादित्य को पैठण के शालीवाहन के उमराव समुद्रपाल ने मारा और अपना राजवंश चलाया। पैठण के एक उमराव की दिल्ली का राज्य पाने की इच्छा बताती है कि दिल्ली का भारतीय जनता के मन में क्या स्थान था। मगध, अवन्तिका और पैठण की दिल्ली के प्रति यह भक्ति अकारण और केवल राज्य-विस्तार की इच्छा से नहीं हो सकती। दिल्ली का राजा सारे देश का राजा माना जाता था। यह परम्परा और भावना तो मुगलों के समय तक ही क्यों अंग्रेजों में भी जारी रही।

यह अनुभूति पाश्चिम के एक राजा मलुखचन्द (बोहरा) को भी थी। इसने लड़ाई में विक्रमपाल को मार कर इन्द्रप्रस्थ का राज्य पाया। ऋषि दयानन्द ने दिल्ली नरेशों को ही आर्य राजा कहा है। इसका विशेष कारण है। मलुखचन्द्र की १० वीं पीढ़ी में रानी पदमानवी ने राज्य किया। वह निःसन्तान थी। इस समय सब मुसद्दियों ने सलाह करके हरिप्रेम को राजा बनाया। हरिप्रेम के राजा चुनने की विधि ध्यान देने के योग्य है। दूसरी बात यह है कि हरिप्रेम का प्रपोता महाबाहु राज्य छोड़कर वन में तपस्या करने चला जाता है। और कालिदास के इस आदर्श को पूरा करता है।

वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीनां, योगे नान्ते तनुत्यजाम्।

दिल्ली नरेश आर्य आदर्शों पर चलते थे और ऋषि ने इसी कारण सम्भवतः निर्बल और प्रभावहीन राजाओं की नामावली देना उचित समझा है। मुस्लिम शासन ने आर्य संस्कृति को कितना भारी आघात पहुंचाया है इसकी कल्पना क्या इसके बिना हो सकती थी ? ऋषि ने यह बात नहीं कही। पर जो लोग मुस्लिम शासकों को भारतीय और राष्ट्रीय मान रहे हैं उनको अवश्य चेता दिया है। जो व्यक्ति भारतीय संस्कृति के विपरीत चलता है, वह कैसे राष्ट्रीय माना जा सकता है ?

महाबाहु के वन में जाने पर बंगाल के राजा अधिसेन ने दिल्ली पर हमला किया। बंगाली नरेश दिल्ली को किस दृष्टि से देखते थे, यह इससे स्पष्ट है। बंगाल में पालवंशी राजाओं के बाद सेन वंशी राज्य हुए हैं। लक्ष्मणसेन का नाम प्रसिद्ध है। इस वंश से क्या अधिसेन का कोई सम्बन्ध था ? यह पक्का पता नहीं। क्योंकि बंगाल के सेनवंशी राजाओं में अधिसेन का नाम उल्लिखित नहीं है। परन्तु इन सब राजाओं का नामान्त सेन से ही हुआ है, सिंह से नहीं। इससे यह तो मानना होगा कि अधिसेन बंगाल का ही था। एक बात और उल्लेख योग्य है। दिल्ली के पास लोहे की कीली है। यह ढिल्लु की लगाई बताई जाती है। लेकिन इस राजवंशावली में इस नाम का कोई व्यक्ति नहीं है। ऋषि की दी गई वंशावली से और दो बातें भी मालूम होती हैं।

दिल्ली का राजा अंनगपाल नाम का कोई नहीं हुआ 'पाल' नाम वाले १२ राजा हुए हैं, परन्तु उनमें अनंगपाल का नाम नहीं। दूसरी बात यह कि पृथ्वीराज ने जब दिल्ली की गद्दी ली तो नाती होने के नाते प्राप्त नहीं की, अपितु राजा जीवनसिंह से प्राप्त की। पृथ्वीराज अजमेर का नहीं था, जैसे कि प्रसिद्ध ऐतिहासिक और राजपूताना के इतिहास के लेखक श्री गौरीशंकर हीराचन्द ने भी माना है। जब पृथ्वीराज ने दिल्ली की गद्दी लड़कर प्राप्त की थी; तब कन्नौज के जयचन्द्र से विरोध होने का कोई कारण नहीं हो सकता। अनंगपाल के इन दोनों नातियों में दिल्ली को लेकर वैर हुआ, यह इस वंशावली से सत्य प्रमाणित नहीं होता (४) पृथ्वीराज इसमें वैराट का राजा बताया गया है, अजमेर का नहीं। चौहाण कुल आज भी बड़ी संख्या में सहारनपुर और बिजनौर जिले में बसे हुए हैं। इनकी कुल देवी शाकमारी (वैराट)के ही शिकसन पर्वत पर पास है सिकन्दर के आक्रमण के समय भी ये लोग यहाँ ही बसे हुए थे। इसलिए पृथ्वीराज का वैराट से आकर दिल्ली लेना अधिक स्वाभाविक है। 'पृथ्वीराज रासो' की कथा इसको मानने में बाधा है। परन्तु पृथ्वीराज रासो की ऐतिहासिकता ही जब सन्दिग्ध है, तब उसको आधार मानना युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। (५) शाहबुद्दीन गौरी की लड़ाई पृथ्वीराज से नहीं हुई, यशपाल से हुई। यह सर्वथा एक नई बात है। स्कूल की किताबों तक में यह पढ़ाया जाता है। अन्तिम हिन्दू राजा पृथ्वीराज था। परन्तु सत्यार्थ प्रकाश में दी गई वंशावली से पता चलता है कि पृथ्वीराज के वंशधरों ने ५ पीढ़ी और ८६ वर्ष राज्य किया। (६) यशपाल गजनी नहीं ले जाया गया, बल्कि प्रयाग के किले में कैद रखा गया। (७) यशपाल के बाद शाहबुद्दीन गौरी ने राज्य किया। ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं "पश्चात् इन्द्रप्रस्थ अर्थात् दिल्ली का राज्य आप ("सुल्तान शाहबुद्दीन) करने लगा। पीढ़ी ५६, वर्ष७५४ मास १ दिन १७।"

पुस्तक १७८२ में लिखी गई। इसका अर्थ है कि १८३९ में ब्रिटिश राज्य पूरी तरह स्थापित हो गया था। वह दिल्ली के मुगल नरेशों को स्वतन्त्र नहीं मानता था। इस वास्ते प्रश्न होता है कि ५३ पीढ़ी की गणना उसने किस हिसाब से की।

स्वामी जी ने जो वंशावली दी है, उसकी प्रामाणिकता इससे प्रकट है कि इस वर्ष काँगड़े की एक पुराने पुस्तकालय से प्राचीन किताब मिली है। उसमें जो वंशावली दी गई है, वह और सत्यार्थप्रकाश में दी गई राजवंशावली में एक दो नामों को छोड़कर कोई अन्तर नहीं है। इसलिये ऋषिदयानन्द का यह लिखना कि वे इसको और अनुसन्धान करने के लिए दे रहे हैं, सर्वथा उपयुक्त है। आज जो इतिहास पढ़ाया जा रहा है, उससे यह भिन्न है। पृथ्वीराज रासो की अनैतिहासिकता इससे स्पष्ट है।

शाहबुद्दीन गौरी ने यहाँ कुछ वर्ष राज्य किया था, यह तो मुस्लिम ऐतिहासिक लेखक भी मानते हैं। परन्तु वह गजनी में गड़बड़ी होने पर बुला लिया गया था। उसके बाद गुलामवंश का राज्य शुरू हुआ। यहाँ कड़ी टूटती नहीं, केवल बदलती हैं। कुतुबमीनार के नीचले भाग में संस्कृत के लेख हैं। उनको फिर से पढ़ना चाहिये। इससे ज्ञात होगा कि इस मीनार का निर्माता वस्तुतः पृथ्वीराज ही है, या उसका कोई वंशज। यदि उसका कोई वंशज हो तो उससे ऋषि की कही बात की प्रामाणिकता में अभिवृद्धि होगी और भारत का अन्तिम हिन्दू राजा पृथ्वीराज नहीं यशपाल माना जायगा।

चाहो यदि लेना आप जग मे आनन्द सच्चा,
परम पुनीत प्रभु-भक्ति-मकरन्द का।
चाहो तरना जो अंध-अविद्या-अगम-सिन्धु,
चाहो करना विनाश दु:ख-दैन्य-फन्द का।
चाहो भरना जो सत्य ज्ञान से हृदय-कोष,
चाहो भण्ड फोड़ना पाखण्ड छल छन्द का।
चाहो करना निवृत्ति शंकाओं की तो अवश्य,
पढ़लो सत्यार्थ प्रकाश दयानन्द का।

द्वादश समुल्लास के आधार पर

चारवाक
बौद्ध
और
जैन मत विवेचन

● ● ●

संसार में नास्तिकता का आरम्भ कहाँ से हुआ, इस विषय पर तो पर्याप्त खोज की आवश्यकता है किन्तु यह तो निर्णीत सत्य है कि इस की आधारशिला "खाओ पियो और मौज उड़ाओ" पर आधारित है।

इसी विचार धारा के पोषक, चारवाक मत की विवेचना प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान प्रो० रत्नसिंह एम० ए० ने की है।

बौद्ध मत को सत्य और शांति का प्रतीक मान सर्वत्र इसका प्रसार आज राज्य भी कर रहा है। 'जैन' मत के सम्बन्ध में भी सत्य प्रगट नहीं है यह दोनों मत वस्तुतः महा-अंधकार के प्रतीक हैं। अतः सत्य असत्य के निर्णय के लिए ऋषि ने इन का वास्तविक स्वरूप चित्रित किया है।

प्रस्तुत लेख में विद्वान लेखक ने ऋषि का मंतव्य सभी को समझाने का मार्ग दर्शन किया है—विश्वास है कि नास्तिकता के प्रसारक इन मतों से सभी सावधान हो सकेंगे—

—सम्पादक

● ● ●

चार्वाक • मत • समीक्षा •

प्रो० रत्नसिंह एम० ए०

चार्वाक मत का प्रारम्भ

चार्वाक मत नास्तिकता का पर्यायवाची है। यह एक जड़वादी सिद्धान्त है। दर्शनशास्त्र में जड़वाद उस सिद्धान्त को कहते हैं जिसके अनुसार जगत् का मूल तत्व जड़ या पुद्गल होता है। मनस् अथवा चैतन्य की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती वरन् पुद्गल के विकार होते हैं। चारवाक मत की मुख्य मान्यतायें ये हैं:—जगत् की उत्पत्ति चार भूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु) से होती है, ईश्वर, जीवात्मा, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की कोई सत्ता नहीं है। धर्म, मोक्ष, स्वर्ग आदि धूर्त पण्डितों की कल्पनाएँ मात्र हैं। वेद पाखण्डियों की रचना है। जीवन का मुख्य लक्ष्य खाना पीना और मौज उड़ाना है।

भारतीय अन्य दर्शनों की भांति चारवाक दर्शन का अपना कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। इस दर्शन का परिचय अन्य दर्शनों की पुस्तकों में इस दर्शन के खण्डन में दी हुई सामग्री से ही प्राप्त होता है। काल की दृष्टि से यह दर्शन अति प्राचीन है। बीज रूप से इस विचारधारा का उल्लेख हमें प्राचीन भारतीय साहित्य में मिलता है। इस मत की एक मान्यता यह है कि मृत्यु के

उपरान्त शरीर के नष्ट हो जाने पर आत्मा नामक कोई तत्व शेष नहीं रहता यह विचारधारा कठोपनिषद् में यमनचिकेता संवाद में स्पष्ट दिखाई देती है। नचिकेता यम से पूछता है—"ये यं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥" अर्थात् मरे हुए मनुष्य के विषय में जो यह सन्देह है कि कोई तो कहते हैं रहता है और कोई कहते हैं 'नहीं रहता'; आपसे मैं इसे जानना चाहता हूँ, यम उत्तर देता है कि 'न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्त वित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे।' अर्थात् धन के मोह से अन्धे हुए और प्रमाद करने वाले उस मूर्ख को परलोक का साधन नहीं सूझता। ऐसे मूर्ख यह समझते हैं कि यही लोक है, परलोक नहीं है।

इससे सर्वथा स्पष्ट यह है कि उस समय यह विचार प्रचलित था (अल्प संख्या में या बहु संख्या में, यह कहना कठिन है) कि परलोक व पुनर्जन्म नहीं होता है और मरने के बाद आत्मा की सत्ता नहीं रहती। जैसा ऊपर लिखा गया है, यही चार्वाक की मान्यता है। छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ८ खण्ड ८ में स्पष्टतः चार्वाक विचारधारा मिलती है। वहाँ शरीर को ही आत्मा कहा गया है। देह को ही इस लोक में पूजनीय और सेवनीय माना गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् और श्वेताश्वेतरोपनिषद् में भी चार्वाक विचारधारा पाई जाती है। उपनिषदों के अतिरिक्त महाभारत, भगवद्गीता, और विष्णु पुराण में भी हमें चार्वाक सिद्धान्तों का किसी न किसी रूप में उल्लेख मिलता है।

अति प्राचीन होने के कारण ही विद्वानों के लिए यह निर्णय करना अति कठिन हो रहा है कि चार्वाक मत का जन्मदाता कौन था। अधिकतर विद्वान् बृहस्पति नामक पुरुष को इस दर्शन का प्रवर्त्तक मानते हैं। इस मत का नामकरण चार्वाक क्यों किया गया, इस विषय में भी सब एकमत नहीं है। एक विचार के अनुसार चार्वाक नामक एक व्यक्ति ने जड़वाद मत प्रचलित किया। बाद में चलकर उसके नाम पर जड़वाद को चार्वाक कहने लगे। दूसरे विचार में चार्वाक शब्द 'चर्व' धातु से निकला है जिसका अर्थ चबाना अथवा खाना है। अतः खान-पान पर अधिक बल देने वाले मत को चार्वाक कहने लगे। चार्वाक दर्शन की बातें सर्वसाधारणजनों को सुनने में प्रिय लगती हैं। अतः

कुछ विद्वानों के अनुसार मधुर वचन (चारुवाक्) बोलने के कारण यह मत चार्वाक कहलाया। चार्वाक मत को लोकायत मत भी कहा गया है क्योंकि यह लोगों में फैला हुआ (लोक+आयत) है। इसी आधार पर एक जड़वादी या भौतिकवादी को लोकायतिक भी कहते हैं।

बौद्ध और जैन भी नास्तिक हैं। चार्वाकों के समान वे भी वेद और ईश्वर की निन्दा करते हैं और जगत् की रचना बिना चेतन निमित्त कारण के मानते हैं। परन्तु बौद्ध और जैनों का चार्वाक मत से कुछ भेद भी है। वे प्रत्यक्षादि चारों प्रमाण अनादि जीव, पुनर्जन्म, परलोक और मुक्ति को भी मानते हैं। परन्तु चार्वाक इनमें विश्वास नहीं करते। अब चार्वाक मत के मुख्य सिद्धान्तों पर आगे विचार किया जाता है।

प्रमाण विचार

चार्वाक-दर्शन का मूलाधार उनकी ज्ञान-मीमांसा-सम्बन्धी विचारधारा है। ज्ञान मीमांसा के अन्तर्गत ज्ञान प्राप्त करने के साधनों पर भी विचार किया जाता है। चार्वाक लोग प्रत्यक्ष को ही एक मात्र प्रमाण मानते हैं। अपनी इस धारणा को सिद्ध करने के लिए चार्वाक दर्शन के निम्नलिखित तर्क हैं:—

यदि अनुमान एक प्रमाण है तो इसके द्वारा प्राप्त ज्ञान सत्य और असंदिग्ध होना चाहिए। परन्तु अनुमान इस शर्त को पूरा नहीं कर पाता। पर्वत पर धूम्र देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है। इस अनुमान में हम ज्ञात से अज्ञात अथवा प्रकाश से अन्धकार की ओर जाते हैं। नैयायिक व्याप्ति के आधार पर इसे उचित ठहराते हैं। परन्तु चार्वाक दार्शनिकों के अनुसार व्याप्ति असम्भव है। कुछ स्थानों पर अग्नि के साथ धूम्र देखने से यह सामान्य सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता कि जहाँ-जहाँ धूम्र है वहाँ-वहाँ अग्नि है। एक सामान्य नियम तभी बनाया जा सकता है जब कि हमने उस प्रकार की सभी घटनाओं का प्रत्यक्ष किया हो। किसी मनुष्य के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह संसार में सब समय (भूत, वर्तमान और भविष्य) और स्थानों की अग्नि और धूम्र को देख सके। और ऐसा किए बिना यह सामान्य नियम बनाया नहीं जा सकता कि जहाँ धुआँ होता है, वहाँ अग्नि भी होती है। अतः व्याप्ति

असम्भव है। स्पष्टतः प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्ति की स्थापना नहीं हो सकती। और ना ही यह किसी अन्य अनुमान पर आधारित की जा सकती है क्योंकि उससे अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायगा। शब्द के द्वारा ही व्याप्ति की स्थापना नहीं की जा सकती क्योंकि शब्दों की प्रामाणिकता भी तो अनुमान पर ही निर्भर है।

चार्वाक मत का खण्डन

यदि किसी चार्वाक से प्रश्न किया जाये कि क्यों ना प्रत्यक्ष को भी अप्रामाणिक प्रमाण मान लिया जाये तो वह इसका क्या उत्तर देगा ? या तो वह मौन हो जायगा या कहेगा कि प्रत्यक्ष प्रामाणिक है क्योंकि यह संदिग्ध नहीं है। दूसरे विकल्प में वह प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता के लिए उसी अनुमान की सहायता ले रहा है जिसका कि वह खण्डन करना चाहता है। दूसरे यदि चार्वाक का यह कथन है कि प्रत्यक्ष की मान्यता उसकी असंदिग्धता एवं निश्चितता पर आधारित है तो वही नियम अनुमान तथा शब्द पर भी लागू होता है। और यदि यह कहा जाये कि अनुमान तथा शब्द द्वारा कभी-कभी भ्रम उत्पन्न हो जाता है तो इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि ऐसा तो प्रत्यक्ष द्वारा भी कभी हो जाता है।

व्याप्ति को सोपाधि बतलाते हुए चार्वाक का तर्क है कि भविष्यकाल में अथवा किसी अन्य स्थान पर सम्भव है वैसा न हो। यह तर्क स्वयं अनुमान पर आधारित है क्योंकि भविष्य अथवा अन्य स्थान प्रत्यक्ष नहीं बल्कि अनुमान पर निर्भर है।

शब्द (वेद) भी अप्रामाणिक है

चार्वाक मतानुसार शब्द प्रमाण भी एक प्रकार के अनुमान पर ही आधारित है। हमें प्रत्येक आप्त पुरुष के कथन में विश्वास करना चाहिए क्योंकि सभी आप्त जनों के वाक्य प्रामाणिक एवं विश्वस्त होते हैं, ऐसा कथन स्वयं एक अनुमान है। और अनुमान स्वयं प्रामाणिक नहीं है। अतः अनुमान पर आधारित शब्द प्रमाण कैसे प्रामाणिक हो सकता है ? जहाँ तक वेदों का सम्बन्ध है उन्हें किसी भी अवस्था में प्रामाणिक नहीं माना जा सकता क्योंकि वेदों में झूठ, व्याघात और पुनरुक्तियाँ भरी पड़ी हैं। वेद के रचयिता भांड

धूर्त और निशाचर हैं जिनका काम अज्ञानी और सीधे-साधे लोगों को फंसाकर अपनी जीविका चलाना है। धूर्त पण्डितों ने वेद में लिखा है कि घोड़े के लिङ्ग को स्त्री ग्रहण करे उसके साथ समागम यजमान की स्त्री करे। वेद में माँस भक्षण का भी विधान है।

आलोचना

वेद धूर्त पुजारियों की रचना नहीं बल्कि प्राणिमात्र के हित के लिए सृष्टि के प्रारम्भ में परम दयालु परम पिता परमात्मा द्वारा चार ऋषियों को दिया हुआ ज्ञान है। वेद में माँस-भक्षण तथा अश्व के साथ स्त्री के समागम सदृश अश्लील बातें कहीं नहीं लिखी हैं। महीधरादि धूर्त टीकाकारों ने वेद मन्त्रों के अश्लील अर्थ किए हैं। उन्हीं को पढ़कर चार्वाक लोगों ने वेदों की निन्दा कर डाली। इसमें दोष वेद का नहीं बल्कि चार्वाकों का है। उन्हें चाहिए था कि वे मूल चार वेदों की संहिताओं का अध्ययन करते और फिर वेद के सम्बन्ध में अपनी सम्मति प्रकट करते। निश्चित है कि उस अवस्था में उनकी सम्मति वर्तमान से सर्वथा विपरीत होती।

तत्त्व विज्ञान

चारवाक तत्त्व विज्ञान का आधार उनका ज्ञान मीमांसा है। प्रमाण विचार के अन्तर्गत बतलाया गया है कि चारवाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण स्वीकार करते हैं। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि अप्रत्यक्ष तत्वों (ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, परलोक आदि) की सत्ता से उन्हें इन्कार करना पड़ा और जड़ को एक मात्र तत्व स्वीकार किया।

चार प्रकार के तत्त्वों से जगत का निर्माण—

अन्य भारतीय दार्शनिकों की भाँति चारवाक जगत् की उत्पत्ति पाँच भूतों पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से नहीं मानते। उनके विचार में जगत् की उत्पत्ति आकाश के अतिरिक्त शेष चार भूतों से होती है। आकाश की सत्ता को वे इसलिए स्वीकार नहीं करते क्योंकि इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। आकाश की सत्ता अनुमान से सिद्ध है और अनुमान चारवाक दार्शनिकों की दृष्टि में अप्रामाणिक है।

आत्मा का अस्तित्व नहीं है

प्रत्यक्ष को एक मात्र प्रमाण मानते हुए चारवाकों से यह पूछा जा सकता है कि मानस प्रत्यक्ष द्वारा हमें क्या अपनी मानसिक प्रक्रियाओं का प्रत्यक्ष नहीं होता और क्या इन प्रक्रियाओं में हमें चेतना का प्रत्यक्ष नहीं है ? चेतना जड़ पदार्थों का गुण नहीं होता। अतः चेतना का प्रत्यक्ष स्पष्टतः एक अभौतिक तत्व जीवात्मा की सत्ता को सिद्ध करता है। इसके उत्तर में चारवाकों का कहना है कि चेतना का तो प्रत्यक्ष होता है अवश्य परन्तु इससे आत्मा जैसे किसी अभौतिक तत्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता। चेतना का प्रत्यक्ष हमें शरीर में ही होता है अतः चेतना शरीर का ही एक गुण है। चैतन्य विशिष्ट देहएव आत्मा। हम चेतन शरीर के अतिरिक्त और किसी आत्मा को प्रत्यक्ष द्वारा नहीं जानते। यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि जड़ पदार्थों से जीव अथवा चैतन्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है। जो गुण कारण में नहीं है वह कार्य में कैसे उपस्थित हो सकता है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु चारो तत्वों में चैतन्य का अभाव है। अतः इनसे बने हुए शरीर में चैतन्य कैसे उत्पन्न हो गया ? क्या शरीर में चेतना की उपस्थिति आत्मा को सिद्ध नहीं कर रही है ? चारवाक का उत्तर है कि जिस प्रकार पान सुपारी और चूने में किसी में भी लाल रंग नहीं है परन्तु उनको एक विशेष ढंग से मिलाने पर लाल रंग उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार इन भूतों के संगठन से (शरीर रूप में) चैतन्य प्रकट हो जाता है। दैनिक व्यवहार में भी हम आत्मा और शरीर को एक मानकर चलते हैं। "मैं मोटा हूँ" "मैं लंगड़ा हूँ" आदि वाक्य यही सिद्ध करते हैं कि शरीर ही आत्मा है। शरीर की मृत्यु के साथ ही आत्मा भी नष्ट हो जाती है अतः पुनर्जन्म होने का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता।

आलोचना

यदि चेतना का कारण शरीर है तो शरीर के स्थिर रहते हुए उसमें चेतना अवश्य रहनी चाहिए। परन्तु मृतक शरीर में चेतना का अभाव रहता है। इससे सिद्ध है कि चेतना शरीर का गुण अथवा परिणाम नहीं है। दूसरे यद्यपि चेतना शरीर में है परन्तु इससे यह आवश्यक नहीं है कि वह शरीर का गुण हो। गर्म पानी में उपस्थित गर्मी का कारण पानी नहीं है। गर्मी तो आग का गुण

हैं। इसी प्रकार चेतना शरीर का नहीं बल्कि आत्मा का गुण है। तीसरे शरीर परिवर्तनशील है। अतः यदि चेतना उसका गुण है तो उसे भी परिवर्तन शील होना चाहिए और यदि चेतना परिवर्तन शील है तो फिर बाल्यकाल की घटनाएं युवावस्था में कैसे स्मरण रह सकती हैं ? अतः पूर्व अवस्था की स्मृति यह सिद्ध करती है कि शरीर में भिन्न व स्वतन्त्र आत्मा नामक कोई द्रव्य अवश्य है जिसके कारण स्मृति सम्भव हो पाती है। चौथे यह मान भी लिया जाये कि चेतना जड़ तत्वों से उत्पन्न होती है तो यह भी मानना अनिवार्य होगा कि चेतना पहले से ही जड़ तत्वों में बीज रूप में निहित थी और बाद को वह प्रकाश में आ गयी। तैल बालु से नहीं निकल सकता क्योंकि वह उसमें निहित नहीं है और वह सरसों से इसलिए निकलता है कि वह बीज रूप में उसमें समाया है।

ईश्वर का अनस्तित्व

चारवाक ईश्वर की सत्ता को भी स्वीकार नहीं करते। आस्तिक लोग ईश्वर की सत्ता में एक यह युक्ति दिया करते हैं कि जगत् एक कार्य है, अतः इसका रचयिता अवश्य होना चाहिए। जैसे घट अपने निमित्त कारण कुम्भकार के विना नहीं बन सकता, उसी प्रकार केवल जड़ तत्वों के संयोग से विना निमित्त कारण ईश्वर के जगत् की रचना नहीं हो सकती। चारवाक यह उत्तर देते हैं कि जड़ तत्वों का आपस में मिलने का स्वभाव है अतः जगत् की उत्पत्ति स्वभाव से हो जाती है।

आलोचना—बिना चेतन परमेश्वर के निर्माण किए जड़ पदार्थ स्वयं आपस में स्वभाव से नियम पूर्वक मिलकर जगत् की उत्पत्ति नहीं कर सकते। जो स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति होवे तो वस्तुओं का विनाश कभी न होवे और विनाश भी स्वभाव से माना जाये तो उत्पत्ति न होवे। और यदि दोनों विरोधी गुण जड़ पदार्थों में माने जायें तो न उत्पत्ति होवे और न विनाश। परन्तु वर्तमान में हम उत्पत्ति और विनाश दोनों देखते हैं। अतः यह कार्य किसी चेतना सत्ता द्वारा संचालित हो रहा है। वही ईश्वर है।

आचार विचार

भारतीय दर्शनों में अपवर्ग या मोक्ष-प्राप्ति को जीवन का अन्तिम लक्ष्य बतलाया गया है। चारवाक इसे भी स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि

मोक्ष या स्वर्ग की प्राप्ति मरने के बाद ही होती है। और मरने के बाद आत्मा जैसी कोई सत्ता शेष रहती नहीं अतः स्वर्ग या मोक्ष के तथाकथित आनन्द का भोग कौन करे ? वस्तुतः स्वर्ग और नरक पुरोहितों की कल्पनाएं मात्र हैं। जीवन का परमोद्देश्य सुख-प्राप्ति है। जब तक जीवें तब तक सुख से जीवें। जो घर में पदार्थ न हो तो ऋण लेके सुख भोगे। धर्म और मोक्ष निरर्थक हैं। केवल अर्थ और काम के लिए ही मनुष्य को प्रयत्न शील रहना चाहिए।

यज्ञ में पशु बलि और श्राद्धों का खण्डन करते हुए चारवाक लिखते हैं—जो यज्ञ में पशु को मार होम करने से वह स्वर्ग को जाता हो तो यजमान अपने पितादि को मार होम करके स्वर्ग को क्यों नहीं भेजता ? जो मरे हुए जीवों का श्राद्ध और तर्पण तृप्ति कारक होता है तो परदेश में जाने वाले मार्ग में निर्वाहार्थ अन्न वस्त्र और धनादि को क्यों साथ ले जाते हैं ? जो मर्त्यलोक में दान करने से स्वर्गवासी तृप्त होते हैं तो नीचे देने से घर के ऊपर स्थित पुरुष तृप्त क्यों नहीं होता ?

आलोचना—पशु मार कर होम करना वेदादि सत्य शास्त्रों में कहीं नहीं लिखा और मृतकों का श्राद्ध तर्पण करना कपोल-कल्पित है क्योंकि यह वेदादि सत्य शास्त्रों के विरुद्ध होने से भागवतादि पुराणमत वालों का मत है इसलिए चारवाकों ने यज्ञ में पशुहिंसा और मृतक श्राद्ध का जो खण्डन किया है वह तो ठीक ही है। परन्तु उनका यह मानना कि जीवन का उद्देश्य केवल भौतिक ऐन्द्रिक सुख प्राप्ति है, उचित नहीं है। ऐन्द्रिक सुख क्षणिक होता है और उसके अधिक मात्रा में भोगने से इन्द्रियों की शक्ति अन्ततः क्षीण हो जाती है। सच्चा सुख वासनाओं की तृप्ति नहीं वरन् उनके संयम तथा मार्गान्तीकरण से प्राप्त होता हैं।

●

बौद्ध जैन मत विवेचन

पं० अमरसिंह "आर्य पथिक"

अब से लगभग २५ सौ वर्ष पहिले रोहिणी नदी के किनारे कपिलवस्तु नामक नगरी के राजा शुद्धोधन के दो रानियाँ थीं। एक महामाया, दूसरी प्रजापती, पहली रानी महामाया से एक पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका नाम शाक्यसिंह गौतम रक्खा गया। बौद्ध लोग उसको ही सिद्धार्थ कहते हैं, वह युवावस्था में ही साधु हो गये और बुद्ध नाम से प्रसिद्ध हुए, उन्हीं के चेलों ने उनके नाम पर बौद्ध-मत चला दिया। बुद्ध का मत होने से इसका नाम बौद्धमत है पर इसका अर्थ इस प्रकार किया जाता है।

बुद्ध्या निवर्तते स बुद्धः

जो बात बुद्धि में आवे अर्थात् बुद्धि से सिद्ध हो उसको माने, जो बुद्धि में न आवे, उसको न माने वह बुद्ध है।

मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना

मनुष्यों की बुद्धियां—मतियां भिन्न २ प्रकार की होती हैं। इसलिये थोड़े ही समय में बौद्धों में अनेक भेद हो गये। महायान और हीनयान ये दो भेद

प्रसिद्ध ही हैं। कई ग्रन्थों में बौद्धों के १८ भेद बताये हैं, चार भेद ये प्रसिद्ध हैं—१ माध्यमिक, २ योगाचार, ३ सौत्रान्तिक ४ वैभाषिक। १ माध्यमिक सब कुछ शून्य ही मानता है, वह जितने पदार्थ देखे और कहे जाते हैं, वह सब शून्य ही शून्य है। प्रत्येक पदार्थ उत्पत्ति से पूर्व नहीं था विध्वंस के पश्चात् न रहेगा, शून्य था शून्य हो जायगा। मध्य में जो दीखता है वह भी दूसरी वस्तु पर दृष्टि और ध्यान जाते ही शून्य हो जाता है और जो कुछ दीखता है वह स्वप्नवत् ही दीखता है।

माध्यमिक

का यह भारी भ्रम है। जो सब शून्य हो तो शून्य का देखने वाला जानने वाला भी शून्य ही होगा क्या ? यदि वह भी शून्य होगा तो वह कैसे किसी को देखेगा और कैसे जानेगा ? और शून्य को भी को कोई कैसे देखेगा ? अत: सिद्ध है कि सब शून्य मानना बुद्धिमत्ता नहीं है, ज्ञाता और ज्ञेय दो पदार्थ स्पष्ट सिद्ध हैं।

योगाचार—

केवल ज्ञान को मानता है, और बाहर की वस्तुओं को नहीं मानता। वह कहता है कि—वस्तु ज्ञान में तो है पर बाहर नहीं है। जैसे वस्तु न होने पर भी स्वप्न में दिखाई देती है। इसी में संसार में सब कुछ न होते हुए भी दिखाई देता है।

यह मन्तव्य भी सर्वथा मिथ्या है। स्वप्न में भी वह ही वस्तु दिखाई देती है, जो वास्तविक रूप में कभी न कभी और कहीं न कहीं देखी हो, इसी कारण जन्मान्ध को रूप का स्वप्न कभी नहीं आता है। क्योंकि वास्तविक रूप उसने कभी देखा ही नहीं। स्वप्न और जाग्रत में क्रम का भेद तो हो जाना संभव है। जाग्रत में सब कुछ क्रमबद्ध देखा गया और स्वप्न में कभी कुछ दिखाई देने लगा और कभी कुछ। कभी कहीं और कभी कहीं। इसलिए स्वप्न का दृष्टांत विषम है। और उनके मन्तव्य का खण्डन ही करता है। और जो योगाचार बाह्य शून्य मानता है तो जो पर्वत बाहर न होता हुआ इसलिए दिखाई देता है, कि भीतर ज्ञान में है तो वह पर्वत जो बाहर दिखाई देता है वह भीतर होना चाहिए. यदि कहें कि—भीतर है, तो भीतर इतना स्थान, इतना अवकाश कहाँ

है, जिसमें पर्वत समा सके। यदि कहें कि भीतर भी पर्वत नहीं है पर्वत का ज्ञान ही है तो भ्रम हुआ। भ्रम भी उसी का होता है। जो वस्तु कभी कहीं देखी हो, बिना देखी का भ्रम भी नहीं होता है। जो वस्तु बाहर भी नहीं और भीतर भी नहीं उस के लिए तीसरा स्थान बताना चाहिए और यदि न बाहर है, न भीतर, न कहीं अन्यत्र फिर भी वह भीतर दिखाई देती है तो उसका ज्ञान भी मिथ्या, उसका दिखाई देना भी मिथ्या, और योगाचार का यह मन्तव्य भी सर्वथा मिथ्या है।

सौत्रान्तिक

बाहर वस्तु का अनुमान मानता है। वह कहता है कि—बाहर कोई पदार्थ साङ्गोपाङ्ग पूरा दिखाई नहीं देता है। किन्तु पदार्थ के देश वा एक अङ्ग का प्रत्यक्ष होने से शेष का अनुमान कर लिया जाता है।

यह भी सर्वथा मिथ्या कल्पना है, क्योंकि—प्रत्यक्ष का अर्थ ही पदार्थ का साङ्गोपाङ्ग दीखना है। इन्द्रियों और इन्द्रियार्थों के सन्निकर्ष अर्थात् निकट सम्बन्ध से अव्यपदेश्य = संज्ञा का नहीं संज्ञी का अव्यभिचारी = सन्देह रहित व्यवसायात्मक = निश्चयात्मक ज्ञान का नाम ही प्रत्यक्ष है। और यहां जो सन्निकर्ष अर्थात् सम्बन्ध कहा है, वह छः प्रकार का होता है—१ संयोग, २ संयुक्त समवाय, ३ संयुक्तसमवेत समवाय, ४ समवाय, ५ समवेत समवाय, ६ विशेषण विशेष्य-भाव। विस्तार भय से इनकी व्याख्या यहाँ नहीं करते हैं। इनके होने पर पदार्थ का पूरा ज्ञान होता है। अनुमान उस पदार्थ में नहीं उसके कारण और परिणाम में होता है। अतः स्पष्ट है कि यह सौत्रान्तिक मत भी अज्ञान पर ही आधारित है।

वैभाषिक—

इसका मत है कि—बाह्य पदार्थ है, बाहर ही पदार्थ दिखाई देते हैं, भीतर नहीं, जैसे उदई वैसे भान : उनके चुटिया न उनके कान,

बौद्ध मत के मूल सिद्धान्त

क्षणिकं क्षणिकं, दुःखं दुःखं, स्वलक्षणं स्वलक्षणं, शून्यं शून्यं।

इन चारों भावनाओं को चारों प्रकार के बौद्ध मानते हैं।

क्षणिकवाद—

प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षण में बदलता है। जो पदार्थ इस क्षण में है, वह दूसरे क्षण में वैसा नहीं रहेगा आदि।

यदि पदार्थ क्षणिक है तो उसका ज्ञान भी क्षणिक होने से प्रत्यभिज्ञा नहीं रहेगी, अर्थात् किसी को कोई बात कह कर कोई काम करके यह स्मरण नहीं होना चाहिए कि— मैंने यह बात कही थी, या वह काम किया था। क्योंकि—पदार्थ भी क्षण-क्षण में और हो जाता है। बात कहने या काम करने वाला व्यक्ति भी क्षण में, कुछ का कुछ हो जाता है। और ज्ञान भी क्षण-क्षण में बदलता है, तो फिर स्मरण कैसे रह सकता है?

एक बौद्ध ने किसी बौद्ध की हत्या कर दी। न्यायाधीश भी बौद्ध था। न्यायाधीश ने पूछा कि—तुमने अमुक व्यक्ति की हत्या की, उसने कहा—कदापि नहीं की। न्यायाधीश ने कहा कि—कुछ लोग साक्षी देते हैं कि—हमारे सन्मुख उसने हत्या की। अभियुक्त ने कहा कि—न्यायाधीश महोदय! मैं बौद्ध हूँ, आप भी बौद्ध हैं। जिसको मारा बताया जाता है, वह भी बौद्ध था। जो साक्षी देते हैं वह भी बौद्ध हैं। हमारा सिद्धान्त है कि—प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षण में परिवर्तित होता है। इसलिये न मैं अब रहा हूँ, न साक्षी वह रहे हैं। सब कुछ परिवर्तित हो गया। यदि मैंने किसी को किसी समय मारा होगा तो उस समय मैं और रहा हूँगा। इस समय और हूँ और साक्षी भी और रहे होंगे, इस समय और हैं। यदि इनकी साक्षी इस समय मानी जायगी तो अन्य के देखे हुए का अन्य साक्षी होगा। और यदि मैं मृत्यु दण्ड का भागी हूँगा तो अन्य के किए के अपराध का अन्य को फल भोगना पड़ेगा। जो कदापि न्यायानुकूल नहीं। सोचिये क्षणिकवाद को मानने वाला न्यायाधीश किसी को किस प्रकार दण्ड दे सकता है।

दुःखवाद—

सब संसार दुःख ही दुःख हैं और सुख कुछ नहीं तो सुख की अपेक्षा के बिना सुख की सिद्धि हो ही नहीं सकती है। जैसे रात्रि की अपेक्षा से दिन और दिन की अपेक्षा से रात्रि होती है। इसी तरह दुःख की अपेक्षा से सुख और सुख की अपेक्षा से दुःख होता है। अकेला दुःख ही मानना ठीक नहीं।

यदि सब संसार दुःख रूप होता तो किसी की इसमें प्रवृत्ति ही न होती। संसार में जीवों की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष दिखलाई देती है। इसलिए संसार केवल दुःख रूप नहीं हो सकता। इसमें सुख-दुःख दोनों ही हैं।

और बौद्ध लोग इसमें दुःख ही दुःख मानते हैं तो खान पानादि करना और पथ्य तथा औषध्यादि सेवन करके शरीर रक्षण करने में प्रवृत्त होकर सुख क्यों मानते हैं? यदि कहें कि—हम प्रवृत्त तो होते हैं। परन्तु इसको दुःख ही मानते हैं। तो यह कथन ही सम्भव नहीं क्योंकि–जीव सुख जानकर प्रवृत्त और दुःख जानकर निवृत्त होता है। संसार में धर्म-क्रिया, विद्या सत्संग आदि सब श्रेष्ठ व्यवहार सुखकारक हैं। इनको बौद्धों के अतिरिक्त कोई भी विद्वान् और बुद्धिमान् मनुष्य दुःख का लिङ्ग नहीं मान सकता।

बौद्धों की द्वादशायतन पूजा–

अर्थानुपार्ज्य बहुशो द्वादशायतनानि वै।
परितः पूजनीयानि किमन्यैरिह पूजितः।
ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव तथा कर्मेन्द्रियाणि च।
मनो बुद्धिरिति प्रोक्त द्वादशायतनं बुधैः।
द्वादशायतनपूजा श्रेयस्करीति बौद्धनये।। बौद्धदर्शन

द्वादशायतन पूजा मोक्ष की देने वाली है, उस पूजा के लिए बहुत से धनादि पदार्थों को संग्रह करके द्वादशायतन पूजा अर्थात् शरीर में बारह वस्तुओं की सब प्रकार से पूजा करनी चाहिये। अन्य की पूजा करने से क्या प्रयोजन?

पांच ज्ञानेन्द्रियाँ–कान, त्वचा, आंख, जीभ और नाक, पांच कर्मेन्द्रियां, वाणी, हाथ, पांव, गुदा और उपस्थ ये दश इन्द्रियां, मन और बुद्धि इन बारह की पूजा अर्थात् इनको आनन्द में प्रवृत्त रखना यह द्वादशायतन पूजा है। जब इन्द्रियों और अन्तःकरण की पूजा भी मोक्ष देने वाली है तो इन बौद्धों और विषयी जनों में क्या भेद रहा? जो इनसे बौद्ध नहीं बच सके तो वहाँ मुक्ति भी कहाँ रही? जहां ऐसी बातें हैं, वहाँ मुक्ति का क्या काम?

सृष्टिकर्त्ता कोई नहीं–

इस विषय में जैन मत के पीछे लिखा जायगा, क्योंकि—चार्वाक्, बौद्ध और जैन तीनों नास्तिक, इस विषय में एक मत हैं अतः तीनों का वर्णन पूरा होने पर इस विषय पर थोड़ा सा लिखेंगे।

मोक्ष का लक्षण—

सौत्रान्तिक, वैभाषिक और योगाचार तीनों मुक्ति के विषय में यह मानते हैं कि—राग द्वेषादि जो वासनाएँ हैं इनसे चित्त चारों ओर से जलता रहता है। इन वासनाओं का उच्छेद ही 'निर्वाण' अर्थात् बुझ जाना है। न कि—विज्ञान की धारा का बुझना। माध्यमिक मानता है कि—विज्ञान की धारा भी बुझ जाती है। (विज्ञान की धारा ही आत्मा है) यह मुक्ति क्या ? यह तो पानी में डूब मरने या आत्मघात कर लेने के समान है।

वैदिक धर्म में तो मुक्ति का स्वरूप—मिथ्याज्ञान, दोष, प्रवृत्ति, जन्म और दुःख का क्रमशः नाश होकर परब्रह्म की प्राप्ति के साथ परमानन्द का प्राप्त होना है।

जैन सम्प्रदाय

तीनों नास्तिक सम्प्रदायों के तीन दर्शन पृथक्-पृथक् हैं। चार्वाकों का चार्वाक् दर्शन, बौद्धों का बौद्धदर्शन और जैनों का आर्हत दर्शन। आर्हत दर्शन प्रवर्त्तक ऋषभदेव को मान जाता है। वह कब हुए, यह कोई जैन नहीं जानता है। महावीर स्वामी से पहिले ऋषभदेव सहित २३ तीर्थङ्कर और जैनियों में माने जाते हैं। २४ वें महावीर स्वामी कहे जाते हैं। इनका ही उत्पत्तिकाल ज्ञात है इनको २६ सौ वर्ष हुए हैं; पहिले २३ का किसी को कुछ पता नहीं।

जैनी लोग जैनमत को अनादि काल से चला आया मानते हैं। पर वास्तविकता यह है कि जैनमत बहुत नवीन है। और यह बौद्धमत में से ही निकला है। इस नवीन मत को अति प्राचीन बताने के लिये ही २३ तीर्थङ्करों के कल्पित नाम इनके साथ जोड़कर पानी में खोज दे दिया गया है।

आरम्भ में बुद्ध ही को जिन और जिन ही को बुद्ध कहा गया था। इसलिये बौद्ध और जैन एक ही सम्प्रदाय के दो नाम थे। पीछे दोनों नामों पर पृथक् २ आग्रह होने से दोनों पृथक् २ सम्प्रदाय कहलाने लगे। इन दोनों में भी अनेकानेक अवान्तर भेद हो गये। जैसे बौद्धों में १८ और इनसे भी अधिक भेद बौद्धों ने स्वयं स्वीकार किए हैं। इसी प्रकार जैनियों में भी दिगम्बर और श्वेताम्बर दो प्रसिद्ध पृथक् २ मार्ग बन गये। जिनके साधु सर्वथा नंगे रहते हैं। शरीर पर एक

अंगुल भी वस्त्र नहीं रखते हैं, वह दिगम्बर कहाते हैं। अम्बर नाम वस्त्र का है। चारों दिशाएँ ही जिनका वस्त्र हैं। और वस्त्र कोई नहीं, वह दिगम्बर और जिन के साधु श्वेत वस्त्र पहनते हैं, और मुँह पर पट्टी बांधते हैं, वह श्वेताम्बर कहलाते हैं। उन्हीं में एक भेद अब तेरापन्थी और हो गया है।

जैनियों के दर्शनसार नामक ग्रन्थ में लिखा है कि—विक्रमादित्य की मृत्यु के १३६ वर्ष पश्चात् सौराष्ट्र (गुजरात) में श्वेताम्बर सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ।

भाष्यचूर्णि में दिगम्बर मत की उत्पत्ति महावीर स्वामी के ६०९ वर्ष पीछे बताई है। इस प्रकार दोनों की उत्पत्ति को अभी पूरे दो सहस्र वर्ष नहीं हुए हैं।

जैन दर्शन एक शब्दाडम्बर ही है, यह आगे चल कर पता लगेगा। इसमें ५ अस्तिकाय माने गये हैं—१ धर्मास्तिकाय, २ अधर्मास्तिकाय, ३ आकाशास्तिकाय, ४ पुद्गलास्तिकाय, ५ जीवास्तिकाय। छठा—काल इसको अस्तिकाय नहीं कहते। अस्ति = है, काय = शरीर वा शरीर के समान।

मनुष्य के भीतर धार्मिक संस्कार और बाहर धर्माचरण तथा शास्त्र में प्रवृत्ति 'धर्मास्तिकाय' है। ऊपर जाने और उन्नति करने की प्रवृत्ति वाला जीव शरीरादि के बन्धन में है। इससे अनुमान होता है कि—भीतर और बाहर कुप्रवृत्ति है, इसी का नाम 'अधर्मास्तिकाय' है। जिसमें आना जाना और रहना होता है, वह 'आकाशास्तिकाय' है। वह दो प्रकार का है। एक 'लोकाकाश' पृथिवी द्यौ के मध्यम का आकाश जिसमें लोक है। और दूसरा 'अलोकाकाश' जिसमें कोई लोक नहीं, वह ऊपर का आकाश है। मुक्त जीव उसी में रहते हैं। वह मोक्षस्थान है। चौथा 'पुद्गलास्तिकाय' जो कारण रूप सूक्ष्म नित्य एकरस वर्ण गन्ध वाला द्विस्पर्श वाला कार्य का लिङ्गी पूरने और गलने स्वभाव वाला होता है। वह छः प्रकार का है। पृथिवी, जल, तेज, (अग्नि) और वायु ये चारों भूत और स्थावर (न चलने वाले वृक्षादि) और जंगम (चलने वाले) मनुष्यादि के शरीर, यह सब 'पुद्गलास्तिकाय' है। पाँचवाँ 'जीवास्तिकाय' है। जो चेतना लक्षण ज्ञानदर्शन में उपयुक्त अनन्त पर्यायों से परिणामी होने वाला कर्त्ता भोक्ता है। यह 'जीवास्तिकाय' तीन प्रकार का है—१ बद्धजीव, २ मुक्तजीव, ३ नित्यमुक्त जीव। नित्यमुक्त एक ही हैं। वह अर्हन

मुनि (ऋषभदेव) हैं। उनके नाम पर 'आर्हतदर्शन' है। अर्हन्=पूज्य, साधारण भाषा में 'अर्हन्त' और प्राकृत में 'अरिहन्त'=काम क्रोधादि आन्तरिक शत्रुओं के मारने वाले, कहीं कहीं 'अरुहन्त' भी पढ़ा गया है। अर्थात् फिर न उगने= जन्म न लेने वाला है। दूसरे मुक्त जीव जो ऋषभदेव को छोड़कर महावीर स्वामी तक २३ तीर्थङ्कर हैं। ये सब मुक्त हो गये। और ये सब ही जैनियों के परमेश्वर हैं। तीसरे बद्धजीव जो जन्म लेते, और मरते हैं। यह दो प्रकार के हैं—एक 'अमनस्क' मन रहित स्थावर वृक्षादि और दूसरे 'समनस्क' मन सहित मनुष्य, पशु आदि। ये पाँच 'अस्तिकाय' हैं। छठा—काल है वह 'अस्तिकाय' नहीं है।' इन पाँचों अस्तिकायों की नवीनता, प्राचीनता, परत्व, अपरत्व बताने वाला है।

जैनियों का इन अस्तिकायों का मानना ठीक नहीं, क्योंकि—धर्म और अधर्म द्रव्य नहीं, किन्तु गुण हैं, अतः यह दोनों जीवास्तिकाय में आ जाते हैं। इसलिए आकाश, परमाणु, जीव और काल मानते तो ठीक था। और जो ९ नव द्रव्य वैशेषिक में माने हैं, वे ही ठीक हैं। क्योंकि—पृथिव्यादि पांच तत्व, काल, दिशा, आत्मा और मन के ये नौ पृथक् २ पदार्थ निश्चित हैं। एक जीव को चेतन मानकर ईश्वर को न मानना यह जैन बौद्धों की मिथ्या पक्षपात की बात है।

जैनियों का गोरखधन्धा सप्तभङ्गीन्याय

(१) स्यादस्ति (२) स्यान्नास्ति, (३) स्यादस्ति च नास्ति च (४ स्यादवक्तव्यः, (५) स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, (६) स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च. (७) स्यादस्ति च नास्ति च वक्तव्यश्च। ये सात भङ्ग हैं। यहाँ स्यात् का अर्थ-कथञ्चित् है। उर्दू फारसी, का शब्द 'शायद' भी इसी का रूपान्तर वा द्योतक प्रतीत होता है।

घट वा पट किसी वस्तु का अस्तित्व कहना ही तो 'स्यादस्ति' यह पहला भङ्ग है, 'कथञ्चित् यह घट है।'

यह पहला घट नहीं. अथवा यह दूसरा घट नहीं। किसी प्रकार प्राप्यत्वादी रूप से उसका निषेध कहना हो तो 'स्यान्नास्ति' कथञ्चित् यह घट नहीं है, यह दूसरा भङ्ग है।

जब अस्तित्व और नास्तित्व दोनों को कहना हो तो 'स्यादस्ति च नास्ति च' 'स्यात् है,स्यात् नहीं है' यह तीसरा भङ्ग है।

होना और न होना, दोनों का कहना अशक्य हो तो 'स्यादवक्तव्यः' स्यात् न कहने योग्य है। अर्थात् अनिर्वचनीय है, यह चौथा भङ्ग है।' पहला और चौथा भङ्ग एक साथ कहना हो तो 'स्यादस्ति' चावक्तव्यश्च' स्यात् है और अवक्तव्य है। यह पाँचवां भङ्ग है।

दूसरा और चौथा भङ्ग एक साथ कहना हो तो, 'स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च' कथञ्चित् नहीं है। यह (भी) अवक्तव्य =न कहने योग्य है। यह छठा भङ्ग है। तीसरा और चौथा एक साथ कहना हो। 'स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च स्यात् है, और स्यात् नहीं है। और यह अवक्तव्य है तो यह सातवाँ भङ्ग है।

यह जैनियों का सप्तभङ्गी न्याय जैनियों का बनाया हुआ वाग्जाल, और शब्दाडम्बर ही है, और कुछ नहीं। यह सब एक 'अन्योऽन्याभाव' में साधर्म्य वैधर्म्य में चरितार्थ हो सकता है।

न्यायदर्शन में चार प्रकार के अभाव कहे हैं। उनमें एक अन्योन्याभाव भी है। गौ-गौ तो है, पर वह घोड़ा नहीं है। 'गौ' में घोड़ापन का अभाव है। इसी प्रकार घोड़ा में गोपन का अभाव है। इसका नाम 'अन्योऽन्याभाव' है।

किन्हीं दो अथवा दो से अधिक वस्तुओं में कुछ गुण-कर्म-स्वभाव आकृति समान हों तो उसको 'साधर्म्य' कहते हैं और असमानता हो उसको वैधर्म्य' कहा जाता है, जैसे गौ' के भी चार पैर हैं और घोड़े के भी। 'गौ' के भी पूँछ होती है, और घोड़े के भी। यह दोनों में समानता या साधर्म्य है। और गौ के सींग होते हैं, घोड़े के नहीं, यह दोनों में असमानता या 'वैधर्म्य' है।

देखो ! जीव का अजीव में, और अजीव का जीव में अभाव रहता ही है। जैसे जीव और जड़ प्रकृति के वर्तमान रहने से दोनों में 'सत्ता' का साधर्म्य है, और जीव के चेतन और प्रकृति के अचेतन (जड़) होने से वैधर्म्य है। प्रकृति में चेतनत्व नहीं है और जीव में जड़त्व नहीं है। इस प्रकार विचार करने से सप्तभङ्गी और स्यादवाद का गोरखधन्धा, सब व्यर्थ हो जाता है।

इस सरल प्रकरण को छोड़ कर कठिन जाल रचना केवल अज्ञानियों को फंसाने के लिए ही होता है।

बौद्ध और जैन आरम्भ में एक ही थे। यह जैन परम्परा के ही 'प्रसिद्ध राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'इतिहास तिमिर नाशक'

में लिखा है और संस्कृत के प्रसिद्ध कोष 'अमरकोष' में अमरसिंह पण्डित जो जैन था; उसने अमरकोष प्रथम काण्ड स्वर्गवर्ग के श्लोक १३-१४-१५, में कहा है कि—बुद्ध और जिन दोनों नाम एक ही शाक्यसिंह गौतम के हैं। बुद्ध से बौद्ध और जिन से जैन दोनों नाम एक ही सम्प्रदाय के हैं, यह स्पष्ट है।

ईश्वर और सृष्टि कर्त्तृत्व

चार्वाक्, बौद्ध और जैन तीनों ही किसी को सृष्टि कर्त्ता नहीं मानते हैं। जैन अपने २४ तीर्थङ्करों को ईश्वर कहते हैं। पर सृष्टि कर्त्ता उनको भी नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि—सृष्टि का बनाने वाला कोई नहीं है। यह चारों तत्वों के संयोग=वियोग से स्वयं ही बनती और बिगड़ती रहती है।

जो अनादि ईश्वर न होता तो 'अर्हंन देव' के माता पिता आदि के शरीर का साँचा कौन बनाता। बिना संयोगकर्त्ता के यथायोग्य सर्वावयव सम्पन्न यथोचित् कार्य करने में उपयुक्त शरीर बन ही नहीं सकता है।

परमात्मा का ज्ञान से प्रत्यक्ष होता है। सृष्टि की अद्भुत रचना को देख कर उसके कर्त्ता का अनुमान होने में क्या संदेह हो सकता है।

जैसे जगत् में प्रत्यक्ष कोई भी काम बिना कर्त्ता के नहीं होता है। वैसे ही इस महत्कार्य का कर्त्ता के बिना होना सर्वथा असम्भव है।

जैन मत में जीव का आकार

शरीर के समान माना जाता है अर्थात् हाथी के शरीर में हाथी के शरीर के समान बड़ा और च्यूँटी के शरीर में च्यूँटी के समान छोटा। हाथी वाला जीव च्यूँटी के शरीर में जायगा। तो उतना छोटा हो जायगा अथवा सिकुड़ जायगा। और च्यूँटी का जीव हाथी के शरीर में जायगा, तो फैलकर बड़ा हो जायगा। जब तक आवागमन के बन्धन में रहेगा, तब तक इसी प्रकार फैलता सिकुड़ता रहेगा। जब जीव की मुक्ति हो जायगी। तब फैलना सिकुड़ना बन्द हो जायगा। यह कितने अज्ञान की बात है ? यह सर्वथा बच्चों की सी बात है। फैलना सिकुड़ना विकार है। और विकारवान् पदार्थ नाशवान होता है।

★

त्रयोदश समुल्लास के आधार पर

ईसाई मत का वास्तविक रूप

देश में ईसाइयत आज भी फैल रही है। पिछड़ी जनता में सेवा के नाम पर उन्होंने जो जाल फैलाया है, वह सभी के लिए गम्भीर चेतावनी है। समय की मांग है कि हम अज्ञान और अंध-विश्वास पर आधारित ईसाइयत के सत्य रूप को समझ, इस के विष से देश को बचाने का संकल्प लें।

—सम्पादक

बाइबिल : कसौटी पर

श्री शिवपूजनसिंह "पथिक" बी० ए०

ईसाई 'बाईबिल' को अपना परम प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं। जिस प्रकार आर्य लोग वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं, उसी प्रकार ईसाई भी 'बाईबिल' को ईश्वरीय ज्ञान मानने का दावा करते हैं। वेदों को तो पाश्चात्य विद्वान् भी ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं+ परन्तु बाईबिल को अभी मानने के लिये कोई उद्यत नहीं है। बाईबिल का ६३ व्यक्तियों ने मिलकर सङ्कलन किया है और उसमें परस्पर विरुद्ध बाते हैं। बहुत सी बातें विज्ञान के विरुद्ध भी हैं। बाईबिल के दो भाग हैं—एक ओल्ड टेस्टामेन्ट, दूसरा न्यू टेस्टामेन्ट। सम्प्रति ईसाई लोग 'न्यू टेस्टामेन्ट' मानते हैं और 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' को प्रामाणिक नहीं मानते हैं। 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' को केवल यहूदी ही प्रामाणिक मानते हैं, परन्तु दोनों भाग 'पवित्र धर्मशास्त्र' के नाम से विक्रय होते हैं।

'बाईबिल' में सृष्टि को बेडौल लिखा है। इससे इनका ईश्वर सर्वज्ञ ज्ञात नहीं होता है और न बाईबिल ईश्वरीय ज्ञान प्रतीत होता है।

'आदम' को ईश्वर को अपने स्वरूप में उत्पन्न होना लिखा है तो ईश्वर के सदृश आदम क्यों नहीं हुआ? इससे तो ज्ञात होता है कि ईसाईयों का ईश्वर आदम के समान है।

यदि इनका परमात्मा सर्वज्ञ होता तो शैतान और धूर्त सर्प को नहीं बनाता। इनका ईश्वर कसाई के समान प्रतीत होता है जो यह आदेश देता है

+द्रष्टव्य "पाश्चात्यों की दृष्टि में वेद ईश्वरीय ज्ञान" (जयदेव ब्रदर्स आत्माराम पथ, बड़ौदा द्वारा प्रकाशित)

कि = हर एक जीता चलता जन्तु तुम्हारे भोजन के लिए होगा............"। (तौरेत पर्व ६। आ० १।३।४) परमात्मा की दृष्टि में सभी प्राणी उसके पुत्र के समान हैं उनको मरवा कर दूसरे को खिलाना महापाप है।

ईश्वर का बछड़े का मांस खाना भी जंगलियों की कहानी से कम नहीं है।

बाईबिल में शव को दफनाने का वर्णन सर्वथा विज्ञान के विरुद्ध है।

आधुनिक वैज्ञानिक भी शव को जलाना उत्तम मानते हैं।

ईश्वर का बैलों की बलि और वेदी पर रक्त छिड़कवाना भी बर्बरता ही है।+

यह थोड़ा सा दिग्दर्शन 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' से कराया गया।

'न्यू टेस्टामेन्ट' में यीशु मसीह के जन्म से लेकर मृत्यु तक की चर्चा है।

बाईबिल का मुख्य आचार्य मूसा था जो क्रोधी, हत्यारा, मिथ्यावादी था। वह विषयी था क्योंकि वह अक्षतयोनि कन्याओं को अपने लिए मँगवाता था। इस तरह की चर्चा तौरेत गिनती० प० ३१ में आई है।

'लय व्यवस्था' में भी ऊटपटांग बातें हैं, जहाँ लिखा है कि बलिदान की खाल याजक की होगी।

ईश्वर के लिए तो सभी जीव-जन्तु, पशु, पक्षी पुत्रवत् हैं। ईश्वर के नाम उन पशुओं का बलिदान करना बर्बरता है।

बाईबल में हजरत यीशु का जन्म अत्यन्त अद्भुत है, जो सर्वथा सृष्टिक्रम के विपरीत है। मरियम का पवित्रात्मा से गर्भवती होना उसके पाप का छिपाना है। किसी पुरुष से गर्भवती हुई होगी।

बाईबिल "व्यवस्था-विवरण २२, २३, २४" में स्पष्ट लिखा है कि "यदि किसी कुँवारी कन्या के विवाह की बात लगी हो, और कोई दूसरा पुरुष उसे नगर में पाकर उससे कुकर्म करे, तो तुम उन दोनों को उस नगर के फाटक के बाहर ले जाकर, उनको पत्थरवाह करके मार डालना"।

बाईबिल के इस आदेश से मरियम अपराधिनी हुई।

+ द्रष्टव्य—"बाइबिल में वर्णित 'बर्बरता तथा अश्लीलता का दिग्दर्शन" (जयदेव ब्रदर्स, बड़ौदा से प्राप्य)

लूका जिब्राइल नामक स्वर्गदूत का मरियम के पास आकर विना पुरुष संयोग से पुत्र होने की बात का उल्लेख करता है। पर स्वर्गदूत के आने की बात नितान्त गप्प ही है।

'मत्ती' युसूफ के स्वप्न का वर्णन करता है और लूका जिब्राइल का मरियम के पास आना लिखता है। दोनों की बातों में आकाश-पाताल का अन्तर है। इसलिए मरियम का परपुरुष से संग स्पष्ट ज्ञात होता है। यीशु को ईश्वर का इकलौता पुत्र मानना भी गप्प ही है।

ईसाई कहते हैं कि यीशु प्रभु थे, इन पर विश्वास करने से मुक्ति मिलेगी। परन्तु यह बात एकदम भ्रमपूर्ण है। वह मृत्यु से पूर्व दुःखी हुआ था इसलिए वह सच्चिदानन्दस्वरूप न था।

अपने कार्यों के लिए १२ शिष्यों से सहायता लेने के कारण वह सर्वशक्तिमान नहीं था।

वह न्यायकारी न था क्योंकि अंजीर के पेड़ को शुष्क हो जाने का श्राप दिया।

बाईबिल में उसे मनुष्य का पुत्र कहा गया है+।

उसे युसूफ बढ़ई का पुत्र कहा गया है×।

ईसाइयों का यह दावा ही भ्रमपूर्ण है कि यीशु परमात्मा का इकलौता पुत्र था, क्योंकि बाईबिल में अन्य लोगों को पुत्र कहा गया है। यथा यहोवा ने इस्रायल को अपना ज्येष्ठ पुत्र कहा है॥। दाऊद बादशाह को खुदा का पहिलौठा पुत्र कहा गया है।⟋

यीशु का उपदेश भी विचित्र था। उसने स्पष्ट कहा है कि—'मैं पृथ्वी पर मिलाप कराने नहीं वरन् तलवार चलवाने आया हूँ।"

"मैं पृथ्वी पर आग लगाने आया हूँ।"

+देखो मत्ती ९।६; मत्ती प० ८। आ० २०; मत्ती १०।२३, १२।४० १७।२१,

×देखो—यूहन्ना प० १। आ० ४५; मत्ती प० १३। आ० ५५।५६; लूका प० ३। आ० २३; मरकुस प० ६। आ० ३.

॥ निर्गमन प० ४। आ० २२

⟋ भजन संहिता प० ८९। आ० २६।२७

अपने शिष्यों को उपदेश देता था कि अपने कपड़े विक्रय करके तलवार क्रय करो।

यरूशलेम के मन्दिर में उसने निर्दोष पशुओं को पीटा जिससे वह अहिंसक नहीं, वरन् निर्दयी प्रकट होता है।

यीशु का यह उपदेश कि कोई तेरे दाहिने गाल में थप्पड़ मारे तो उसकी ओर दूसरा भी फेर दो, केवल प्रदर्शनमात्र था।

उसने कहा था कि—"मेरे पीछे चले आओ, तो मैं तुमको मनुष्यों के पकड़ने वाले बनाऊँगा।"

इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि यीशु ने मनुष्यों को फँसाने के लिए मत चलाया था। उनके अनुयायी पवित्र भारतवर्ष में अपने जाल में मनुष्यों को फँसा-फँसा कर ईसाई बनाते हैं।

यीशु का गुरु, बपतिस्मा देने वाला 'यूहन्ना' था जोवनमधु और टिड्डियों का भोजन करता था। उसने यीशु को बपतिस्मा देते हुए भविष्यवाणी की थी—"मैं तो पानी से तुम्हें मन फिराव का बपतिस्मा देता हूँ, परन्तु मेरे जो बाद आने वाला है, वह मुझसे शक्तिशाली है; मैं उसकी जूती उठाने के योग्य नहीं, वह तुम्हें पवित्र आत्मा और आग से बपतिस्मा देगा।..."

—[मत्ती प० ३। आ० ११; लूका ३।१६; मरकुस १।७,८]

आज तक किसी भी पादरी ने आग से बपतिस्मा नहीं दिया, वरन् सभी पानी से ही बपतिस्मा देते रहे। आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द जी आग के सामने बैठा कर शुद्धि करके वैदिक धर्म में दीक्षित करते थे। संभवतः ईसा के दीक्षा गुरु का निर्देश महर्षि दयानन्द जी की ही ओर हो। यीशु ब्रह्मचारी था पर उसका सम्बन्ध महिलाओं से भी था।

मरियम नामक एक महिला ने यीशु पर इत्र डाल कर उसके पांवों को अपने बालों से पोंछा था।

'गलील' में बहुत सी स्त्रियाँ उसकी सेवा करती थीं। ब्रह्मचारी जी को स्त्रियों से सम्पर्क करना उसे गर्त में गिरा देता है।

किसी के विवाह में शराब घटने पर यीशु ने छः मटकों में शराब बना कर सबको पिलवाया।

उसका यह कार्य अनुचित था बाईबिल के कई स्थलों में शराब पीना बुरा कहा गया है ।=

बाईबिल के हिन्दी अनुवाद में शराब के स्थान पर दाखरस लिखा गया है, पर दाखरस भी शराब ही है ।•••

यीशु ने अपने शिष्यों से गदही को चोरवाया था, जिसका वर्णन करते हुए लूका और मरकुश एक जानवर, परन्तु मत्ती दो जानवरों का उल्लेख करता है । यह परस्पर विरोध क्यों ?

यीशु ने स्वयं गधे के बच्चे की चोरी की । क्या ईश्वर पुत्र का कार्य चोरी करना है ?

यीशु के चमत्कारिक कार्य भी जगत् को भ्रम में डालने वाले हैं । लंगड़े कोढ़ी तथा अन्य बीमारियों को चंगा करने का जो वर्णन है वह अतिशयोक्ति ही है । यदि पीयूषपाणि माना जाय तो ये बातें संभव हो सकती हैं परन्तु बाइबिल में इसका कोई उल्लेख नहीं है ।

'मत्ती' अंधों की संख्या दो और मरकुस तथा 'लूका' एक अंधा लिखता है इससे चमत्कार की बात गप्प ही प्रतीत होती है ।

डीन फरार + व केनन माजले — नामक ईसाई विद्वान् चमत्कारों को मिथ्या बतलाते हैं ।

ईसा का उपदेश है—"और विश्वास करने वालों में ये चिह्न होंगे वे मेरे नाम से दुष्टात्माओं को निकालेंगे, नई-नई भाषा बोलेंगे, साँपों को उठा लेंगे

= देखो—'इफसियों के नाम पौलुस प्रेरित की पत्री प० ५ । आ० १-८, नीतिवचन २१ । १७, यशायाह भविष्यवक्ता की पुस्तक प० २८ । आ० ७

••• ईसाई मत का मासिक पत्र "जीवन का पानी" कानपुर, वर्ष ३, नवम्बर १९५० ई०, अङ्क ११, पृ० ११ में लिखा है—"शराब, जिसे हम कई नामों से पुकारते हैं यानी ब्राँडी, वाईन या दाखरस इत्यादि ।"

+ "क्रिश्चियनीटी इन इण्डिया" पृष्ठ ५२ [सन् १९४१ ई० प्रथम संस्करण प्रयाग]

— वही ।

और यदि वे नाशक वस्तु पीएं तो उनकी कुछ हानि न होगी। वे बीमारों पर हाथ रखेंगे और वे चंगे हो जाएँगे।......[मरकुस प० १६। आ० १७। १८। १६]

आज तक विश्व का कोई भी पादरी इन उपदेशों को सत्य नहीं प्रमाणित कर सका। क्या कोई पादरी काला साँप उठा सकता है ? विष खा सकता है और राजयक्ष्मा के रोगियों पर हाथ रख कर चंगा कर सकता है? त्रिकाल में भी कोई पादरी इन कार्यों को नहीं कर सकता।

ईसा मुक्तिदाता भी न था जैसा कि ईसाई मानते हैं। बाईबिल में स्पष्ट लिखा है—"......वह हर एक को उसके कामों के अनुसार बदला देगा। जो सुकर्म में स्थिर रह कर महिमा और आदर और अमरता की खोज में है उन्हें वह अनन्त जीवन देगा।"

—[रोगियों के नाम पौलुस प्रेरित की पत्री प० २। आ०६-७]

"हर एक को उसके कामों के अनुसार प्रतिफल देगा।"

—[मत्ती प० १६ आ० २७]

जब सबको अपने कर्मों के अनुसार ही फल मिलेगा तो ईसा को मुक्ति-दाता कहना व्यर्थ है।

ईसा को प्राणदण्ड अत्यन्त नृशंसता पूर्ण दिया गया था। परन्तु ईसा का भी दोष था, क्योंकि ईश्वर का न कोई पुत्र न कोई उसका पिता है। यदि ईसा परमेश्वर का पुत्र होता तो वह उसे बचाता। ईसा का मृत्यु से तीन दिन के बाद जीवित होना नितान्त गप्प है।—

यीशु का जीवन रहस्यमय था। वह १२ वर्ष की आयु में यरूशलम के मन्दिर में सो गया और ३० वर्ष की आयु से उपदेश देने लगा। १८ वर्ष के विषय में बाईबिल में कोई चर्चा नहीं है। वह इतने वर्षों तक भारतवर्ष में रहा।

— द्रष्टव्य—पं० गंगा प्र० उपाध्याय कृत "खुदा का बेटा" पृष्ठ१४, पं० नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ कृत "आर्य समाज का इतिहास" प्रथम भाग, पृष्ठ २१४, श्री रामचन्द्र प्रसाद जी वकील कृत "ईसाई सिद्धान्त दर्पण" पृष्ठ ७७, द्वितीय संस्करण. सन् १९२८ ई०।

रूसी यात्री नोटोविश ने ईसा के सम्बन्ध में "दि अननोन लाइफ आफ क्राइस्ट" (The Unknown life of Christ) नामक पुस्तक लिखी थी जिसके ५ वें अध्याय में उसने लिखा है:—

"परमात्मा से भाग्यशाली बनाया हुआ युवा ईसा चौदह वर्ष की अवस्था में सिन्धु नदी के पार आया। वहाँ स्वयं आर्यों के बीच में निवास किया। वह जगन्नाथ और बनारस गया, जहाँ के शुक्ल ब्राह्मण पुरोहितों ने उसका स्वागत किया और उसको वेदों को पढ़ना सिखाया।"

ईसा भारत का ही शिष्य था और उस पर बौद्ध मत का प्रभाव था।•••

पं० नरदेव शास्त्री — पं० विश्वेश्वर जी सि० शिरोमणि × श्री सावलिया बिहारी वर्मा एम० ए० = प्रभृति विद्वान् भी नोटोविश के मत का समर्थन करते हैं।

परलोक वासी लोकमान्य पं० बाल गंगाधर तिलक ने अपने "श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य "भाग ७, पृष्ठ ५९३ में स्पष्ट लिखा है कि ईसा भारत में आया था।

••• द्रष्टव्य—श्री गंगा प्रसाद जी ए० ए० कृत "दी फाउन्टेन हेड ऑफ रेलीजन" पृ० २५ से ३६ तक।

— "आर्य समाज का इतिहास "प्रथम भाग, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ २०१ से २१७ तक।

× "महात्मा ईसा" प्रथम संस्करण, पृष्ठ ८५ व ८६।

= "विश्व धर्म परिचय" पृष्ठ ४०४ [प्रथम संस्करण पटना]

अज्ञान, अंधकार पर आधारित ईसाई मत संसार को विनाश मार्ग पर ले जाने में सहायक है।

इसाई मत का खोखलापन

पण्डित शांतिप्रकाश "शास्त्रार्थ-महारथी"

o o o

ऋषि दयानन्द के मत में अपने पराये का भेद केवल सैद्धान्तिक है। जो कोई भी किसी वैदिक सिद्धान्त को मानता और उसकी जितनी पुष्टि करता है वह उतना ही अपना और निकटस्थ है।

और जो कोई वैदिक सिद्धान्त से जितना दूर है, वह उतना ही दूरस्थ और पराया है। ऋषिराज ने इस १३ वें समुल्लास की अनुभूमिका के अन्त में लिखा है कि—

"जो-जो सर्वमान्य सत्य विषय हैं वे तो सबमें एकसे हैं, झगड़ा झूठे विषयों में होता है। अथवा एक सच्चा और झूठा हो तो भी कुछ थोड़ा सा विवाद चलता है। यदि वादि प्रतिवादी सत्या-सत्य निश्चय के लिए वाद प्रतिवाद करें तो अवश्य निश्चय हो जाय।"

बड़ा सत्यार्थप्रकाश समु० १३ पृ० ४४१

इसी निश्चय के उद्देश्य से ही इस समुल्लास के लिखने की आवश्यकता प्रतीत हुई। बाईबल का पूर्व भाग यहूदी तथा ईसाई दोनों मानते हैं। अन्तिम भाग इञ्जीलों के नाम से प्रसिद्ध है और पहिले की अपेक्षा छोटा है, इसे केवल ईसाई लोग मानते हैं। यहूदी नहीं मानते।

सम्प्रदायवाद महाभारत काल के पश्चात् चला है। सबसे पहिला मत जो वेदों की शिक्षा के लुप्त तथा अर्द्ध लुप्त होने पर चला, वह पारसी मत है। जिसे जरदुश्त ने स्थापित किया, इसका समय लगभग ४५ सौ वर्ष पूर्व का है।

यहूद मत का काल ३५०० वर्ष पूर्व तथा ईसाई मत दो सहस्र वर्ष के अन्तगत है। इसलाम का क्रम इसके ६०० वर्ष पश्चात् का है। इन सब मतों में काल की दूरी के साथ-साथ क्रमश: वैदिक मन्तव्यों से दूरी होती चली गई किन्तु अन्वेषण करने पर प्रत्येक मत का मूलाधार वैदिक धर्म ही सिद्ध होता है।

सभी मतों में एक ऐसी उच्च दशा के काल का वर्णन है जिसमें सर्वथा सच्चाई का प्रकाश ईश्वर की ओर से हुआ। उस युग के लोग धर्मात्मा थे। उसे स्वर्णिम युग कहा गया है जब कि विवाद न उठता था। उठता तो धर्म ग्रंथ के आधार पर समाप्त हो जाता था। तब मनुष्य जाति में कोई जन्म, संप्रदाय, भाषा, रंग रूप-मूलक भेदभाव न था। यही वैदिक युग है जिसकी रूप-रेखा सैमेटिक मतों में भूली-सी प्रतीत होती है। क्योंकि उस समय वेदों के सच्चे अर्थ लुप्तप्राय: थे। अलंकारों की व्याख्या बिगड़ गई थी। आख्यान घड़-घड़ कर वेदों के रूपक बिगाड़ लिये गए थे। धर्म का स्वरूप विकृत होकर विस्मृति पथ को प्राप्त हो चुका था। इसका निदर्शन बाईवल की तौरात वर्णित कथाओं से भली-भान्ति हो पाता है। देखिये तौरात के प्रथम पृष्ठ पर लिखा है कि—

"आरम्भ में ईश्वर ने आकाश और पृथिवी को सृजा और पृथिवी बेडोल तथा सूनी थी। और गहिराव पर अंधियारा था और ईश्वर का आत्मा जल के ऊपर डोलता था।"

पर्व १ आयत १-२ ।।

दार्शनिक दृष्टि से ईश्वर का आत्मा कहना सर्वथा अनुपयुक्त है किन्तु बाईबल में दर्शन शास्त्र और तर्क को निषिद्ध घोषित किया है। ईश्वर का आत्मा कहने से वह शरीरी प्रतीत होता है जैसे मनुष्य का आत्मा कहने से शरीर सहित आत्मा अभिप्रेत है। आगे के वर्णन में ईश्वर के शारीरिक अवयवों का स्पष्ट वर्णन है। उसकी आत्मा पानी पर डोलती थी तो वह एकदेशी सिद्ध हुआ। सर्व व्यापक न होने से वह सृष्टिकर्ता सिद्ध नहीं हो सकता। अपूर्ण का वचन भी अपूर्ण होने से बाईबल सम्भ्रान्त पुस्तकों की श्रेणी में ही आने से बुद्धिमानों के लिए प्रमाण नहीं।

वास्तव में यहाँ जल शब्द का भाव वेद के "सलिल" और "आप:" आदि शब्दों से लिया गया प्रतीत होता है जो कि प्रकृति वाची शब्द हैं क्योंकि

ऋग्वेद में प्रलयावस्था का चित्रण करते हुए लिखा है कि—

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥
ऋ० १०।१२९।३

यह सब जगत् सृष्टि के पूर्व अन्धकार से आवृत्त, रात्रि रूप में जानने के अयोग्य आकाश रूप सब जगत् तथा तुच्छ, अनन्त परमेश्वर के सम्मुख एकदेशी आच्छादित था। पश्चात् परमेश्वर ने अपने सामर्थ्य से कारण रूप से कार्यरूप में परिणत कर दिया।

इस मंत्र में सलिल शब्द के अर्थ प्रकृति के हैं जो एक प्रकार से अपने कारण रूप में प्रलयावस्था के कारण अन्धकारमय थी, तौरात में गहराव और अन्धेरे का वर्णन है जिससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि तौरात का रचयिता इस मंत्र के उस समय के अपभ्रष्ट अर्थों को कहना चाह रहा है। सलिल शब्द के अनेक अर्थों में से एक अर्थ जल भी लोक में प्रसिद्ध है। अतः यहाँ प्रकृति में ईश्वर को व्यापक न लिख कर अपभ्रंश अर्थों के अनुसार उसकी आत्मा की कल्पना करके उसे पानी में डोलता हुआ वर्णित किया है। सृष्टि रचना क्रम में भी उपनिषद् की अधूरी और मिथ्या नकल की है। वह वचन निम्न प्रकार से है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तैत्तिरीयोपनिषत् ब्रह्मानन्द वल्ली अनुवाक। १

उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश अवकाश अर्थात् जो कारण रूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न सा होता है। वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि विना आकाश के प्रकृति और परमाणु कहाँ ठहर सकें? आकाश के पश्चात् वायु, वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथिवी, पृथिवी से औषधि, औषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, उससे पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है।

आकाश नित्य है, प्रलयावस्था में उसका अभाव व्यवहार के अभाव के कारण माना गया है। आकाश की उत्पत्ति नहीं होती। व्यवहारावस्था में उपचार से प्रगट होना व्यंजित हुआ है, यह पूर्ण प्रलय के पश्चात् उत्पत्ति का

वर्णन है । तौरात के कर्ता इसकी वास्तविकता तक नहीं पहुँच सके । जिन्होंने आकाश की उत्पत्ति का वर्णन कर दिया । उत्पत्ति क्रम भी विचित्र रखा । सूर्य चौथे दिनऔर वनस्पति जगत् का तीसरे दिन उत्पन्न होना लिखा । यह वर्णन विज्ञान के सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि वनस्पति जगत् सूर्य ताप के बिना उद्भूत नहीं हो सकता । सूर्य के बिना उसकी उत्पत्ति से पूर्व तीन दिनों की गणना भी असंभव है ।

तौरात ने ६ दिन में सृष्टि की रचना की पूर्णता कर दी । सातवें दिन ईश्वर जी के आराम का समय नियत करके संसार को उस दिन छुट्टी मनाने का आदेश दिया । अवज्ञा पर मृत्यु दंड की घोषणा की और लिखा कि सातवें दिन खुदा के छुट्टी मनाने के कारण आग भी जलाई जाए । किन्तु सारे ईसाई इस आदेश की अवज्ञा करने से मृत्यु दंड के अधिकारी सिद्ध होते हैं । न होगा बाँस न बजेगी बांसुरी । यदि बाईबल की शिक्षा पर ईसाई सरकारें आचरण करें तो संसार में कोई भी ईसाई मृत्यु दंड से मुक्त न हो सकेगा । यह बाईबल की दर्शन हीनता का ज्वलन्त प्रमाण है ।

उपनिषद् ने पुरुष की उत्पत्ति तक का वैज्ञानिक क्रम रखा है । पुरुष को अन्न-रस-मय माना है किन्तु बाईबल उसे केवल मिट्टी से मानकर खुदा के हाथों की घड़न्त कहती है ।

वैदिक ग्रन्थ स्त्री पुरुषों की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं । बाईबल स्त्री की उत्पत्ति पुरुष से मान कर असंभव प्रमाण की कोटि में अमान्य सिद्ध होती है । वेद में पृथिवी के ऊँचे देश पर उत्पत्ति की संभावना प्रदर्शित की है और उसका नाम स्वर्गलोक रखा है । बाईबल इस रहस्य से वंचित होकर आकाश के कल्पित स्वर्ग की भूल-भुलैय्यों में व्यस्त है, जहाँ ईश्वर अपने साथियों समेत सैर करता हुआ अदम को ढूँढता और पुकारता है परन्तु वह नग्न होने के कारण वृक्षों की ओट में छिपा था । जिसे ईश्वर न देख सका, न जान सका ।

वेद में बुद्धिवाद की पराकाष्ठा है । गायत्री मंत्र में बुद्धि के सुमार्ग गामी होने की प्रार्थना है किन्तु बाईबल में बुद्धि के फल को खाने का सर्वथा निषेध करके मनुष्य को अन्ध विश्वास के गहरे गर्त में गिरा दिया गया है ।

बाईबल में शैतान की चर्चा वेद के इन्द्र और वृत्र के युद्ध अर्थात् सूर्य के

बादलों पर प्रहार की कथा के वास्तविक रूपक को न समझने से हुई है। शैतान साँप बनकर स्वर्ग में प्रविष्ट हुआ। वेद में सूर्य की प्रखर किरणों के वज्रोपम प्रहार से जलकणों को छिपाए रखने वाला मेघरूपी असुर अपनी जलधाराओं के साथ पृथिवी पर गिर कर उसे हरा भरा बना देता है। जिससे सस्य श्यामला भूमि स्वर्ग कहलाने लगती है। वैदिक शब्द अहि के अर्थ मेघ अथवा बादल के हैं। तौरात के लेखक तक इसका लोकप्रसिद्ध अर्थ केवल साँप ही पहुँचा, जिसे उसने आदम को बहकाने के लिए खुदाई स्वर्ग में पहुँचा दिया। और शापरूप से उसे भूमि पर गिरा दिया गया तब आकाश में स्वर्ग के प्रत्येक द्वार पर कृपाण पाणि फरिश्तों का पहरा लगा दिया और खुदा शैतान के हमले से सुरक्षित हो पाया।

स्पष्ट है इन कथानकों में वैदिक कथाओं के अपभ्रंश हुए भावों का अधूरा खाका खेंचने का प्रयत्न किया गया है। जिसमें न कोई सार है और न किसी तत्त्व का यथार्थ दिग्दर्शन। ईसाई तथा यहूदी इस तथ्य को जितना शीघ्र समझ सकें; संसार का तथा उनका भला है।

सारी बाईबिल की दार्शनिक इतिश्री इतनी ही है। तैत्तिरीयोपनिषत् में आकाश क्रम से, छान्दोग्य में अग्न्यादि, ऐतरेय में जलदिक्रम से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। जब महाप्रलय हो तो आकाशादि क्रम और जब खंड प्रलय हो तो अग्न्यादि क्रम से सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन लिखा है। यदि बाईबिल के सृष्ट्युत्पत्ति के वर्णन को खंड प्रलय मानकर जल क्रम से उत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाए तो भी यह वर्णन उपयुक्त नहीं क्योंकि इसमें आकाशादि की उत्पत्ति भी लिखी है।

आदम की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए लिखा है कि:—

"और यहूदा परमेश्वर ने आदम को भूमि की मिट्टी से रचा और उसके नथनों में जीवन का श्वास फूंक दिया। आदम जीता प्राणी हुआ।"

तौरात उत्पत्ति आयत ८७

कुरान में लिखा है कि खुदा ने आदम को अपने दोनों हाथों से बनाया तथा स्थानान्तर में लिखा है कि उसमें अपनी रूह फूंकदी। खुदा की रूह अथवा ईश्वर के जीव का अभिप्राय एक तो यह है कि ईश्वर ने अपनी ही आत्मा उसमें प्रविष्ट करदी तो आदम को ईश्वर अथवा इसका अवतार मानना होगा।

दूसरे अर्थ यह हो सकते हैं कि ईश्वर उस रूह अर्थात् जीव का स्वामी है। यही अर्थ ही संभव माने जा सकते हैं। विचारणीय बात यह है कि जीव भी ईश्वर की भाँति अनादि है अथवा सादि है ? यदि अनादि नहीं तो ईश्वर ने उसे कहाँ से उत्पन्न किया ? बाईबिल और कुरान में ईश्वर की और से जीव को उत्पन्न किये जाने का कहीं भी वर्णन नहीं मिलता। अत: मानना होगा कि जीवात्मा अनादि है। यदि ईसाई यह स्वीकार कर लें तो उनके वैदिक धर्मी बनने में देर न लगे। पुन: वह त्रिनेटी के स्थान पर वैदिक त्रित्ववाद को मान्यता देंगे।

सृष्टि रचना प्रयोजन का वर्णन बाईबिल में अत्यन्त दूषित है। लिखा है कि परमात्मा ने सृष्टि अपने लिये बनाई। यदि ऐसा है तो ईश्वर सृष्टि रचने से पूर्व अधूरा था। किसी प्रकार की न्यूनता अनुभव कर रहा था अन्यथा उसे सृष्टि रचने की क्या आवश्यकता पड़ गई थी, उसने सृष्टि प्रथम बार रची तो से यह अनुभव कहाँ से प्राप्त हुआ। और यह इच्छा अकस्मात् क्यों और कैसे उत्पन्न हुई ? यदि अनुभव था तो सृष्टि-रचना कार्य प्रवाह से अनादि मानना होगा, जोकि वैदिक धर्म का सिद्धान्त है।

बाईबिल का ईश्वर अपूर्ण है। कमी से युक्त है, अपनी कमी को पूरा करने के लिये सृष्टि रचना का कार्य करता है। स्वयं अपूर्ण होने से सृष्टि भी अधूरी बना पाता है। विवश होकर क्रोध के आधीन उसके विनाश के हेतु जल प्रलय लाता है। चालीस दिन तक आकाश के द्वार खोल देता है। आकाश के द्वारों से इतनी वृष्टि होती है कि सब भूमि भर जाती है और नूह की नौका पर्वत की चोटी को जा लगती है। जिसमें संसार भरके प्राणियों के जोड़े ईश्वर की आज्ञा से लादे गए थे।

यह कथा भी ब्राह्मण ग्रन्थों की जल प्रलय की आख्यापिका का अपभ्रंश है, वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों के कुछ अलंकार ऐतिहासिक युग में जनता द्वारा इतिहास का रूप धारण कर गए जो भिन्न-भिन्न देशों में विभिन्न प्रकार से नामान्तर के साथ प्रचलित हुए। इन्हीं से मतमतांतरों की सृष्टि हुई।

आदि में उत्पन्न होने वाली मनुष्य जाति का नाम आदिम बाईबिल में आदम है। और वह एक मनुष्य समझ लिया गया है। जिसे को ईश्वर ने गहरी नींद में सुलाकर उसकी पसलियों में से एक पसली निकालकर उसकी स्त्री की रचना की। जिसका नाम हव्वा रखा गया, इन दोनों की सन्तान संसार के

समस्त मनुष्य मात्र हैं। यह कल्पना भी दुरूह है। क्योंकि पुरुष शरीर से स्त्री का उत्पन्न होना असंभव तथा सृष्टि नियम के विरुद्ध है। धार्मिक जगत् में कोई भी मनुष्य अपने से उत्पन्न हुई स्त्री के साथ विवाह करने और सन्तान उत्पन्न करने का अधिकारी नहीं।

खुदा ने आदम और हव्वा को बुद्धि के वृक्ष के फल खाने का निषेध किया, शैतान के बहकाने से हव्वा ने वह फल खा लिया और अपने पति आदम को भी खिला दिया जिससे दोनों के ज्ञानचक्षु खुल गए। शैतान को ज्ञानदाता और गुरु मानने के स्थान पर उसे अपराधी घोषित करके साँप बनाकर भूमि पर पटक दिया गया। आदम तथा हव्वा को भी शाप दिया गया। आदम ने भूल की अतः वह पापी ठहरा। आदम से जो संतान प्रलय काल तक उत्पन्न होगी वह भी पापी घोषित हुई। इस कारण से खुदा ने अपने ईसामसीह को मनुष्य के द्वारा स्त्री से उत्पन्न न किया कि आदम की भूल के कारण मनुष्य पापी हैं उस के पाप का अंश खुदा के बेटे में न आ जाए। अतः वह कुमारी के पेट से उत्पन्न हुआ। इस कारण से वह निष्पाप माना गया। यह ईसाईयों की युक्ति नितान्त भ्रान्त है क्योंकि बुद्धि के वृक्ष का फल खाने से आदम पापी है तो यह फल उसे हव्वा ने खिलाया। आदम के खाने से पूर्व उस फल को हव्वा ने खाया अतः हव्वा की भूल प्रथम हुई। आदम की भूल का कारण भी हव्वा थी, जिससे ईसाईयों की युक्ति के अनुसार संसार भर की लड़कियाँ हव्वा की पुत्रियाँ होने के कारण पाप की भागिनी माननी होंगी। तब कुमारी से उत्पन्न होने के कारण निष्पाप होने का सिद्धांत अमान्य ठहरेगा।

ईश्वर का पुत्र एक क्यों है? जब कि सारे संसार के जीव मात्र को ईश्वर की सन्तान मानना अधिक श्रेयस्कर है। स्वयं बाईबिल में संसार के समस्त श्रेष्ठ मनुष्यों को ईश्वर के पुत्र कहा गया है। जबूर में सब को ईश्वर पुत्र और मती में मेल कराने वाले मनुष्यों को खुदा के बेटे कहा है। अतः लूका में ईसा-मसीह को खुदा का इकलौता बेटा कहना यह ईसाईयों की नवीन कल्पना है। जो त्रिनेटी अर्थात् तीन खुदा के सिद्धांत को परिपुष्ट करने के लिये घड़ी गई है। आज का शिक्षित संसार इस त्रिनेटी के सिद्धान्त को अमान्य ठहरा रहा है।

ऋषि दयानन्द के सत्यार्थप्रकाश के तेरहवें समुल्लास का ही यह फल समझना चाहिये कि इसाई संसार के करोड़ों व्यक्ति अब इस त्रिनेटी के सिद्धांत

को इञ्जील में प्रक्षिप्त भाग कहने और मानने लग गए हैं। इसका प्रमाण यह है कि मेरे पास एक पुस्तक है जो वाच टावर बाईबिल ऐंड ट्रैक्ट सोसाएटी आई ऐन सी इन्टर नैशनल बाईबिल स्टूडेंट्स एसोसीएशन बरोकलिन न्यूयार्क यू.एस ए. द्वारा प्रकाशित हुई। इस पुस्तक की पहिली एडीशन एक करोड़ तीन हजार की संख्या में संसार की तीस भाषाओं में छपी थी। पुनः इसके अन्य कई एडीसन भी प्रकाशित हुए। इस पुस्तक में यूहन्ना इञ्जील की आयत लिखी है कि—

"तीन हैं जो आसमानों में गवाही देते हैं अर्थात् पिता वाणी (पुत्र ईसा-मसीह), और पवित्रात्मा और यह तीनों एक हैं।" यूहन्ना ५।७

इस आयत से ही ईसाई तीन खुदा का सिद्धांत मानते हैं। इस आयत में वाणी का अर्थ खुदा का बेटा ईसामसीह है। मैंने ईसाईयों की एक हिन्दी पुस्तक में "पितापुत्र पवित्रात्मने नम," लिखा हुआ देखा है। जो पुस्तक के आरम्भ में मंगलाचरण के रूप में लिखा गया है, यह तीन एक हैं। ऐसा यूहन्ना की इञ्जील में लिखा है। इस पर ईमान लाना ईसाइयों का धर्म है, किन्तु उक्त अमरीकन पुस्तक में जो करोड़ों की संख्या में प्रकाशित हुई। इस का खंडन करते हुए लिखा है कि—

"पवित्रवाणी (इञ्जील) में प्रक्षेप करने का यह एक ज्वलन्त प्रमाण है जब कि इस प्रकार का प्रक्षेप करना अति निषिद्ध है। इस प्रमाण की व्याख्या करते हुए यूनानी विद्वान विलसन साहिब ड़ाईगलाट में यूं लिखता है कि:—

यह प्रमाण जो आसमानी गवाहों के सम्बन्ध में दिया हुआ है, वह पन्द्रहवी शती के पहिले लिखी हुई किसी भी इञ्जील में नहीं है। धार्मिक पुस्तकों के यूनानी लेखकों ने इसका कोई प्रमाण नहीं दिया और न ही पुरातन लातीनी फादरों ने इसका वर्णन किया है। यदि उन्होंने ऐसे लेख लिखे होते तो आवश्यक था कि वह उनके प्रमाण भी उपस्थित करते। अत: यह स्पष्ट है कि यह प्रमाण स्वयंनिर्मित (कपोल कल्पित) है।"

इस कथन की सत्यता इस वास्तविकता से प्रकट है कि रोमन कैथोलिक अनुवादों के अतिरिक्त जो लातीनी वर्शनों से किये गये हैं। यह प्रमाण नए अनुवादों में नहीं पाया जाता।"

खुदा सच्चा ठहरे पृ० ११०

जब तसलीस (त्रिनेटी) का सिद्धान्त प्रक्षिप्त है । तो ईसामसीह को खुदा का बेटा मानकर उसे खुदा के आसन पर बिठाकर उससे संसार के जीवों का निर्णय कराना और उन्हें स्वर्ग नरक पहुँचाना भी स्वतः गलत हो गया। उसके ऊपर ईमान लाने के लिए उसे निष्पाप मानने के हेतु कुमारी के पेट से उत्पन्न होने का आधार ही समाप्त हो गया। स्वयं इन्जील में लिखा है कि—

"जब यसूअ (ईसा) स्वयं उपदेश देने लगा तो लगभग तीस वर्ष का था और यूसुफ़ का बेटा था और वह ईली का............और वह आदम का और वह खुदा का था।"　　　　लूका ३।२१७।३४

लूका की इन्जील में ईसा की वंशावली का वर्णन करते हुए उसे यूसुफ का बेटा लिखा हैं। यूहन्ना की इन्जील में भी स्पष्ट लिखा है कि:—

"फिलुपास ने ....कहा कि जिसका वर्णन मूसा ने तौरात में और नबियों ने किया है, वह हम को मिल गया। वह यूसुफ का बेटा यसूअ नासिरी है।" यूहन्ना १। ४५

ईसामसीह की माता मरियम ने भी ईसा से कहा कि:—

"ऐ बेटा तूने क्यों हम से ऐसा किया। देख तेरा बाप (पिता) और मैं कुढ़ते हुए तुम्हें ढूंढ़ते थे।" लूका २।४८

माता का कथन सबसे बढ़कर है। संसार के पादरी कुछ कहें। जब तक इन्जील में माता के शब्द लिखे हैं कि हे बेटा तुम्हें तेरा पिता और मैं ढूढ़ते थे और जब तक तू नहीं मिला हम दुःखी थे। इन स्पष्ट शब्दों के होते ईसा को पिता के बिना कुमारी से उत्पन्न होने का सिद्धान्त मानना केवल हठ मात्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं। स्वयं ईसामसीह की गवाही भी इन्जील में मिलती है कि उन्होंने अपने आपको कुमारी का पुत्र न कहकर इब्बे आदम अर्थात् मनुष्य का पुत्र कहा है। देखो रूमियों का आरंभ।

इतने प्रमाण मैंने इसलिए दे दिये हैं जिससे संसार को ज्ञात हो सके कि ईसाईयत के ईसा पर ईमान लाने आदि के सारे हेतु निराधार और कल्पित हैं। इन प्रमाणों के होते ईसाईयत को मत के रूप में मानने की कोई आवश्यकता नहीं। ईसामसीह को मुक्तिदात' मानने के सभी कारणों का खंडन स्वयं बाईबल और इन्जीलों के द्वारा भली प्रकार से हो जाता है। शेष रह

जाता है वैदिक त्रित्ववाद का सिद्धान्त। जो ईश्वर जीव प्रकृति के नित्य होने पर आधारित है

ईश्वर एक है। जीव अनेक हैं। जो कर्म वशात् प्रकृति के बने संसार में गत सृष्टियों और गतजन्मों के शुभाशुभ संस्कारों का फल भोगने के लिए उत्पन्न होते और मुक्ति प्राप्ति तक आवागमन के चक्र में रहते हैं। आरंभ सृष्टि में भी एक मनुष्य आदम और उससे एक स्त्री हव्वा उत्पन्न नहीं हुई थी। जिनकी भूलों के लिए ईश्वर को अपने पुत्र की बलि देनी पड़ी हो किन्तु अनेक स्त्री पुरुष संसार के आरंभ में उत्पन्न हुए थे। जिन का जातिवाची सामूहिक नाम संस्कृत में आदिम था जो भूल से आदम समझ लिया गया।

स्वयं बाईबल में अनेक स्त्री पुरुषों के सर्गारंभ में उत्पन्न होने का वर्णन आता है। जो इस प्रकार से हैं:—

"आदम की वंशावली यह है कि जब परमेश्वर ने मनुष्य को सृजा तब अपनी समानता में बनाया। नर और नारी करके उसने मनुष्यों को सृजा और उन्हें आशीष दी और उनकी सृष्टि के दिन उनका नाम आदम (आदिम) रखा।" तौरात की प्रथम पुस्तक अध्याय ५।

"और खुदा ने............नर और नारी उनको उत्पन्न किया और खुदा ने उनको बरकत दी और खुदा ने उन्हें कहा कि फलो और बढ़ो और भूमि को आबाद करो।" अध्याय २

यह दोनों प्रमाण तौरात के हैं जिनमें सर्गारंभ के मनुष्यों के अनेक नर-नारियों को उत्पन्न करके उनका सामूहिक नाम आदम रखा गया है। आदम शब्द अरबी और इब्रानी का नहीं है। यह शब्द संस्कृत के आदमी का अपभ्रंश मात्र है।

पाश्चात्य वैज्ञानिक अब ईसाईयत से पराङ्मुख होकर नास्तिकता के गहरे गर्त में गिर रहे हैं। क्योंकि सत्यसनातन वैदिक धर्म के सिद्धाँत उन तक नहीं पहुँचे। जिन तक पहुँचे हैं, वह आर्य बना चुके हैं। यही ऋषि का ऋषित्व है जोर सत्यार्थ प्रकाश के १३ वें समुल्लास का चमत्कार है कि आज ईसाई संसार ईसा के चमत्कारों का खंडन कर रहा है।

ऋषि ने मती की इञ्जील के अध्याय १५ के चमत्कार का खंडन किया है कि रोटियाँ सात थीं और खाने वाले व्यक्ति चार सहस्र थे। सब तृप्त

हो गये और भूठन के सात टोकरे भर गए। महर्षि जी ने लिखा है कि यदि ईसा का यह चमत्कार सत्य माना जाए तो जब एक अवसर पर ईसा को भूख लगी और गूलर के वृक्ष से फल माँगा तो उससे फल क्यों न मिला और ईसामसीह की भूख की तृप्ति क्यों न हुई ?

स्वयं ईसा ने चमत्कार दिखाने की असमर्थता प्रकट की है। मरकस में लिखा है कि:—

"पुन: फीसी निकलकर उससे शास्त्रार्थ करने लगे और उसे आजमाने के लिए उससे कोई आसमानी चमत्कार माँगा। उसने अपनी आत्मा में ठंडा साँस खींचकर कहा कि इस युग के लोग क्यों चमत्कार माँगते हैं ? मैं तुम से सत्य कहता हूँ कि इस युग के लोगों को कोई चमत्कार न दिया जाएगा और वह उनको छोड़कर पुन: किश्ती में बैठा और पार चला गया।" पृ० ९३६

जब ईसामसीह ने उस युग के लोगों को चमत्कार दिखाने से इनकार किया और ठंडी साँस ली और कहा कि मैं तुम से सत्य कहता हूँ कि इस युग के लोगों को चमत्कार न दिखाया जाएगा। तो इञ्जील में जितने चमत्कार लिखे हैं सब प्रक्षिप्त हैं। जो ईसाईयों ने मिला दिये।

ईसाईयत के प्रचार का सारा बल अपठित जनों में उसके चमत्कारों पर आश्रित है। ईसा के इनकार पर भी उनके चमत्कारों का वर्णन उनके साथ बहुत बड़ा अन्याय है। जिसे आज का संसार सहन करने को उद्यत नहीं।

●

सत्य ज्ञान का सूर्य उगा है, उदय हुआ है स्वर्ण-विहान !
रह न सकेगा आर्य देश में, ईसाई मत का अज्ञान !

●

ईसाई-मत की वास्तविकता

श्री जगत्कुमार शास्त्री

o o o o

ईसा का जीवन-चरित्र जो चार इंजीलों में अंकित है, वह उन भविष्य-वाणियों को आधार बनाकर चलता है, जो कि यहूदियों के प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में पाई जाती हैं। उन भविष्यवाणियों के साथ ही आकाश-वाणियों और स्वप्नों के आधार भी विषय प्रतिपादन और घटना-विस्तार के लिए अपनाये गये हैं। मूसाई, ईसाई और मुहमदी मतों में और इनकी प्राचीन काल से लेकर आज तक की सभी शाखाओं, प्रशाखाओं, भविष्य-वाणियों, आकाश-वाणियों और स्वप्नों के आधार पर प्राप्त होने वाले समाचारों की भरमार है। भविष्य-वाणियों और आकाश-वाणियों एवं स्वप्नों और चमत्कारों को आधार बनाकर ही भारत के पौराणिक-साहित्य की रचना हुई थी। इस पौराणिक साहित्य में रामायण और महाभारत जैसे बड़े ग्रन्थों और बौद्ध एवं जैन-साहित्य का भी समावेश होता है। यह एक ऐसी समानता है, जोकि मध्य-काल की साहित्यिक-प्रगतियों, रचना-प्रणालियों और भोली-भाली जनता को प्रभावित करने की सरलतम पद्धतियों के ताने-बाने को सुस्पष्ट करती है। आज तो भविष्य-वाणियों आदि की बातें अत्यन्त हास्यास्पद प्रतीत होती हैं, परन्तु एक दीर्घ-काल तक भविष्यवाणियों आदि के आधार पर ही नये-नये ग्रन्थ बनते रहे, पन्थ चलते रहे, आन्दोलन उठते रहे हैं और जन-मानस आन्दोलित होते रहे हैं।

जिसको आज कल इस्राईल कहते हैं, उसी देश में ईसा ने अपना धर्म-प्रचार और सुधार का आन्दोलन शुरू किया था। ईसा का जन्म एक यहूदी परिवार में हुआ था। यहूदियों में ही उसने काम किया, उसके शिष्य और उत्तराधिकारी भी यहूदी थे। इसके परिणामस्वरूप प्राचीन यहूदी-मत ने, जोकि रूढ़िवाद का पुराना खण्डहर-मात्र रह गया था, ईसा के आन्दोलन से नया जीवन प्राप्त किया। ईसा ने यहूदी मत की कट्टरता को कम किया। उसके सिद्धान्तों में लचक पैदा की, संन्यासियों और गृहस्थियों के पृथक्-पृथक् कर्त्तव्य और अधिकार निर्धारित किये, मानवी दुर्बलताओं के प्रति, मानव-जीवन की अधम वृत्तियों के प्रति भी सहानुभूति का दृष्टिकोण अपनाया। ऐसा करने से ईसा को अपने अनुयायी प्राप्त करने में भी आसानी हुई।

ईसा ने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा, तथापि शिष्य-मण्डली ने उनके मौखिक-उपदेशों और उनके जीवन की घटनाओं को लिखा, उनमें प्राचीन यहूदी-मत के ग्रन्थों की पुट देकर नये ग्रन्थ रचे, पुराने ग्रन्थों के सम्बन्ध और तारतम्य स्थापित किये और प्राचीन आचार-पद्धतियों तथा उपासना-पद्धतियों में कुछ सुधार एवं फेर-फार करके अपने नये मत की प्रवर्त्तना की। ईसा के नाम पर इस नये मत का नाम "ईसाई-मत" प्रसिद्ध हो गया। आरम्भ में तो इस नये मत के नये नाम "ईसाई-मत" का प्रचार विरोधियों ने ही शुरू किया था और इसमें उपालम्भ या व्यंग्य का तीखा भाव भी मौजूद था; परन्तु ईसा के जोशीले अनुयाइयों ने इस नये नाम को सहर्ष अपना लिया। एक नये नाम की आवश्यकता भी उनको थी ही। ऐसा होने पर नये नामके व्यंय की चुभन भी समाप्त हो गई।

ईसा का एक नाम (Jesus) 'जीसस' है। इस नाम के आधार पर ईसाई-मत को जिसुइट भी कहते हैं। एक ईसाई-सम्प्रदाय भी इस नाम का है। जीसस (jesus) शब्द का अर्थ परित्राता है। ईसा को 'क्राईस्ट' भी कहते हैं। (Christ) शब्द के दो अर्थ हैं। एक जिसको क्रौस पर चढ़ाया गया। दूसरे कुमारी का पुत्र (The son of virgin) ईसा दोनों ही अर्थों में 'क्राइस्ट' है। इसी नाम के आधार पर ईसाई-मत को (Chrisianity) क्रिश्चैयिटी कहते हैं।

ईसा के जीवन-काल में ईसा के चेलों का व्यवहार कुछ अधिक उत्साह पूर्ण या उत्कर्षपूर्ण नहीं था। परन्तु ईसा की शानदार मौत ने जोकि निःसन्देह एक शहीद की मौत थी। उनकी आँखें खोल दीं और उनको नये उत्साह से अनुप्राणित कर दिया। सूली पर चढ़कर ईसा ने अमरता प्राप्त करली। मृत्यु-दण्ड देने के लिए विरोधियों की ओर से जो आरोप लगाये थे, उनका स्पष्ट उल्लेख इंजीलों में नहीं है। शायद राजनीतिक कारणों से ही उनका उल्लेख नहीं किया गया। अन्य ग्रन्थों में ईसा के मुकदमे का पूरा हाल मिलता है। ईसा पर निम्नलिखित आरोप लगाये गये थे:—

५—ईसा लोगों को सत्पथ से हटाता है।

२—वह राज-विद्रोही है।

३—वह आईन (विधान) का विरोधी है।

४—वह मिथ्यारीति से अपने को ईश्वर कहता है।

४—-वह यहूदी-मन्दिर में घुसा। उसके पीछे एक समुदाय हाथों में खजूर की लाठियाँ लिए हुए था।

ये आरोप ईसा के मृत्यु-दण्ड के उस आज्ञा-पत्र में अंकित हैं। जो सम्राट् टिपरियस कैसर के १७ वें राज्याब्द में २७ वीं मार्च को जेरूसलम के पवित्र नगर में घोषित किया गया था। इस आज्ञा—पत्र में यह भी लिखा गया था—

"प्रत्येक मनुष्य को वह सम्पन्न हो या दरिद्र, यह भी आज्ञा दी जाती है कि वह ईसा के मृत्यु-दण्ड का विरोध न करे।"

(ईसा का जीवन वृत्तान्त एक दृष्ट-साक्षी द्वारा)

ईसा की निर्दयतापूर्ण मौत ने वह काम कर दिखाया जो शायद जीवित ईसा न कर सकता। जनता में ईसा के उपदेशों के प्रति भारी अनुकूलता जाग उठी।

सन्त ऑगस्टाइन ने लिखा है—

"जो अब ईसाई-धर्म कहा जाता है, वह प्राचीन लोगों में भी था, और मानव-जाति के आरम्भ काल से लेकर ईसा के शरीर धारण तक बराबर उपस्थित रहा। ईसा के समय से उस पूर्ववर्ती धर्म का नाम ईसाइयत पड़ा।"

सैण्ट ऑगस्टाइन (August. Rep. 1. 13.)

ईसाइयत के सभी सिद्धान्त, जैसाकि ईसाई विद्वान भी स्वीकार करते हैं। यहूदी-मत से लिये गये हैं। यहूदियों के समान ही ईसाई भी प्राचीन धर्म-पुस्तक (Old Testament) को अपने पवित्र धर्म-पुस्तक मानते हैं। एक शब्द में ईसाइयों की धर्म पुस्तक को "पवित्र बाईबिल" (Holy Bible) कहा जाता है। बाईबिल के मुख्यत: दो भाग हैं। (१) प्राचीन धर्म-पुस्तक (Old Testament) और (२) नई धर्म-पुस्तक (New Testament)। ये दोनों भाग कई-कई पुस्तकों के संग्रह हैं। प्राचीन धर्म-पुस्तक में ईसा से पूर्ववर्ती यहूदी मत की पुस्तकों का संग्रह है। इसमें उन्तालीस पुस्तकें संगृहीत हैं। नई धर्म-पुस्तक में सत्ताईस पुस्तकों का संग्रह है, जिनमें से पहिली चार पुस्तकें इंजीलें (Gospels) कहलाती हैं। इंजीलों में ईसा का जीवन-वृत्त और उसके उपदेश संक्षिप्त रूप में संगृहीत हैं।

ईसा यहूदी था। उसने यहूदी-मत को मिटाने का नहीं, अपितु उसके सुधार और उत्थान का ही प्रयत्न किया था, जैसा कि लिखा है—

"यह न समझो कि मैं व्यवस्था या नबियों के लेखों को लोप करने आया हूँ।" (मत्ती ५:१७,१८)

ईसा का कोई नया मत चलाने का विचार न था। तो क्या यहूदी-मत और ईसाई-मत में कोई भेद नहीं? जहाँ तक विचार न था। जहाँ तक आत्मिक सिद्धान्तों और गन्तव्यों का सम्बन्ध है, ईसाई-मत और यहूदी-मत में कोई विशेष भेद नहीं है। हाँ, ईसाई-मत के सदाचार-विषयक अधिक सरल और स्पष्ट हैं।

कुछ विद्वानों का कथन है कि यहूदी तो अपने मत को बहुत अधिक प्राचीन

कहते हैं, जैसा कि सभी पन्थाई लोग का कथन होता है। अन्वेषकों ने यहूदी-मत के उत्कर्ष का समय ईसा से ४५० वर्ष पूर्व निश्चित किया है। ऐसा उल्लेख है कि "हरन" नामक नगर में बैठकर यहूदी-मत के प्रवर्त्तक ने अपनी धार्मिक विवेचना की थी। जर्मनी डाक्टर स्नी० स्पीगल, जिनका दूसरा नाम आर्यनम वीगा भी था, यह मत प्रकाशित किया था कि पासी-मत के संस्थापक जरस्थश्त्रु और यहूदी-मत के संस्थापक अब्राहम का समय एक ही है और वे दोनों एक ही देश के निवासी थे। दोनों के सिद्धान्तों, और देवताओं आदि की तुलना करके इस स्थापना के पक्ष में बहुत से प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं।

कई प्रमुख विद्वानों का मत है कि ईसा ने सदाचार विषयक शिक्षा बौद्ध मत से ग्रहण की थी। स्वर्गीय श्री रमेशचन्द्र दत्त महोदय ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Civilisation in ancient India vol. 11. C. 328 में लिखा है—"बौद्ध-मत के चरित्र सम्बन्धी सिद्धान्त और उसकी शिक्षा में ईसाई-मत के सिद्धान्तों और उसकी शिक्षाओं से इतने अधिक मिलते-जुलते हैं कि बहुत दिनों से इन दोनों मतों के मध्य में कोई सम्बन्ध होने का सन्देह किया जा रहा है।"

यूनान में बौद्ध-मत की शिक्षा ईसा के जन्म से बहुत पूर्व ही पहुँच चुकी थी सम्राट् अशोक के गिरनार के शिलालेख से ज्ञात होता है कि बौद्ध-प्रचारक "सीरिया" देश में प्रचारार्थ भेजे गये थे। प्रसिद्ध रोमन ऐतिहासिक Pliny the Naturalist पैलेस्टाइन में ईसा से एक शताब्दी पूर्व "ऐसेनैस" (Essenes) नामक सम्प्रदाय का उल्लेख करता है। खोज से ज्ञात हुआ है कि यह समुदाय एक बौद्ध-शाखा स्वरूप ही था।

[देखिये Historia Naturalis, Vol V. P. 17, Quoted in R. L. C. Dutts ancient India Vol. II P. II P. 337]

श्री रमेशचन्द्र दत्त का यह कथन है कि कुछ नरम ईसाई इस बात को स्वीकार करते हैं कि सीरिया बौद्ध-मत का सहायक और अगवा बना, जिसका प्रचार ईसा ने दो शताब्दियों के पश्चात् किया। [Ancient India Vol II. 633]

ईसा के उपदेशों, दृष्टान्तों और प्रचारशैली की बौद्ध-मत के उपदेशों, दृष्टान्तों और उसकी प्रचार-शैली से विस्तार पूर्वक तुलना करके श्री दत्त महोदय ने दोनों मतों की समानता दिखाई है।

खुदा और शैतान का सिद्धान्त यहूदियों; ईसाइयों और मुसलमानों में एक से ही रूप में माना जाता है। यहूदियों और ईसाइयों तथा मुसलमानों के महापुरुष अर्थात् पैगम्बर आदि भी सब पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्राय: समान ही हैं। जब मुहम्मद साहेब ने अपने मत का प्रचार किया तब उन्होंने यहूदियों और ईसाइयों के सभी पैगम्बरों को भी मान्य ठहराया था। उनके आदेशानुसार मुसलमान ईसा को भी अपना महापुरुष मानते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति, स्वर्ग और नरक,

पैगम्बर पर विश्वास, फरिश्ते, कर्म-फल, पैगम्बर की शिफारिश स्वर्ग की प्राप्ति, कियामत का होना, इन्साफ का दिन, मुरदों का कबरों से जी उठना, कयामत से पहिले एक विशेष नबी के आने की भविष्य वाणी पर विश्वास, ये सब बातें यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानों में लगभग एक से ही रूप में मानी जाती हैं।

थोड़े से भेद की बातें ये हैं कि ईसाइयों का खुदा चौथे आसमान पर रहता है, मुसलमानों का खुदा सातवें आसमान पर। इन्साफ के दिन यहूदियों की सिफारिश दाऊद, लूत, इब्राहीम, मूसा आदि करेंगे, इसाइयों की ईसा और मुसलमानों की। मुहम्मदा यहूदी तौरेत और जबूर को धर्म ग्रंथ स्वीकारते हैं, जो कि प्राचीन धर्म पुस्तक में शामिल हैं। ईसाइयों ने नई धर्म पुस्तक की वृद्धि की है। मुसलमानों के लिये पुराने धर्म-ग्रंथ त्याज्य हैं, कुरान मान्य है। ईसाई पिता, पुत्र और पवित्रात्मा तीन खुदाओं का विशेष सिद्धान्त मानते हैं। यह त्रैतवाद का न समझा हुआ-सा रूप है। उपासना पद्धति के भेद साधारण हैं।

विद्वानों ने संसार में प्रचलित मत-मतान्तरों को समेटिक और हेमेटिक दो प्रधान वर्गों में बाँटा है। कहते हैं कि हजरत इब्राहीम के दो पुत्र थे, साम और हाम ! समेटिक मत साम के अनुयाइयों के हैं और हेमेटिक हाम के पक्षपातियों के। यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानों की गणना सेमेटिक मतों में की जाती है।

प्राचीन धर्म पुस्तक में जिन पैगम्बरों और राजाओं आदि के वृतान्त हैं, उनका उल्लेख यहाँ करना कठिन है। यदि परपक्व विचारों के लोग उसे पढ़ना चाहें तो पढ़लें; परन्तु स्मरण रहे प्राचीन-धर्म पुस्तक में ऐसे अनेक स्थल हैं, जिनके पाठ से स्त्रियों और बच्चों के कोमल मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव हुए बिना न रहेगा। नग्न-काम-क्रीड़ाओं की कहानियाँ, सृष्टि-क्रम और विद्या एवं विज्ञान से विपरीत बातें, अन्धविश्वास पूर्ण किस्से, साम्प्रदायिक संकीर्णताओं और राग-द्वेष से पूर्ण नियम और, रूखे-सूखे रूढ़ीवादी कर्म-काण्ड के ढकोसले पढ़-पढ़ कर किसी का क्या भला होगा ?

ईसा के बलिदान के पश्चात् जनता में जो उत्साह जागा, उसके परिणाम-स्वरूप ईसाई मत ने बहुत उन्नति की। ईसाई प्रचारकों पर अत्याचार होते रहे बहुत से प्रचारक निर्दयता-पूर्वक वरोधकों के हाथों मारे गये; परन्तु ईसाई

मत का प्रचार अधिकाधिक बढ़ता गया। समय आया, जब ईसाई मत के बड़े-बड़े मठ स्थापित हुए। सबसे बड़े मठाधीश को "पोप" की पदवी देकर ईश्वर और ईसा का उत्तराधिकारी, तारण-तार, राजाओं का भी राजा और धरती पर ईश्वर का नायब ठहराया गया।

राजनीति के सब दाव-पेंच और सन्धि विग्रह की सम्पूर्ण शक्तियाँ पोप की मुट्ठी में आ गईं। ऐश्वर्य बढ़ा, अधिकार बढ़ा, सुख-सुविधायें बढ़ीं तो पापाचार और प्रमाद भी बढ़ा। धर्म की आड़ में भारी अनाचार फैल गया। उस सम्पूर्ण अनर्थ के विरोध में समय-समय पर कई आन्दोलन उठे और वे ईसाई मत के ही अन्तर्गत नये-नये सम्प्रदायों का रूप धारण करते चले गये; परन्तु उस पाखण्ड का भाण्ड-फोड़ करने का श्रेय जिस महात्मा ने प्राप्त किया, उसका नाम "मार्टिन लूथर" है। उसका आन्दोलन ईसाई-मत के इतिहास में अपना विशेष स्थान रखता है। लूथर के आन्दोलन के परिणामस्वरूप ईसाइयों के दो मुख्य भेद हो गये हैं।

१—सनातनी-ईसाई, जो कि रोमन कैथोलिक कहलाते हैं, मूर्त्ति-पूजा करते हैं, प्राचीन धर्म-पुस्तक और नई धर्म-पुस्तक दोनों को ही प्रमाण मानते हैं ये लोग बहुत कट्टर, रूढ़ीवादी और प्रतिक्रियागामी होते हैं। इनके प्रधान आचार्य को आजकल भी "पोप" कहा जाता है। जो कि रोम में रहता है। हिन्दुओं के शंकराचार्य के समान ही पोप की गद्दी और परम्परा चली आ रही है। एक "पोप" जब तक जीवित रहता है, वह दुनिया में ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है। जब वह मर जाता है, तब नया पोप ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है। इस प्रकार यह सिलसिला आगे चलता रहता है।

मार्टिन लूथर के आन्दोलन से पहिले पोप का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया था। पोप को ईसाई-राज्यों का सर्वोपरि शासक माना जाता था। पोप ने विभिन्न स्थानों में अपने एजेंट रख छोड़े थे, और वे सुसंगठित रूप में पापों के "क्षमा-पत्रों" तथा "स्वर्ग में स्थान आदि की सुरक्षा पत्रों" का व्यापार बड़े ठाठ से करते थे, जैसे कि आजकल जीवन बीमा कम्पनियों के कारोबार होते हैं। लोग बड़ी-बड़ी धन-राशियों के बदले में स्वर्ग के सामान अपने लिए सुरक्षित करवा कर लुटते थे और भीषणतम अपराधों के क्षमा-पत्र पोप या उसके एजेण्टों को धन देकर प्राप्त कर लेते थे और फिर पाप करते थे।

२—ईसाइयों का दूसरा वर्ग महात्मा मार्टिन लूथर का अनुयायी है। इस वर्ग को "प्रोटेस्टेण्ट" कहते हैं। प्रोटेस्टेण्ट कहने का कारण यह है कि इन लोगों ने ईसाई मत के पुराने और रूढ़ीवादी मत का प्रतिरोध (Protest) किया था। कुछ लोग इस वर्ग को ताने के रूप में "लूथरन" भी कहते हैं। क्योंकि इस सुधारवादी वर्ग का प्रवर्त्तक "लूथर" ही है। ये लोग बुद्धिवादी और आधुनिकता प्रेमी होते हैं। ये मूर्ति पूजा को त्याज्य मानते हैं। और नई धर्म पुस्तक को ही अधिक महत्त्व देते हैं। प्राचीन धर्म-पुस्तक को ये अधिक महत्त्व नहीं देते।

यूरोप के इतिहास में एक लम्बा समय "अन्धकार-युग" (Dark Age) के नाम से प्रसिद्ध है। यह समय ईसा की दसवीं शताब्दी से सतरहवीं शताब्दी तक समझा जाता है। इस काल में तथाकथित धार्मिकों के हाथों भौतिक विज्ञान-वेत्ताओं, भू-गोल वेत्ताओं, ख-गोल (ज्योतिष) वेत्ताओं और आविष्कार पर जो-जो भीषणतम अत्याचार किये थे। और धार्मिक मतभेद के आधार पर रोमन कैथोलिकों ने प्रोटेस्टेण्टों पर, और प्रोटेस्टेण्टों ने रोबन कैथोलिकों पर जो-जो जुल्म ढाये थे, उनका उदाहरण संसार के किसी भी इतिहास में नहीं है धर्म के नाम पर स्वार्थ पूर्ति और राज्य-सत्ता को हस्तगत करने के लिए होने वाले इन दीर्घ-कालव्यापी झगड़ों के कारण यूरोपीय देशों में धर्म का विद्रोह होने लगा है और धर्म को अफीम बताकर त्याज्य कहा जाता है।

सच हैं—

खुदा के बन्दों को देखकर ही,
खुदा से मुन्किर हुई है दुनिया।
कि ऐसे बन्दे हैं जिस खुदाके,
वह कोई अच्छा खुदा नहीं है॥

श्री चन्द्रराज भण्डारी ने अपने सुप्रसिद्ध और विशालकाय ग्रन्थ "समाज-विज्ञान" में इस विषय का कुछ विवरण दिया है—

"इन्क्वीजीशन एक प्रकार की धार्मिक अदालत थी। इसमें न्याय-आसन पर पादरी लोग काम करते थे। इस अदालत के निर्णय पर किसी प्रकार की अपील न थी। जो लोग रोमन कैथोलिक धर्म को नहीं मानते थे, उसमें

अविश्वास करते थे, या उसके विधानों में किसी प्रकार की शंका करते थे, या पोप की आज्ञाओं का उल्लंघन करते थे, वे अपराधी करार दिये जाकर इस अदालत में विचार के लिए पेश किये जाते थे। पादरी लोग उनके लिये दण्ड की व्यवस्था देते थे। इस अदालत के विधान के अनुसार थोड़ा-सा सन्देह होते ही मनुष्य को गिरफ्तार कर लिया जाता था, और जब तक वह अपराध स्वीकार न करे, तब तक नाना प्रकार की यन्त्रणाओं के द्वारा सताया जाता था।"

"इस प्रकार यन्त्रणायें पहुँचाने के लिए कई यन्त्र भी तैयार किये गये थे। इन में "रैक" "कालर आफ टारचर" 'स्कैवेंजर्स राटर" नामक यन्त्र बहुत प्रसिद्ध थे। इन यन्त्रों में अपराधी को चाहे वह नवयुवक, वृद्ध या कोमलांगी युवती ही क्यों न हो—नंगा करके फँसा दिया जाता था। और फिर इन्हीं के द्वारा उसे भीषण यन्त्रणा दी जाती थी। "रैक" अभियुक्तों के अंगों को खींचने का एक यन्त्र था। इस यन्त्र द्वारा अभियुक्त की उंगलियाँ' हाथ, पैर तथा अन्य अंग खींचे जाते थे। कभी इस खिचाव में आकर ये अंग उखड़ भी जाते थे। इससे मनुष्य को भीषण यन्त्रणा होती थी। "कालर आफ टारचर" एक दूसरा भीषण यन्त्र था। इसमें एक कालर रहता था, जिसमें सैंकड़ों सुइयाँ लगी रहती थीं यह कालर अविश्वासियों के गले में लगाया जाता था, जिसमें वे लोग अपनी गर्दन इधर-उधर नहीं हिला सकते थे। इधर-उधर हिलाते ही वे सुइयां उसको चुभने लगती थीं। अन्त में कुछ समय बाद उसकी गर्दन सूज जाती थी और वह मौत का मेहमान हो जाता था।"

"इसी प्रकार "स्कैवेंजर्स राटर" एक कैंची की तरह होता था। इसमें अपराधी के हाथ, पैर और सिर का कसने के अलग-अलग खांचे बने होते थे। इस यन्त्र में अपराधी के हाथ, पांव और सिर फँसा कर कस दिये जाते थे, जिससे वह जैसे का तैसा जड़-वस्तु की तरह कर जाता था। अन्त में उसके हाथ-पैर जीवन-शक्ति-हीन हो जाते थे। कई लोग तो इसी में बड़े कष्ट के साथ अपने जीवन का अन्त कर देते थे।"

"इन भीषण यन्त्रणाओं से दुःखी होकर अपराधी और बहुत-से निरपराधी भी अपराधों को स्वीकार कर लेते थे। बस, स्वीकार करते ही वे लोग

"स्टेक" से बान्ध कर जीते-ही जला दिये जाते थे। यहां पर यह बतला देना आवश्यक है कि अपराध को सिद्ध करने के लिये केवल दो गवाहों का बयान काफी समझा जाता था।"

"इन्क्वीजीशन से सजा पाए हुए मनुष्य एक-एक करके नहीं जलाये जाते थे, बल्कि बहुत से इकट्ठे हो जाने पर एक साथ जला दिये जाते थे। जो दिन इनको जलाने के लिए निश्चित होता था, उस दिन सब लोग त्यौहार मनाते थे। स्वयं बादशाह भी ठाठ-बाट के साथ इस अवसर पर उपस्थित होते थे। सब कैदियों के बदन पर एक पीले रंग का अंगरखा रहता था। इस वस्त्र पर भूत-प्रेत आदि के वीभत्स चित्र बने हुए रहते थे। उनके सिर पर त्रिकोणाकार बहुत ऊंची टोटी लगी हुई रहती थी। नियत स्थान पर पहुँच जाने पर सब अपराधियों की जिह्वायें कस कर बाँध दी जाती थीं। इसके पश्चात् नाना व्यंजनों से भरे हुए थाल उनके सामने लाये जाते थे। और उन्हें व्यंग्य पूर्वक जठराग्नि शान्त करने के लिए कहा जाता था। इसके पश्चात् प्रधान पादरी का भाषण होता था। जिसमें वह इन कैदियों को जी भर कर गालियाँ देता था। अनन्तर वे सब एक चबूतरे पर चढ़ाये जाते थे, जहाँ जल्लाद उन्हें धधकती हुई अग्नि में डालने के लिये प्रस्तुत रहते थे। जो अपराधी अन्तिम समय तक अपने विचारों पर दृढ़ रहते थे, वे तो जिन्दा ही आग में फेंक दिये जाते थे। मगर जो इन भीषण यन्त्रणाओं से घबरा कर अपने दोष को स्वीकार कर लेते थे, उन्हें पहिले गला दबाकर मार डाला जाता था, और तब उनका शव आग में फेंक दिया जाता था।"

"जो लोग "बाइबिल" को किसी भी भाषा में पढ़ लेते, जो लोग पोप की आज्ञाओं में किसी प्रकार भी तर्क-वितर्क कर लेते थे, अथवा जो गिरजे में न जाकर घर पर ही ईश्वर की आराधना कर लेते थे, वे सब अभागे इसी प्रकार कत्ल किये जाते थे। एक मनुष्य ने कुछ धार्मिक भजनों की नकल करली थी। इसी अपराध में उस का सिर तलवार से टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया।"

"ये सब अत्याचार पवित्र ईसाई-धर्म के नाम पर हुए बताए जाते हैं। अपने पहले ही वर्ष में इस अदालत ने केवल एक प्रान्त में दो हजार यहूदियों को "स्टेक" से बाँध कर जला दिया। इसके अतिरिक्त इसके भय से भयभीत

होकर हजारों यहूदियों ने स्वयं ही आत्म-घात कर लिया। लौण्डी का कथन है कि अकेले टौर्की-तेडा नामक राजा ने अपने राजत्व-काल के अठारह वर्षों में एक लाख चौदह हजार चार सौ एक मनुष्यों का सर्वनाश किया। इसके अतिरिक्त चार्लस पंचम के राजत्व-काल में एक लाख से अधिक अविश्वासियों को प्राण-दण्ड दिया गया। मतलब यह है कि इस 'इन्क्वीजीशन' से तथा ईसाई सम्प्रदाय के पारस्परिक कलह के द्वारा एक करोड़ से अधिक मनुष्यों की मृत्यु हुई। इसके अतिरिक्त इस बलि-वेदी पर अप्रत्यक्ष रूप से कितनी जानें दी गई होंगी, इसका कौन अन्दाज कर सकता है?"

[समाज-विज्ञान, पृष्ठ २७२ से २७३]

लन्दन का सर्व प्रथम आर्च-बिशप क्रेनमर, जिसने पोप से सम्बन्ध विच्छेद करने पर हेनरी आठवें की ओर से रानी मेरी को दिये गये तलाक के अनुकूल स्वीकृति देकर हैनरी के लिये नई शादी का मार्ग खोल दिया था, और उसके दो साथी पादरी "रैंडले" और "लेटीमर" तथा और भी बहुत से प्राटेस्टेण्ट ईसाई, रोमन कैथोलिकों के हाथों जीवित ही जलाये गये थे।

एक अभागा लेखक

पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि संसार में जिस सर्व प्रथम पुस्तक के मुद्रण और प्रकाशन को निषिद्ध घोषित किया गया था, जिस पुस्तक के सम्पूर्ण मुद्रित संस्करण को जला कर नष्ट किया गया था। और जिसके लेखक को भीषणतम शारीरिक यातनायें देकर, अन्त में दण्ड-स्वरूप जीवित जलाकर समाप्त कर दिया गया था वह ईसाईयों के धर्म-ग्रन्थ बाईबिल का वह भाग है, जो कि नई धर्म-पुस्तक कहलाता है। वह पुस्तक नई धर्म-पुस्तक का अंग्रेजी-भाषा में अनुवाद था। यह घटना इग्लैंड में हैनरी आठवें के राज्य-काल में घटित हुई थी।

सन् १५२५ ई० में एक लेखक ने बड़े परिश्रम से नई धर्म-पुस्तक का अंग्रेजी भाषानुवाद तैयार किया और उस को पुस्तक रूप में मुद्रित करवाया। पुस्तक तैयार होने पर प्रकाशन के साथ ही उसकी एक प्रति कैण्टरबरी के धर्माचार्य [डीन] की सेवा में प्रेषित की गई। उस महान लेखक का नाम था, विलियम टाण्डले।

उस समय के धार्मिक नियमों के अनुसार जन-साधारण को धार्मिक ग्रन्थों के मुद्रण, प्रकाशन और विक्रय का अधिकार न था। आज तो विलियम टाण्डले का वह ग्रन्थ अंग्रेजी भाषा का सबसे अधिक प्रचारित धर्म ग्रन्थ है; परन्तु उसके प्रथम मुद्रण के अवसर पर ईसाई धर्म-संघ ने उसका प्रबल विरोध किया था। राज्य की ओर से विलियम टाण्डले को गिरफ्तार करने के आदेश जारी किये गए थे और वह प्रथम संस्करण जप्त किया गया था।

इससे पूर्व कि विलियम टाण्डले पकड़ा जाता, वह भाग कर बेलजियम चला गया। बेलजियम में भी कानून के लम्बे हाथों ने उसे जा पकड़ा। धर्म की अदालत ने विलियम टाण्डले को मौत की सजा दी। अपनी प्रकाशित की हुई पुस्तकों के ढेर पर उस अभागे लेखक को बैठाया गया और जला दिया गया।

गेलेलियो गणित का एक महान प्रोफेसर था। उसने दूरवीक्षण-यन्त्र बनाया। कई नक्षत्रों का पता लगाया, बहुत से आविष्कार किये। उसको जादूगर बताकर तथाकथित धार्मिकों ने जेल में सड़ाया। वृद्धावस्था में गेलेलियो को भारी कष्ट उठाने पड़े।

ज्यार्डेनो ब्रुनो भूगोल विद्या का एक महान् पण्डित था। उसने वे सब युक्तियां प्रस्तुत कीं जिन से जमीन का नारंगी के समान गोल होना सिद्ध होता है। उस समय तो ईसाई-मत के अनुसार जमीन को चटाई की तरह चपटी ही माना जाता था। ज्यार्डेनो पकड़ा गया और जीते जी आग में झोंक दिया गया।

हाई पेशिया एक देवी थी, बहुत बिदुषी। वह बाजारों में सदाचार के उपदेश देती थी। बाईबिल के विरोधी में प्रचार करने का आरोप लगाकर पोप पाल के नौकर उसे पकड़कर ले गये। वह नंगी की गई। उसके शरीर में सूइयां चुभोई गईं। फिर उसे भी आग में झोंक कर मारा गया।

देवी जोन आफ आर्क एक देश-भक्त वीर महिला थी। उसको जादूगरनी बताकर पकड़ा गया। भारी कष्ट दिये गये। फिर उसे भी अग्नि-कुण्ड में झोंक दिया गया। फ्रांस, इटली, जर्मनी, इंग्लैण्ड सभी देशों में उन दिनों ये पाप-कर्म होते रहे।

ईश्वर न करे कि भारत में ईसाई-मत फैले और यहां पर भी अन्धकार-युग का पुनरावर्तन हो। भारत में भी रोमन कैथोलिक अपनी-अपनी शक्ति बढ़ाने

में लगे हुए हैं। विदेशों से रुपया आ रहा है, और विदेशी प्रचारकों की बड़ी-बड़ी सेनायें भारत को ईसाई-मत में रंगने का सिर तोड़ प्रयत्न कर रही हैं। भारत में ईसाई-मत के आगमन और प्रसार का वृत्तान्त संक्षेप में देखें।

ईसाइयों ने १५ वीं शताब्दी में व्यापार के लिये भारत में आना आरम्भ किया था। पहिले पहल पुर्तगाल के निवासी यहां आये। वे कट्टर ईसाई-मत के प्रचार में जुट गये। उनकी प्रति स्पर्धा में यूरोप के अन्य देशों के वासियों ने भी यहां आना शुरू किया। एक सौ वर्ष पीछे सामुद्रिक व्यापार की सारी शक्ति डचों तथा अन्य विदेशियों के हाथ में आ गई। पीछे चल कर अंग्रेजों और फ्रेंचों ने अपनी चतुराई से अन्य सभी को यहां से निकाल दिया और भारत का राज-तन्त्र भी अपने आधीन कर लिया।

पुर्तगाल वालों ने भारत में ईसाई-मत के प्रचारार्थ गोआ, मालावार और बम्बई के इलाकों में भारी जोर-जुल्म भी किया था। परन्तु इसके बाद के अधिकांश प्रचार में शिक्षा, सेवा, प्रलोभन, शादी, कर्ज, चिकित्सा और कूटनीति के साधन अपनाये गये। हस्पतालों, अनाथालयों, स्कूलों, अबला-आश्रमों और सहकारी बैंकों एवं छापेखानों की जोरदार व्यवस्थायें की गई। ये ही साधन आज भी भारत को ईसाई बनाने के लिए काम में लाए जा रहे हैं। भारत को ईसाई बनाने का काम अंग्रेजों के लिए राज्य में वायसराय के आधीन था। सन् १९३५ ई० के भारतीय नव-विधान में भी ईसाई-मत-प्रचार का विभाग वायसराये के आधीन रख गया था। व्यवस्था परिषदों तथा प्रान्तीय मन्त्रि-मण्डलों का इस विषय में कुछ भी दखल न था। अंग्रेजी राज्य के अन्त के साथ ही भारत में से विदेशी ईसाई-मतप्रचारकों के कदम उखड़ गये थे और उन्होंने अपनी जायदादें बेच कर भागना शुरू कर दिया था; परन्तु भारत के तथा कथित सैक्यूलर वाद के दूषित सिद्धान्त ने उनके उखड़े हुए पांव यहां फिर जमा दिये हैं।

अब यह एक प्रकट सत्य है कि भारत में ईसाई-मत का प्रचार अन्य कारणों से उतना नहीं किया जा रहा, जितना कि राजनैतिक कारणों से। भारत में ईसाई-मतप्रचार की प्रगतियों का सूत्र-संचालन और नीति-निर्धारण विदेशों में बैठे हुए बड़े-बड़े कूटनीतिज्ञ ही करते हैं, जिन की पीठ पर बड़ी-बड़ी ईसाई सरकारें हैं।

*

इस्लाम का सच्चा रूप

पं० हरिदेव "सिद्धान्त भूषण"

o o o

घृणा, द्वेष और खूँरेजी के बल पर इस्लाम संसार में फैला और आज भी उसके अनुयायी अन्य विचारों को सहने के लिए तैयार नहीं। मूर्ति-पूजा के विरोध के लिए पराकाष्ठा की भावना रखते हुए भी उसके अनुयायी पैगम्बर के चिह्नों की पूजा उन्माद की स्थिति तक करते हैं। वस्तुतः मानवता, सत्य और शाँति के लिए इस्लाम सदा संकट का कारण रहा है और रहेगा। ऋषि ने 'सत्य' भाव प्रकट करने के लिए ही अपने विचार चौदहवें समुल्लास में प्रकट किए हैं। उन्हीं के आधार पर लेखक ने श्रम पूर्वक लेख प्रस्तुत किया है।

अगर हमें सत्य का कुछ भी आभास हृदयंगम हुआ तो परिश्रम सफल होगा। हमारा विचार किसी का दिल दुखाना नहीं, किन्तु उन्हें सन्मार्ग पर लाना है।

—सम्पादक

o o o

इस्लाम मत के संस्थापक

हज़रत मुहम्मद का जन्म २० अप्रैल सन् ५७१ ई० को अरब के मक्के शहर की कुरैश कौम में हुआ, दादा ने मुहम्मद और मां ने अहमद नाम रखा। उनके पूर्वज का नाम अब्दमनाफ था, अब्दमनाफ से हाशिम, हाशिम से अब्दुलमतलब, अब्दुलमतलब से अब्दुल्ला और अब्दुल्ला से हज़रत मुहम्मद पैदा हुए थे। उनकी माता का नाम आमना था। उनके दादा अब्दुलमतलब काबे के मन्दिर के पुजारी थे और उन्हें हाशमी कहते थे, इसलिए ह० मुहम्मद साहिब को भी हाशमी कहते हैं। हज़रत मुहम्मद माता के गर्भ में ही थे कि उनके पिता का देहान्त हो गया। जब छः वर्ष के हुए तो माता का भी देहान्त हो गया और उनके पालन पोषण का भार उनके दादा जी पर आ पड़ा। दो वर्ष के बाद उनका भी देहावसान हो गया, उसके पश्चात उनके चचा अबूतालिब ने उनका पालन-पोषण अपने पुत्रों के समान किया। हज़रत मुहम्मद साहिब २२, २३ वर्ष तक अपने चचा की भेड़, बकरियां चराने में लगे रहे। उनके पढ़ाने लिखाने की ओर किसी ने ध्यान न दिया और इस प्रकार वह अनपढ़ ही रह गये इसलिए मुसलमान उन्हें (उम्मी) कहते हैं। इसके पश्चात् हज़रत मुहम्मद साहिब ने श्रीमती खदीजा के यहां नौकरी करली। वह मक्के शहर की प्रसिद्ध धनी व्यापारिन थी, वह दो बार बेवा हो चुकी थी, और कई बच्चों की मां थी। वह अरब में ताहिरा नाम से प्रसिद्ध थी, पहले-पहल हज़रत मुहम्मद साहिब उसकी भेड़ बकरियां चराते रहे, वह उनके काम से अति प्रसन्न थीं। इसलिए बाद में वह उन्हें सामान देकर काफिलों के साथ दूसरे देशों में व्यापार के लिए भेजने लगीं, इससे उन को, शाम, बसरा, यमन आदि देशों में जाने और उनके रीति-रिवाजों को जानने का सुअवसर मिला।

हजरत मुहम्मद बड़े बुद्धिमान, अत्यन्त ईमानदार, चतुर और दूरदर्शी थे। इसलिए ४० वर्ष की आयु में श्रीमती खदीजा ने प्रसन्नता पूर्वक हज़रत मुहम्मद साहिब से निकाह कर लिया जब कि वह २५ वर्ष के थे, और अपना सारा धन माल खदीजा ने अपने शौहर के हवाले कर दिया, और व्यापार का कार्य भी जारी रखा। जब तक खदीजा माई जीवित रहीं तब तक ह० मुहम्मद ने कोई दूसरा विवाह नहीं किया किन्तु उसके मरने के पश्चात् उन्होंने कई विवाह किये। जिनकी संख्या कईयों के मत में १३, कईयों के ११ और कईयों के मत में ९ है। सबसे छोटी बीबी श्रीमती आयशा थीं। यह अबूबक्र की बेटी और हज़रत मुहम्मद की खानदानी भतीजी थी, जब यह निकाह हुआ तब हज़रत मुहम्मद की आयु ५० वर्ष और आयशा की आयु छः वर्ष थी जब ये ९ वर्ष की थीं तब यह विदा होकर पति के घर में आगई थी। यही कुँवारी बीबी थी, शेष सब जिनके साथ हज़रत मुहम्मद के निकाह हुए विधवा थीं। हज़रत मुहम्मद के तीन बेटे, कासिम, अबदुल्ला और इब्राहीम थे, चार बेटियाँ जैनब, रूकय्या, उम्मे, कलसूम, और फातमा थीं। इब्राहीम को छोड़कर शेष सब सन्तानें श्रीमती खदीजा से उत्पन्न हुई थीं, लड़के तो अल्पायु में ही काल का ग्रास हो गये, किन्तु बेटियाँ जीवित रहीं। उम्मे, कलसूम का निकाह हज़रत उस्मान से और फातमा का हज़रतअली से हुआ था शेष दोनों का दूसरे लोगों से। ह: हसन् और हुसैन फातमा के ही बेटे थे हज़रत मुहम्मद साहिब के पहले तीन वर्ष के प्रचार में केवल चार मुसलमान बने। श्रीमती खदीजा, जैद, अबूबक्र और अली इसके पश्चात् भी उन्होंने कई वर्ष प्रचार लिया किन्तु सफलता न मिली। केवल ४० व्यक्तियों ने ईश्वर का नबी और पैगम्बर माना और ईमान लाये। शत्रुओं और विरोधियों से तंग होकर १२ सितम्बर सन् ६२२ ई० की रात को हज़रत मुहम्मद चुपके से मक्का छोड़कर मदीने चले गये। उन्होंने मुसलमानों को पहले ही मदीना भेज दिया था। विरोधियों ने पीछा किया किन्तु वे उन्हें कत्ल करने में असफल रहे। हजरत मुहम्मद साहिब ने अपने जीवन में २७ प्रसिद्ध लड़ाईयाँ लड़ीं और ८१ छोटी-मोटी, जिनमें सेना लड़ी ह: मुहम्मद पर्याप्त दुःख कष्ट और रोग भोगने के पश्चात् अन्त में बीबी आयशा की रान पर सिर रखे सन् ११

हिजरी में ६३ वर्ष की आयु में असार संसार से विदा हुए और मदीने में दफनाये गये । इनकी मृत्यु के वा जन्म के समय में थोड़ा बहुत मतभेद है ।

हज़रत मुहम्मद साहिब के बारे में मुसलमानों का विश्वास

(१) मुसलमान ऐसा मानते हैं कि हः आदम से लेकर हः मुहम्मद तक बहुत से नबी-रसूल, और पैगम्बर आये । किन्तु हः मुहम्मद अन्तिम नबी, रसूल और पैगम्बर हैं । उनके पश्चात् कोई नबी, रसूल या पैगम्बर संसार में नहीं आयगा । उनके पश्चात् जो अपने आप को नबी, रसूल या पैगम्बर कहेगा वह झूठा समझा जायगा ।

(२) दूसरा, ईश्वर को छोड़कर हः मुहम्मद समस्त नबियों, रसूलों वा पैगम्बरों तथा मनुष्यों में सबसे उत्तम हैं ।

(३) ईश्वर ने उन्हें शबेमेराज में आकाश पर भेंट के लिए बुलाया था । आकाश पर उन्हें स्वर्ग, नरक की सैर कराई गई थी ।

(४) वह हिसाब के दिन ईश्वराज्ञा से अपने मतवालों की सिफारिश करेंगे और खुदा उसे स्वीकार करेगा ।

(५) हः मुहम्मद पर यकीन, उनके प्रति प्रेम, श्रद्धा और सन्मान प्रत्येक मुसलमान का पहला कर्त्तव्य है ।

इस्लाम के सिद्धान्त वा मान्यतायें

(१) एक ईश्वर उपास्य देव है और भला बुरा सब उसके हाथ है ।

(२) हजरत मुहम्मद साहिब उसके रसूल हैं, उनकी सिफारिश से ही जन्नत दोजख अर्थात् स्वर्ग नरक मिलेगा ।

(३) कुरान खुदा का कलाम अर्थात् ईश्वरीय वाक्य है ।

(४) कुन कचकून अर्थात् खुदा कहता है हो जा और सब सृष्टि वा उसके पदार्थ बन जाते हैं ।

(५) फरिश्तों को मानना और शैतान से बचना ।

(६) स्वर्ग नरक पर विश्वास रखना और उसमें हुए गिलमान का मिलना ।

(७) हलाल—हराम को मानना-हलाल का ग्रहण और हराम को त्याज्य समझना ।

(८) करामात वा चमत्कार का मानना ।
(९) जिन्नों का होना वा दूसरों को कष्टादि पहुँचाना ।
(१०) काफिरों को कत्ल करना और उनका धन माल सब छीन लेना ।
(११) कुरबाणी अर्थात् पशुवध करना ।
(१२) खतना करना ।
(१३) तोबा से पाप क्षमा होना ।
(१४) दिन में पाँच बार मक्का की ओर मुंह करके नमाज पढ़ना ।
(१५) कयामत के दिन मुर्दों का उठना और मानव के विरुद्ध उसके अंगों का साक्ष्य देना ।
(१६) मक्का का हज करना और संगेअसवद (काले पत्थर) को चूमना ।
(१७) केवल मुसलमानों को स्वर्ग मिलेगा किसी और को नहीं ।
(१८) वर्ष में एक मास रोजा रखना, आमदनी का चालीसवाँ भाग दान देना
(१९) तलवार से अथवा प्रलोभन से जैसे भी हो अपने मत का प्रसार करना
(२०) मूर्ति का पूजना ही नहीं वरन् उसका बनाना भी पाप है ।
(२१) चार स्त्रियों तक विवाह करना और विवाह विच्छेद का मानना ।
(२२) १२४००० नबियों को मानना ।
(२३) १०४ पुस्तकों को ईश्वरीय मानना ।
(२४) १८००० योनियों का मानना परन्तु पुर्नजन्म न मानना आदि, आदि इसलाम के सिद्धान्त वा मान्यतायें हैं आगे इन्हीं में से कुछ सिद्धान्तों की सत्यार्थ प्रकाश के आधार पर हम समीक्षा करेंगे ।

खुदा

पूर्वपक्ष—सब स्तुति परमेश्वर के वास्ते है जो परवरदिगार अर्थात् पालक है सब संसार का क्षमा करने वाला दयालु है ।। सूरत १ आयत १—२

समीक्षा—जो कुरान का खुदा संसार का पालक होता और सब पर दया वा क्षमा करने वाला होता तो अन्य मतावलम्बियों वा पशुओं को मुसलमानों के हाथ से मरवाने का हुक्म न देता । जो क्षमा करने वाला है तो क्या पापियों को भी क्षमा करेगा । पुनः काफिरों के कत्ल का आदेश क्यों दिया ? क्योंकि जो कुरान वा पैगम्बर को न मानें वे काफिर हैं ।

पूर्वपक्ष—वह मालिक है दिन न्याय के का ।। सूरत—आयत ७

समीक्षा—क्या वह एक दिन ही न्याय करता है, सदा नहीं ? इससे तो अंधेर प्रतीत होता है।

पूर्वपक्ष—खुदा ने उनके दिलों, कानों वा आँखों पर मोहर कर दी है, उनके वास्ते बड़ा अजाब है ।। सूरत २ आयत ७

समीक्षा—जो खुदा ही उनके अतःकरण, कानों वा आंखों पर मोहर लगाता और इसी कारण वे पाप करते हैं। तो उनका क्या दोष ? यह दोष खुदा का ही है। पुनः उनको सुख-दुख, पाप-पुण्य, का फल भी नहीं होना चाहिए क्योंकि उन्होंने पाप पुण्य स्वतन्त्रता से नहीं अपितु पराधीनता से किये हैं।

पूर्वपक्ष—उनके दिलों में रोग है। अल्लाह ने उनके रोग को बढ़ा दिया ।। सूरत २ आयत १०

समीक्षा—बिना अपराध अल्लाह ने उनका रोग बढ़ा दिया। उसे दया न आई। उन बेचारों को बड़ा दुःख हुआ होगा। क्या यह शैतान से बढ़ कर शैतानियत का काम नहीं। किसी के मन पर मोहर लगाना, किसी का रोग बढ़ाना खुदा का काम नहीं, अपितु अपने पापों का फल है।

पूर्वपक्ष—आदम को सारे नाम सिखाये। फिर फरिश्तों के सन्मुख कर कहा। जो तुम हो तो मुझे उनके नाम बताओ ।। कहा ऐ आदम, उनके नाम बतादे। तब उसने बता दिये। तो खुदा ने फरिशतों से कहा कि क्या मैंने तुम से नहीं कहा था निश्चय मैं पृथिवी और आसमान की छिपी वस्तुओं को और प्रकट था छिपे कर्मों को जानता हूँ ।। सूरत २ आयत ३१।३३

समीक्षा—फरिश्तों को धोखा देकर अपनी बड़ाई करना यह खुदा का काम नहीं अपितु दम्भ है। इसको कोई बुद्धिमान नहीं मान सकता। ऐसी बातों से जंगली लोगों में पाखण्ड चल सकता है, विद्वानों में नहीं।

पर्वपक्ष—हमने कहा कि ओ आदम, तू और तेरी जोरू बहिश्त में रहकर आनन्द से जहाँ चाहो मौज करो। परन्तु मत समीप जाओ इस वृक्ष के, पापी हो जाओगे ।। शैतान ने उनको फुसलाया और उनको बहिश्त के आनन्द से खो दिया ।। तब हमने कहा कि उतरो। तुम्हारे में कोई परस्पर शत्रु है। तुम्हारा ठिकाना जमीन है। आदम अपने मालिक की कुछ बातें सीखकर जमीन पर आ गया।

समीक्षा—इससे खुदा अल्पज्ञ प्रतीत होता है। अभी बहिश्त में रखा। और पुनः थोड़ी देर में कहा कि बाहर निकलो। इससे भविष्य की बात भी नहीं जानता और वह शैतान को दण्ड देने में भी असमर्थ है। वह वृक्ष किस लिए पैदा किया था ? अपने लिये या दूसरों के लिए ? जो दूसरों के लिए तो फिर रोका क्यों ? आदम खुदा से कितनी बातें सीख के आया ? आदम साहब स्वर्ग से जमीन पर कैसे उतरे ? क्या वह स्वर्ग से पत्थरवत् गिर पड़े ? या पक्षी के समान उड़ कर आये ?

पूर्वपक्ष—जब हमने तुम से प्रतिज्ञा कराई कि न बहाना लहू परस्पर। और किसी अपने को घर से न निकालना। फिर तुमने प्रतिज्ञा की, जिसके तुम स्वयं साक्षी हो। सूरत २ आयत ८४, ८५

समीक्षा—प्रतिज्ञा पालन करना कराना अल्पज्ञों का काम है खुदा का नहीं। जो सर्वज्ञ है वह ऐसी व्यर्थ बातें नहीं करता। आपस का लहू न बहाना, या अपने मत वालों को घर से न निकालना और दूसरे मत वालों का खून बहाना तथा घर से बाहर निकालना कौन सी अच्छी बात है। यह तो मूर्खता और पक्षपात है। क्या परमात्मा पहले नहीं जानता था कि प्रतिज्ञा भंग करेंगे।

पूर्वपक्ष—फरिश्तों, पैगम्बरों, जिब्राईल वा मेकाईल का जो शत्रु है। अल्लाह भी ऐसे काफिरों का शत्रु है।। सूरत २ आयत ९८

समीक्षा—जब मुसलमान कहते हैं कि वह "लाशरीक" अद्वितीय है, तो यह सेना की सेना शरीक कहाँ से आई ? क्या जो औरों का शत्रु है वह खुदा का भी शत्रु है ? ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि वह परमात्मा किसी का शत्रु नहीं।

पूर्वपक्ष—और कहो कि क्षमा मांगते हैं, हम क्षमा करेंगे तुम्हारे पाप, और अधिक भलाई करने वालों के।। सूरत २ आयत १८४

समीक्षा—पाप क्षमा करने की बात सबको पापी बनाने वाली है। पाप क्षमा की बात का उपदेश करने वाला न तो खुदा और न उसकी पुस्तक ही हो सकती है।

पूर्वपक्ष—वह कौन मनुष्य है जो अल्ला को उधार देवे अच्छा, बस अल्लाह दुगना करे उसको उस के वास्ते।। सूरत २ आयत २४५

समीक्षा—खुदा को कर्ज की क्या आवश्यकता ? जो सारे ससार को दे वह कर्ज क्यों ले ? क्या उसका कोष खाली हो गया, या टोटा पड़ गया था जो वह उधार लेने लगा। ये बेसमझी की बात हैं। और एक के बदले दो दो देना ये साहूकारों का काम नहीं, बल्कि दिवालियों, अपव्यय करने वालों या कम आयु वालों का काम है, ईश्वर का नहीं।

पूर्वपक्ष—जो आसमान और पृथिवी पर है। सब उसी के लिए है। उसी की कुरसी ने आसमान और पृथिवी को समालिया है।

समीक्षा—जो कुछ आकाश वा पृथिवी पर पदार्थ हैं। वह जीवों के लिए हैं। अल्लाह के लिये नहीं। क्योंकि वह पूर्णकाम है। उसे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं। जब उसकी कुरसी है तो वह एकदेशी है। जब एकदेशी है तो ईश्वर नहीं, क्योंकि वह व्यापक है।

पैगम्बर

पूर्वपक्ष—कह आज्ञा पालन कर खुदा की और रसूल उस के की ।। और आज्ञा पालन करो रसूल की ताकिदया किये जाओ ।।

मंजल ४। सि १८। सू। २४ आयत ७०।७१

समीक्षा—जब अल्लाह के साथ पैगम्बर की आज्ञापालन आवश्यक है तो खुदा का शरीक हो गया कि नहीं, यदि ऐसी ही बात है तो खुदा को लाशरीक क्यों कहते वा लिखते हो।

पूर्वपक्ष—और अटकी रहो बीच घरों अपने के ।। आज्ञा पालन करो अल्लाह और रसूल की सिवाय इसके नहीं ।। बस जब अदा करली जैदने हाजित उससे व्याह दिया हमने तुक्म से उसको तास्क न होवे ऊपर ईमान वालों के तंगी बीच बीबियों से लेपालको उनके के जब अदा करलें उनसे हाजित और है आज्ञा खुदा की की गई ।। नहीं है ऊपर नबी के कुछ तंगी बीच वस्तु के नहीं है मुहम्मद बाप मर्दों का ।। और हलाल की स्त्री ईमान वाली जो देवे बिना मिहर के जान अपनी वास्ते नबी के ।। ढील देवे तू जिस को चाहे उनमें से और जगह देवे तरफ अपनी जिसको चाहे, नहीं पाप ऊपर तेरे ।। ऐ लोगों जो ईमान लाये हो मत प्रवेश करो घरों में पैगम्बर के ।।

नं० ५। सि० २२। सू० ३३। आयत २७, ३८, ४०। ५०।५१

समीक्षा:—ये बड़े अन्याय की बात है कि स्त्री घर में कैदी के समान रहे और पुरुष खुले रहें! क्या स्त्रियों का चित्त शुद्ध वायु, शुद्ध देश में भ्रमण करना सृष्टि के अनेक पदार्थ देखना नहीं चाहता होगा।

अल्लाह या रसूल की एक अविरुद्ध आज्ञा है या परस्पर विरोधी। यदि एक है तो दोनों की आज्ञा पालन करो कहना व्यर्थ है। और जो भिन्न-भिन्न विरुद्ध है तो एक सच्ची और दूसरी झूठी हुई। अतः एक खुदा और दूसरा शैतान सिद्ध हो जायगा।

जिसे दूसरे का मतलब नष्ट कर अपना मतलब सिद्ध करना हो, वही ऐसी लीला रचता है। फिर ऐसी बातें करने वालों का खुदा भी पक्षपाती बना। और अन्याय को न्याय ठहराया।

कुरान

कुरान के ज्ञान विषय में कई मत हैं। (१) कुरान शबेकद्र में लोहे मक्फूज से जिब्राईल फरिश्ते को एक बार ही दे दिया गया था, उसने उसे लेकर आकाश में रख लिया, और फिर उसे आवश्यकतानुसार थोड़ा-थोड़ा मुहम्मद साहिब पर उतारता रहा, वह ज्ञान २३ वर्ष में पूर्ण हुआ। (२) माहे रमजान में समस्त कुरान एक ही बार पृथिवी पर भेज दिया गया था। (३) यह कहा जाता है। कि जिब्राईल फारिश्ता ईश्वर की वाणी सुनकर हजरत मुहम्मद पर उतारता था, हजरत मुहम्मद साहिब को जिस समय जिस आयत की आवश्यकता होती थी जिब्राईल उसी समय खुदा से लेकर आजाया करता था।

मक्की जो आयतें मक्का में उतरीं, मदनी जो मदीना में उतरीं, सफरी जो समय-समय पर यात्रामें मुहम्मद साहिब पर उतरीं, ये तीन प्रकार की आयतें कुरान में हैं। इनके बारे में मुसलमानों में बड़ा मत भेद है कि मक्की आयतें कौनसी हैं और मदनी वा सफरी कौन सी, मुसलमान विद्वानों का इस विषय में भी मत भेद है कि पहले क्या उतरा और अन्त में क्या ?

वास्तव में सम्पूर्ण कुरान में सिवाय हजरत मुहम्मद साहब की जीवनी के और कुछ नहीं, सारे सिद्धान्त और कथाएँ पारसी, यहूदी और ईसाई मत से ली गई हैं। यथा नमाज विधि पारसी मत से, खतना यहूदी मत से, हज अरब के मूर्ति पूजकों से, और वैदिक यज्ञ के स्थान पर कुर्बाणी अर्थात् पशु बध का प्रचलन प्रारम्भ किया गया है। ईसाईयों के खुदा से कुरान के खुदा में केवल इतनी विशेषता है कि वह चौथे आसमान से सातवें आसमान पर जा विराजा है।

कुरान समीक्षा

पूर्वपक्ष—आरम्भ साथ नाम अल्लाह के,, क्षमा करने वाला दयालु है।

उत्तर पक्ष—मुसलमान ऐसा कहते हैं कि कुरान खुदा की वाणी है। परन्तु इस वचन से प्रतीत होता है कि इसका बनाने वाला कोई और है क्योंकि यदि ईश्वर का बनाया होता तो "आरम्भ साथ नाम अल्लाह के" ऐसा न कहता, परन्तु "आरम्भ वास्ते उपदेश मनुष्यों के" ऐसा कहता यदि मनुष्यों को उपदेश करता है कि ऐसा कहो तो भी ठीक नहीं क्योंकि इससे पाप का आरम्भ खुदा के नाम से होकर उसका नाम दूषित हो जायगा।

पूर्वपक्ष—यह पुस्तक कि जिसमें संदेह नहीं रास्ता दिखाती है परहेजगारों को। सूरत १ आयत १

उत्तर पक्ष—परहेज गार अर्थात् धार्मिक लोग तो स्वत: सच्चे मार्ग पर हैं, और जो झूठे मार्ग पर हैं उनको यह कुरान मार्ग ही नहीं दिखला सकता फिर इसका क्या प्रयोजन या उपयोग है।

पूर्वपक्ष—और वे लोग जो इस किताब पर ईमान लाते हैं और जो तुझ से पहिले उतारी गईं वे छुटकारा पाने वाले हैं॥ सूरत २। आयत ३

समीक्षा—जो बाईबल इञ्जील आदि पर विश्वास करना योग्य है तो मुसलमान इञ्जील आदि कुरान के समान ईमान क्यों नहीं लाते और जो लाते हैं तो कुरान की क्या आवश्यकता। जो कहो कुरान में अधिक बातें हैं। तो क्या पहिली किताब में लिखना खुदा भूल गया था। और जो नहीं भूला तो कुरान का बनाना निष्प्रयोजन है। और देखने से विदित होता है कि बाईबल और कुरान की कोई कोई बातें न मिले तो और बात है वरन् सब मिलती हैं। अत: एक ही पुस्तक वेद के तुल्य क्यों न बनादी।

पूर्वपक्ष—हमने मूसा को किताब और मोजजे दिये। सूरत २ आयत ५३

समीक्षा—यदि मूसा को किताब दी तो कुरान का होना निरर्थक है। क्योंकि परमेश्वर की बात सदा एक और बे भूल होती है। और उसमें परस्पर विरोध भी नहीं होता अत: कुरान ईश्वरीय नहीं।

पूर्वपक्ष—उतारा हमने कुरान को अर्बी भाषा में॥ और प्रयोजन इसका है पैगाम पहुँचना और ऊपर हमारे है हिसाब लेना॥

सूरत १३। आयत ३७, ४०

समीक्षा—कुरान कहाँ से उतारा । क्या खुदा ऊपर रहता है ? यदि यह सत्य है तो वह एकदेशी होने से ईश्वर ही नहीं हो सकता । क्योंकि वह सब स्थानों पर एक रस व्यापक है । पैगाम पहुँचाना हरकारे का काम है और हरकारे की आवश्यकता मनुष्यवत् एकदेशी को होती है व्यापक को नहीं । हिसाब लेना देना भी मनुष्य का काम है ईश्वर का नहीं क्योंकि वह सर्वज्ञ है, इससे निश्चय होता है कि कुरान किसी अल्पज्ञ मनुष्य का बनाया है । ईश्वर का नहीं ।

पूर्वपक्ष—निश्चय हमने उतारा कुरान को बीच रात कद्रके ॥

सूरत ९७ आयत १

समीक्षा—दूसरे स्थान पर माहे रमजान में उतारने का आदेश है दोनों में ठीक बात कौनसी है ।

सार यह है कि जो पुस्तक आदि सृष्टि में न हो (२) जिसमें परस्पर पूर्वपर विरोध हो, (३) जिसमें पक्षपात, लड़ाई, फिसाद फैलाने की बातें हों, (४) जो अपूर्ण हो अर्थात् जिसमें सत्य विद्याओं का अभाव हो, (५) जो सृष्टि नियम और विज्ञान विरुद्ध हो, (६) जिसमें किस्से कहानियाँ हों वह पुस्तक ईश्वरीय नहीं हो सकता अतः कुरान भी ईश्वरीय ज्ञान नहीं ।

जन्नत या स्वर्ग

कुरान में जन्नत या स्वर्ग का बार-बार वर्णन किया गया है । इस विषय में लिखा है कि स्वर्गवासियों के लिये सोने चाँदी की ईंटों वा संगमरमर के मोती जड़े मकान होंगे, पहनने के लिये रेशमी कपड़ों के लिबास, वा चमकते मोतियों के आभूषण होंगे । खाने-पीने के लिये, माँस, शराब, कबाब वाफ लादि होंगे । और मनोरंजन के लिये बड़ी सुन्दर, सदा जवान रहने वाली युवतियाँ (हूरें) और गिलमान अर्थात् लड़के होंगे । और कई प्रकार के राग-रंग होंगे । शहद और दूध की नहरें होंगी । सत्यार्थ-प्रकाश में इस विषय पर निम्नरूप से आलोचना की गई है ।

पूर्वपक्ष—और आनन्द का संदेश दे उन लोगों को कि ईमान लाये और काम किये अच्छे । उनके वास्ते बहिश्तें हैं । जिनके नीचे से चलती हैं नहरें । जब उनमें से भोजन दिये जावेंगे । तब कहेंगे कि वह वो वस्तु हैं जो पहले हमें दी गई थी और उनके लिये पवित्र बीबियाँ सदैव वहाँ रहने वाली हैं ।

मं० १० सि० १ सूर आ० २५

समीक्षा—कुरानी बहिश्त में दुनिया से बढ़कर क्या है ? क्योंकि जो पदार्थ यहाँ हैं वही बहिश्त में हैं, हाँ इतना अन्तर अवश्य हैं कि जैसे यहाँ मनुष्य मरते जन्मते आते जाते हैं वहाँ नहीं । यहाँ की स्त्रियाँ सदा नहीं रहती वहाँ हूरें सदा रहती हैं । फिर जब तक कयामत की रात न आएगी । तब तक बेचारियों के दिन कैसे कटते होंगे । हाँ यदि खुदा की कृपा से तथा उसके आश्रय से दिन काटती होंगी तो ठीक है । मुसलमानों का बहिश्त गोकुलिये, गोसाईयों के गोलोक वा मन्दिर जैसा प्रतीत होता है । क्योंकि वहाँ स्त्रियों का मान्य बहुत और पुरुषों का नहीं । खुदा के घर में स्त्रियों का सम्मान और और प्रेम भी बहुत है, पुरुषों का नहीं । क्योंकि उन्हें खुदा ने सदा के लिये बहिशत में रखा । पुरुषों को नहीं ।

पूर्वपक्ष—कह इससे अच्छी और क्या परहेज गारों को खबर दूँ कि अल्लाह की ओर से बहिशतें हैं जिनमें नहरें चलती हैं उन्हीं में सदैव रहने वाली शुद्ध बीबियां हैं । अल्लाह की प्रसन्नता से अल्लाह उनको देखने वाला है साथ अन्यों के ॥ सूरत ३ आयत १४

समीक्षा—भला यह स्वर्ग है या वेश्यावन ? यह ईश्वर है या स्त्रैण ? जिसमें ऐसी बातें हों वह ईश्वर की पुस्तक नहीं हो सकती । खुदा औरतों का पक्षपाती क्यों है ? औरतें बहिश्त मे सदा क्यों रहती हैं ? जो बीबियाँ बहिश्त में रहती हैं, वे यहाँ उत्पन्न होकर वहाँ गई थीं या वहीं उत्पन्न हुई थीं ? यदि यहाँ से गई हैं तो कयामत की रात से पूर्व ही खुदा ने उन्हें बुला लिया। यदि उन्हें बुलाया तो उनके पतियों को क्यों न बुलाया ? साथ ही कयामत की रात को न्याय होगा, इस नियम को क्यों तोड़ा ? यदि वहीं उत्पन्न हुई थीं तो कयामत तक कैसे निर्वाह करेंगी ? यदि उनके लिये मर्द है तो यहाँ से स्वर्ग में जाने वालों को खुदा हूरें कहाँ से देगा ? और जैसे स्त्रियों को स्वर्ग में सदा रहने वाली बनाया वैसे मर्दों को क्यों न बनाया ? इससे प्रतीत होता है कि मुसलमानों का खुदा अन्यायकारी और बेसमझ है ।

पूर्वपक्ष—ये लोग वास्ते उनके हैं बाग हमेशा रहने के । चलती हैं नीचे उनके से नहरें । गहिना पहराये जावेंगे, बीच उसके कंगन सोने के से, और पोशाक पहनेंगे वस्त्र हरित लाही की और ताफिते से तकिये हैं किये हुए बीच उसके ऊपर तख्तों के अच्छा है पुण्य और अच्छी है बहिशत लाभ उठाने की ॥
मं० ४; सि० १५ सू० १८ आ० ३१

समीक्षा—वाह जी वाह क्या कुरान का बहिश्त है। जिसमें बाग, गहने, कपड़े, गद्दी, तकिये आनन्द के लिये हैं। विचार के देखें कि यहाँ से वहाँ क्या चीज अधिक है। ये केवल अन्याय है कि कर्म सान्त हों और फल अनन्त दिया जावे और जैसे नित्य मीठा खाने से थोड़े दिन में विष के समान प्रतीत होने लगता है। ऐसे ही जब सदा सुख भोगेंगे तो उनको सुख भी दुख रूप हो जायगा इसलिये महाकाल पर्यन्त मुक्ति सुख भोग के पुनर्जन्म पाना ही सत्य सिद्धान्त हैं।

पूर्वपक्ष—ऊपर पलंग सोने क तारों से बुने हुए हैं।। तकिये किये हुए हैं ऊपर उनके आमने सामने।। और फिरेंगे ऊपर उनके लड़के सदा रहने वाले। साथ आवखोरों के और आफतावों के और प्यालों के शराब साफ से। नहीं माथा दुखाये जावेंगे उससे और न विरुद्ध बोलेंगे। और मेवे इस किस्मसे कि पसन्द करें। और गोश्त जानवर पक्षियों के इस किस्म से कि पसन्द करें। और वास्ते उनके औरते हैं अच्छी आँखों वाली। मानिन्द मोतियों छिपाये हुओं की। और बिछौने बड़े। निश्चय हमने उत्पन्न किया है औरतों को एक प्रकार का उत्पन्न करना है। बस किया है हमने उनको कुमारी। सुहाग वालियां, बराबर अवस्था वालियां, बस भरने वाले हो उस से पेटों को।।

सूरत ५६। आयत १५ से २४ तक ३५ से ३७ ५३-७५

समीक्षा—जब वहाँ सोने की तारों से बने हुए पलंग हैं तो बढ़ई सुनार भी वहाँ रहते होंगे? और खटमल भी काटते वा उन्हें सोने नहीं देते होंगे? क्या वे तकिये लगाकर बहिश्त में निकम्मे बैठे रहते हैं वा कुछ काम भी करते हैं? यदि बैठे ही रहते हैं तो अपचन रोग से रोगी भी होते होंगे? और रोगी होने से मरते भी होंगे। और यदि काम करते हैं तो जैसे मेहनत-मजदूरी यहाँ करते हैं वैसे ही वहाँ तो फिर यहाँ से वहाँ बहिश्त में विशेषता क्या हैं? कुछ भी नहीं? (३) यदि वहाँ लड़के सदा रहते हैं तो उनके माँ, बाप, सासु श्वसर भी रहते होंगे। तब तो बड़ा भारी शहर बसता होगा पुनः मल मूत्र के बढ़ने से रोग भी बढ़ते होंगे? (४) जब मेवे खायेंगे, गलासों में पानी पीवेंगे प्यालों से मद्य पीवेंगे, मांस खायेंगे, तो अनेक प्रकार के दुःख, रोग भी होगे पक्षी वा जानवर भी वहाँ होंगे उनकी हत्या से जहाँ तहाँ हाड़चाम आदि भी बिखरे रहेंगे? कसाई की दुकाने भी होंगी? क्या कहने ऐसे बहिश्त के। (५) और

जो मद्य, मांस, घी, खा के उन्मत्त होते हैं इसलिए अच्छी २ स्त्रियां औरलौं ड भी अवश्य चाहियें, नहीं तो ऐसे नशे वाज सिर में गरमी चढ़ने से पागल हो जावें और स्त्री पुरुषों के बैठने के लिए बिस्तरे बिछौने भी जरूर चाहिएँ। (६) जब खुदा हूरें वा गिलमान पैदा करता हैं और हूरें तो यहां से गये उमीद वारों से व्याही जायेंगी। गिल्मानों का क्या बनेगा? क्या वह कुवारे रहेंगे या यहाँ से गई कुवारियों के साथ व्याहे जायेंगे या वह भी हूरों की तरह यहां से गये बहिश्तियों को दे दिये जावेंगे? इसके बारे में कुछ भी नहीं लिखाये खुदा की भारी भूल है। (७) यदि बराबर अवस्था वाली सुहागिन स्त्रियाँ पतियों को पाके बहिपूत में रहती हैं तो भी ठीक नहीं क्योंकि स्त्री पुरुष की आयु दूनी वा ढ़ाई गुनी चाहिये यह तो बहिश्त की कथा है आगे दोजख की सुनिये।

दोजख (नरक)

दोजख या नरक के बारे में मुसलमानों का ऐसा मत है कि वह ऊपर आकाश पर है। उसके सात द्वार हैं। हर द्वार के लिए एक फरिश्ता नियत है। नरक के बड़े अधिकारी का नाम मालिक है। नरक की देख भाल के लिए खुदा ने बड़े भयानक और डरावने फरिश्ते नियुक्त कर रखे हैं। उनके ७० – ७० हजार हाथ और हाथ में सत्तर सत्तर हजार उंगलियाँ हैं। नरक के सब मकान अग्नि के बने हैं। वहाँ कई प्रकार के विषैले, हिंसक जानवर रहते हैं जो नरक वासियों को हर प्रकार का कष्ट वा तकलीफ देते रहते हैं।

पूर्व पक्ष—किया हमने दोजख को वास्ते काफिरों के घेरने वाला स्थान ।।

सूरत २७ आयत १३

यदि काफिर वही हैं कि जो कुरान, पैगम्बर और कुरानोक्त खुदा कौनां माने तथा सातवें आसमान और नमाज आदि को न माने और उन्हीं के लिए दोजख होवे तो यह केवल पक्षपात की बात है। क्योंकि कुरान ही के मानने वाले सब अच्छे और अन्य मतावलम्बी सब बुरे हैं यह कभी नहीं हो सकता। अतः यह लड़कपन की बात है।

पूर्वपक्ष—और जब आवेगा मालिक तेरा और फरिशते पंक्ति बांध के और लाया जावेगा उस दिन दोजख को ।। सूरत ९१ आयत २४, २३०

समीक्षा : जैसे कोई कोटपाल सेनाध्यक्ष अपनी सेना को लेकर पंक्ति बांध कर फिरे वैसा ही खुदा है। क्या दोजख कोई घोड़ा है जिसे जहाँ कोई वह

ले जावे। यदि दोजख इतना छोटा है तो असंख्य कैदी उस में कैसे समा सकेंगे ? इसी प्रकार इस विषय में कई और बातें हैं जो विस्तार भय से छोड़ दी हैं।

हलाल–हराम

पूर्वपक्ष—तुम पर, मुर्दार लहू और गोश्त सूअर का हराम है। और अल्लाह के बिना जिस पर कुछ पढ़ा जावे। सूरत २ आयत १७३

समीक्षा : जानवर चाहे खुद मरे या मारा जावे मरा हुआ मुदार्र बराबर है। यदि इसमें कुछ भेद हो तो भी मृतकपन में कुछ भेद नहीं। यदि केवल सूअर का निषेध है तो क्या इन्सान का मांस खा लिया जावे ? क्या अल्लाह के नाम पर किसी इन्सान या हैवान को दुख देना ठीक हो सकता है ? कभी नहीं इससे प्रभु के नाम पर कलंक लगता है। बिना पूर्व जन्म के कर्मों के मुसलमानों के हाथों जानवरों को दुख देना ठीक नहीं। क्या खुदा उनको पुत्र समान नहीं मानता गाय आदि लाभ दायक पशुओं की हत्या का निषेध न करना खुदा को हिंसक और हानिकारक सिद्ध करता है।

पूर्वपक्ष—तुम पर हराम किया गया मुर्दार, लहू, सूअर का मांस, जिसपर अल्लाह के बिना कुच और पढ़ा जावे, गला घोटे, लाठी मारे, ऊपर से गिरपड़े, सींग मारे और दर्द का खाया हुआ। सूरत ५ आयत ३

समीक्षा : क्या इतने ही पदार्थ हराम हैं, अन्य बहुत से पशु तथा तिर्यक जीव कीड़ी आदि मुसलमानों के लिए हलाल होंगे ? अत: यह मनुष्यों की कल्पना है, ईश्वरीय आदेश नहीं। इसलिए प्रमाण नहीं।

नोट—मुसलमान, बलिष्ठ, हिंसक, विषधारी पशुओं और कीड़े मकोड़ों को हराम और साफ सुथरे, कमजोर, तथा आधीन पशु पक्षियों का खाना हलाल समझते हैं।

अन्य विषय

यथा—कुरान की विज्ञान विरुद्ध बातें, करामात वा चमत्कार, जिहाद, हिजरत, कुरबानी, खतना, कयामत, तोबा वा पापों का क्षमा करना, रोजे—व्रत काफिर वा मूर्तिद का कत्ल, आदि कई विषयों पर सत्यार्थ प्रकाश के चौदहवें समुल्लास में प्रकाश डाला गया है, सत्य के अभिलाषी वहीं पढ़ने का कष्ट करें। विस्तार भय से उपरोक्त वा इन से भिन्न कई बातों की समीक्षा नहीं की गई। पाठक साधारण अंकों में इन पर भविष्य में लेख पायेंगे।

जीवन बनाने वाला साहित्य

आयुर्वेद साहित्य—सचित्र रस शास्त्र १२रु०। आयुर्वेदीय द्रव्य गुण विज्ञान १०), अनुभूत योग चर्चा प्रथम भाग २॥), अनुभूत योग चर्चा द्वितीय भाग ३॥), शरीर क्रिया विज्ञान १२), माधव निदान परीक्षा परिशिष्ट ६), अशोक वैद्य विशारद गाइड (प्रथम भाग ६), अशोक वैद्य विशारद गाइड द्वितीय भाग ८) आयुर्वेद भिषक् गाइड १०)

लघु उद्योग साहित्य—इन पुस्तकों में थोड़ी पूंजी से होने वाले अनेकों उन लाभदायक धन्धों का सविस्तार वर्णन है जिनसे जनता हजारों रुपये कमा रहे हैं। हिन्दी संस्करण पुस्तक की पृष्ठ संख्या ८४८, मूल्य १३), अंग्रेजी तथा मराठी संस्करण १२॥) गुजराती, बँगला, तेलगू, तामील, मलयालम तथा कन्नड भाषाओं के संस्करण का मूल्य १३) है।

धार्मिक, स्त्रीयोपयोगी साहित्य—

स्त्री शिक्षा २॥), बुनाई शिक्षा, ५), पाक भारती ६) सिलाई कटाई शिक्षा ३), आर्य भजन पुष्पांजलि १।), रणभेरी ॥), चीन की शरारत।), नित्य कर्म विधि १५ रु० सैंकडा, सत्यार्थ प्रकाश साधारण २), सत्यार्थ प्रकाश विशेष १३)

प्रत्येक पुस्तक का डाक व्यय पृथक् होगा।

मधुर प्रकाशन

११०४, कूचा हरजसमल, बाजार सीताराम, दिल्ली-६

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के

नए महत्व पूर्ण प्रकाशन

१. Principles of Arya Smaj by Late Shri Chamupati M. A.

प्रचार के लिए अपूर्व भेंट। बढ़िया कागज। उत्तम छपाई। आकर्षक आवरण पृष्ठ संख्या १३२। मूल्य केवल १ रु० २५ नये पैसे मात्र। १० या अधिक प्रतियों के मंगाने पर मूल्य १ रु० प्रति।

२. **नीहारिकावाद और उपनिषद**—स्व० पं० चमूपति एम. ए. लिखित--अत्यन्त प्रभावपूर्ण ट्रैक्ट। जिसमें सृष्टि की उत्पत्ति पर वैदिक दृष्टिकोण विद्वानों की आंखें खोलने वाला है। १८×२२/४ साइज पर पृष्ठ २४। मूल्य २५ नए पैसे, २० रु० सैंकड़ा।

३ **संसार को आर्य समाज का संदेश**—पं० भारतेन्द्र नाथ "साहित्यालंकार" लिखित--यह ट्रैक्ट प्रचार के लिए अत्युपयोगी है। भेंट में देने और वैदिक विचारधारा प्रसार के लिए सवल साधन—२०×३०/१६ बड़ा साइज पृष्ठ २८। मूल्य १० नये पैसे, २५० के २० रु०, ५०० के ३५ रु०, एक हजार के ६० रु०।

४. **कुलियात आर्य मुसाफिर (हिन्दी अनुवाद)**—धर्मवीर पं० लेखराम जी की अमूल्य कृति कुलियात आर्य मुसाफिर पुस्तक का हिन्दी में सभा ने कई वर्षों के परिश्रम तथा काफी व्यय करके छपवाया है। पृष्ठ संख्या ४२५, बढ़िया कागज, आकर्षक टाइटल है। मूल्य लागत मात्र ६ रु० है।

५. **स्वतन्त्रानन्द लेखमाला**—आर्य समाज के लौह पुरुष वीतराग सन्यासी श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी के विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों का संग्रह करके प्रकाशित किया गया है। पृष्ठ संख्या २४० मूल्य केवल १.२५ है।

६. **धर्मवीर पं० लेखराम**—अमर शहीद पं० धर्मवीर लेखराम का जीवन चरित्र अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज द्वारा लिखित पृष्ठ संख्या १२५ बढ़िया कागज, आकर्षक टाइटल मूल्य १) २५ है।

रामचन्द्र जावेद अधिष्ठाता

प्रकाशन विभाग—आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब १५ हनुमान रोड नई दिल्ली

मुद्रक तथा प्रकाशक शिवकुमार शास्त्री के लिए सम्राट् प्रेस दिल्ली से मुद्रित